प्रथम संस्करण

आश्विन संवत् १९९८

सितम्बर सन् १९४१

मुद्रक

श्री गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,

हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग।

कृतज्ञता-प्रकाश

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर जो पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उसी सहायता से सम्मेलन इस सुलभ-साहित्य-माला के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। इस माला में जिन सुन्दर और मनोरम ग्रन्थ-पुष्पों का ग्रन्थन किया जा रहा है, उनकी सुरभि से समस्त हिन्दी-संसार सुवासित हो रहा है। इस माला के द्वारा हिन्दी-साहित्य की जो श्रीवृद्धि हो रही है उसका मुख्य श्रेय स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश को है। उनका यह हिन्दी-प्रेम भारत के अन्य हिन्दी-प्रेमी श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

मन्त्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

निवेदन

हिन्दी साहित्य में राजनीति संबंधी प्रामाणिक और श्रेष्ठ ग्रंथों का अभाव सा ही है। विद्वानों का ध्यान इस ओर कम आकर्षित हुआ है। इस दृष्टि से हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का 'हिन्दू राज्य शास्त्र' ग्रंथ साहित्य में विशेष महत्व रखता है। वाजपेयी जी राजनीति और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान और पंडित हैं। आपने इस पुस्तक में हिन्दू जाति की प्राचीन शासन-नीति के संबंध में अध्यन, मनन और विवेचना के साथ व्यापक प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में हिन्दू जाति की शासन व्यवस्था कितनी गौरवपूर्ण थी, यह इस ग्रंथ के अध्ययन से पूर्ण रूप से प्रगट होता है। वाजपेयी जी ने ऐसा अध्ययन पूर्ण और सुंदर ग्रंथ लिख कर हिन्दी साहित्य की एक विशेष कमी की पूर्ति और उसके एक अंग की पुष्टि की है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक राजनीति के, विशेष कर हिन्दू जाति और देश की प्राचीन राज्य-व्यवस्था और शासन पद्धति के अध्यनशील, पाठकों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। सम्मेलन को ऐसे सुंदर और अध्ययन पूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त हुआ है, यह भी कम गौरव की बात नहीं है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग
आश्विन १० संवत् १९९८

ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल
साहित्य मंत्री

ॐ श्रीगणेशायनमः

भूमिका

परमेश्वरकी कृपासे मेरा वर्षोंका सङ्कल्प आज पूरा हुआ और मुझे पाठकोंके सामने यह ग्रंथ रखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। हिन्दीमें कदाचित् यह अपने ढंगकी पहली ही पुस्तक है, जिसमें हिन्दू राज्यशास्त्रके सभी विषयोंका वर्णन किया गया है। इसमें मौलिकता नहीं है, क्योंकि इधर उधर बिखरी सामग्रीको सजाकर हिन्दी जगत्के सामने रखनेभरका काम मैंने किया है।

इस ग्रंथमें विषयप्रवेशके अतिरिक्त तीन भाग और तीन परिशिष्ट हैं। प्रथम भागमें विद्याओं और कलाओंके विवेचनके सिवा सप्ताङ्ग राज्यका साधारण वर्णन है। परन्तु द्वितीय और तृतीय भागोंमें राज्यके अंगोंके विस्तृत वर्णनके साथ ही कई नवीन विषयोंकी चर्चा की गयी है। प्रथम परिशिष्टमें हिन्दू गौरवके युगकी माप तोल और नाणक आदिका हिसाब है; द्वितीयमें रत्नोंके नाम और परीक्षाएं हैं तथा तृतीयमें सिकन्दरके आक्रमणके समयके तथा उसके आक्रान्त राज्योंका परिचय है। ये परिशिष्ट कोषका काम देंगे।

जिस मसालेसे हिन्दू राज्यशास्त्रकी इमारत खड़ी की गयी है, उसकी सूची अन्यत्र दी गयी है। कहीं किसी ग्रंथका कम और कहीं किसीका विशेष उपयोग किया गया है। परन्तु सबसे अधिक काम कौटिलीय अर्थशास्त्रसे लिया गया है। धर्माधिकरण, कण्टकशोधन, षाड्गुण्य आदि कई प्रकरणके प्रकरण इस ग्रंथरत्नके आधारपर लिखे गये हैं। जहां ऐसा किया गया है, वहां अधिकरण वा अध्याय आदिका हवाला नहीं दिया गया, क्योंकि एक प्रकारसे ज्योंके त्यों सब विषय उद्धृत कर लिये गये हैं। जिन ग्रंथोंकी सहायता से यह पुस्तक लिखी गयी है, उनके प्रणेताओंका मैं हृदयसे आभारी हूं।

इस पुस्तकके प्रणयनमें मेरे दो उद्देश्य हैं। एक तो हिन्दू जातिने दण्डनीति वा राज्यशास्त्रकी उपेक्षासे जो हानि उठायी है, उसे समझकर

वह दण्डनीतिका अध्ययन और प्रयोग करके अपना प्राचीन गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करनेका प्रयत्न करे और दूसरा, वह यह जान ले कि हमारे यहां भी यह शास्त्र वैसा ही साङ्गोपाङ्ग है जैसा पाश्चात्य देशोंमें तथा जो लोग चाहते हैं कि हिन्दू केवल अध्यात्म ज्ञानसे ही अनुराग रखें, वे हमारे देश, जाति और धर्मके शत्रु हैं; क्योंकि राज्यशास्त्र वा मंत्रशक्तिकी उपेक्षाने ही हमें परतंत्र और संसारमें छोटा बना दिया। इस प्रसङ्गमें महाभारत, उद्योग पर्वके इस श्लोकका उद्धरण अस्थान न होगा :—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिपुः मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्टं सराजकम् ॥४७॥ अ० ३३

(अर्थात् धनुर्धरका फेंका हुआ बाण किसी एक मनुष्यको मारे वा न मारे, परन्तु बुद्धिमान् मनुष्यकी चलायी हुई बुद्धि राजासहित राष्ट्रको मार डालती है।) वह दिन भारतके इतिहासमें सोनेका होगा, जब हमारे देशके लोग इस तत्त्वको हृदयङ्गम कर लेंगे।

यदि इस पुस्तकसे देश और जातिके उत्थानमें कुछ भी सहायता पहुंचेगी, तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

कलकत्ता:
गङ्गा दशहरा
सं० १९९८ वि०

अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी

सहायक ग्रन्थोंकी नामावली

ऋग्वेद संहिता, वैदिक यंत्रालय, अजमेर

अथर्ववेद संहिता " "

यजुर्वेद (वाजसनेयी) संहिता, निर्णयसागर यन्त्रालय, बम्बई

ऐतरेय ब्राह्मण, " "

शतपथ ब्राह्मण, जर्मन संस्करण

अग्निपुराण, राजेन्द्रलाल मित्रका संस्करण

महाभारत (बङ्गाक्षर), बङ्गवासी प्रेस, कलकत्ता

वाल्मीकीय रामायण, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई

मनुस्मृति, वणिक् प्रेस, कलकत्ता

कौटिलीय अर्थशास्त्र, मैसूर और लाहोरके संस्करण

कामन्दकीय नीतिसार, गुजराती प्रेस, बम्बई

वैशम्पायनकृत नीतिप्रकाशिका, ओपर्टका संस्करण

नीतिवाक्यामृत, कर्णाटक स्टीम प्रेस, बम्बई

शुक्रनीतिसार, श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई

स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वैदिक यंत्रालय, अजमेर

हीरेन्द्रनाथ दत्तकृत उपनिषत्, (बंगला भाषा) वाणी प्रेस, कलकत्ता

महादेव शास्त्री दिवेकरकृत आर्य संस्कृतीचा उत्कर्षापकर्ष (मराठी), समर्थ भारत छापखाना, पुणे

चिन्तामण विनायक वैद्य कृत महाभारत मीमांसा

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कृत हिन्दुओंकी राजकल्पना इत्यादि

Bandopadhyaya, Narayan Chandra—Development of Hindu Polity and Political Theories.

Bannerjee, Pramathanath —Public Administration in Ancient India.

Sarkar, Benoy Kumar,—The Political Institution and Theories of the Hindus.

Jayaswal, K, P. Hindu Polity.

Law N. N. Studies in Ancient Hindu Polity.

Law, N. N. Aspects of Ancient Indian Polity

Law, B. C. Ksatriya Clans in Buddhist India.

Ray, H. C. Hindu System of Administration

Oppert, Gustav, On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindus.

Mc, Crindle, J. W. Invasion of India by Alexander the Great.

Mc, Crindle, J. W. Ancient India as described by Megasthenes and Arrian.

Fausböll Jatak Stories (Pali)

Rhys Davids Buddhist India

Macdonell and Keith Vedic Index Vol. II

JONES, FRANCISP. Histery of the SINN FEIN MOVEMENT AND THE IRISH REBELLION of 1916

विषय-सूची

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

विषयप्रवेश

हिन्दू समाजमें धर्म्मकी बड़ी महिमा है, इसीलिये उसके प्रत्येक कार्यका धर्मसे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जब धर्मपर आघात होता है और समाज उसकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता, तब जो महापुरुष अपने बाहुबल वा कौशलसे धर्मविघातकोंका दमन कर समाजको पूर्ववत् सुव्यवस्थित करता है, वह अतिमानुष वा साधारण मनुष्योंसे बड़ा समझा जाता है। अव्यवस्थित समाजको सुव्यवस्थित करनेकी जिसमें यह शक्ति होती है, वह ईश्वरकी विभूति माना जाता है। कुछ लोग उसे साक्षात् परमेश्वर ही समझने लगते हैं, क्योंकि जिस कार्यको सब लोग असम्भव समझते हैं, उसे ही वह कर दिखाता है। धीरे धीरे लोग उसे परमेश्वरका अवतार मानने लगते हैं। यही अवतारवादका रहस्य है।

परन्तु नित्य अवतार नहीं हो सकते, इसलिये जिसको लोग राजा बनाते हैं और जो राजा समाजकी व्यवस्था ठीक रखता है, उसमें गड़बड़ी नहीं होने देता और दुर्बलका सबल द्वारा उत्पीड़न रोकता है, वह परमेश्वरका अवतार माना जाने लगता है। इसीसे यह कल्पना बद्धमूल हो गयी है कि राजा परमेश्वरका अवतार होता है। इस प्रकार ईश्वरावतारसे राजाका घनिष्ठ सम्बन्ध धर्मग्रन्थोंमें प्रतिपादित किया गया और राजधर्मका आचरण बड़ा पुण्यकार्य माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्ने अवतारका जो कारण बताया है, उससे स्पष्ट है कि मनुष्योंमें धर्मानुसार आचरण प्रचलित रहनेके लिये दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका संरक्षण परमावश्यक है। इससे धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान नहीं होता।[1]

---

१ यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥ अ० ४

हिन्दू धर्मानुसार मनुष्यमात्रको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गकी प्राप्तिके लिये यत्नशील रहना चाहिये। व्यासजीके मतानुसार धर्मसे अर्थ और कामकी उत्पत्ति होती है।[1] परन्तु विचारपूर्वक देखनेसे जाना जाता है कि धर्मसे ही मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। इसलिये यदि धर्मको ही चतुर्वर्ग कहें तो अत्युक्ति नहीं है। मनुस्मृतिमें धृति, क्षमा दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्मके ये जो दस लक्षण बताये गये हैं, उनसे सदाचार और सद्विद्याका समावेश धर्ममें हो जाता है। जब सदाचार और सद्विद्याको प्राप्ति हो चुकी, तब चतुर्वर्गमें रही क्या गया ?

धर्म शब्द धृ (धारण करना) धातुसे बना है। महाभारत शान्तिपर्वके सत्यानृताध्यायमें भीष्मने युधिष्ठिरसे धर्मकी व्याख्यामें तीन श्लोक कहे हैं। इनकी टीकामें नीलकंठजीने लिखा है कि प्रभव वा अभ्युदय, अहिंसा वा अपीड़न और धारण वा संरक्षण ये तीनों सच या झूठ, मृदु या तीक्ष्ण जिस किसी उपायसे भी हों, वह धर्म कहाता है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो, जिस कामसे अभ्युदय, अपीड़न और संरक्षण होते हों, वह धर्म है।[2] इसी प्रकार जिस कामसे अभ्युदय, अपीड़न और संरक्षणमें बाधा पड़ती हो, वह अधर्म है। इससे हमें पता लग गया कि जिस धर्मके संस्थापनके लिये भगवानका अवतार होता है, उसका स्वरूप क्या है।

साधारण मनुष्य जिन बातोंको धर्म समझते हैं, उनकी गिनती धर्ममें होती है या नहीं और होती है तो कहांतक, इसका विचार यहां हमें नहीं करना है। परन्तु यह बताना आवश्यक है कि प्राचीन ऋषि, महर्षि और आचार्य धर्मकी उक्त व्याख्याका ही समर्थन करते आते हैं। वैशेषिक दर्शनके रचयिता

---

१ धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म्मः किं न सेव्यते। महाभारत

२ प्रभवार्थाय भूतानां धर्मस्य प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ १०॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ ११॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ १२॥ अ० १०९

महर्षि कणादका कहना है कि जिससे अभ्युदय वा लौकिक उन्नति और निःश्रेयस वा पारलौकिक मोक्षप्राप्ति हो, वह धर्म है।[1] यही बात थोड़े हेर फेरसे वर्णाश्रमधर्मके उद्धारक श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने कोई १२०० वर्ष पहले कही थी। उनका मत था कि जो जगत्की स्थितिका कारण हो और प्राणियों की प्रत्यक्ष उन्नति और मोक्षप्राप्तिका हेतु बने, वही धर्म है।[2] जैनाचार्य सोमदेव सूरि उनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि जिस कार्यसे लौकिक उन्नति और पारलौकिक मोक्षप्राप्तिमें बाधा पड़े, वह अधर्म है।[3] इन वचनोंसे सिद्ध है कि धर्म शब्दका प्रयोग चतुर्वर्गके लिये होता था और इसके दो भाग कर दिये गये थे, एक ऐहिक और दूसरा पारत्रिक। ऐहिकमें धर्म, अर्थ और कामका समावेश होता था और पारत्रिकमें मोक्षका। ऐहिक धर्मका दूसरा नाम पुरुषार्थ और मोक्षका परम पुरुषार्थ है।

अहिंसा और धारणका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये समाजमें ऐसे वर्ग वा वर्णकी आवश्यकता हुई, जो पीड़नको बन्द करता हुआ संरक्षण शक्तिका पूरा प्रयोग करे। यह काम क्षत्रियका समझा गया, क्योंकि वह लोगोंके संरक्षणमें कुशल, शूर, दमनशील और पराक्रमी होता है और स्वभावसे ही दुष्टोंको दुष्कर्मोंसे रोकता है।[4] जबतक दुष्टोंका दमन और साधुओंका रक्षण नहीं होता, तबतक धर्मकी ग्लानि बनी रहती है। इसलिये धर्मस्थापन क्षात्रतेज से ही सम्भव है। महाभारतमें क्षात्रधर्मकी जो बड़ी महिमा गायी गयी है, उसका कारण यही है। क्षत्रिय वर्णको बुद्धदेवने भी बहुत बड़ा बताया है, परन्तु महाभारतने तो लिखा है कि आदिदेवसे पहले क्षात्रधर्म ही उत्पन्न हुआ है और इसके बाद अवशिष्ट अंगभूत धर्मोंकी सृष्टि हुई है। ये धर्म अनन्त और नाशवान् हैं और संन्यास धर्म सहित सब धर्म क्षत्रियके अधीन है। इसी धर्ममें सब धर्म प्रविष्ट हैं, इसलिये इसे श्रेष्ठ धर्म कहते हैं। क्षात्रधर्म सब धर्मोंसे

---

१ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। कणाददर्शन

२ जगतःस्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदये निःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मः।

३ अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥ धर्मसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

४ लोकसंरक्षणे दक्षश्शूरो दान्तः पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥४१॥ अ० १, शुक्रनीतिसार

बढ़कर, सनातन तथा मोक्षपर्यन्त सर्वतोमुखी धर्म है।[1] जिस अध्यायमें क्षत्रियोंकी इतनी प्रशंसा की गयी है, उसमें बताया गया है कि प्राचीन कालमें विष्णु भगवानने क्षात्रधर्मानुसार शत्रुओंका नाश कर देवों और ऋषियोंकी रक्षा की थी। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि दुष्टोंके दमन और शिष्टोंके संरक्षणके लिये भगवानके क्षत्रिय शरीर धारण करनेका यही कारण है कि यह कार्य क्षत्रियका है।[2]

देशमें सुव्यवस्था रखना क्षत्रियोंका कर्त्तव्य अवश्य है, परन्तु वह कार्य किसी नेता या मुखियेके अधीन रहकर जब तक नहीं होता, तबतक सुव्यवस्था होनेकी अपेक्षा अव्यवस्था होनेका ही भय अधिक रहता है। इसलिये सब प्रजा जिसे अपना मुखिया बनाती है, वह राजा कहाता है। क्षत्रियोंके राजा होनेका कारण यही है कि उनमें शौर्य, पराक्रम, दमनशीलता तथा संरक्षण शक्ति स्वभावसे ही होती है। लोकमतसे प्रथम निर्वाचित राजा पृथु था और उसने समस्त प्रजाका रंजन किया था, इसीलिये राजा कहलाया था।[3]

महाभारतमें राजधर्मकी प्रशंसामें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है कि सब धर्मोंमें राजधर्म प्रधान है अथवा यों कहिये कि सभी धर्म राजधर्मके आश्रित हैं, क्योंकि इससे सब वर्णोंका प्रतिपालन होता है। राजधर्ममें ही सब त्याग हैं

---

१ क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥ ११ ॥
शेषाः सृष्टाः ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः सप्रस्थानाः क्षात्रधर्मे विशिष्टाः।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद्धर्मं श्रेष्ठमिदं वदन्ति ॥ २२ ॥
सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतो मुखम् ॥२०॥ शान्तिपर्व, अ० ६४

२ वामन और परशुरामको छोड़कर मनुष्य शरीरधारी जितने अवतार हुए हैं, सभी क्षत्रियवंशसम्भूत हैं। परशुरामजी ब्राह्मणवंशमें इसीलिये जन्मे थे कि उस समयके क्षत्रियोंमें कर्त्तव्यज्ञान नहीं था। क्षत्रियोंको सुमार्गपर चलानेके लिये उनसे उच्चतर वर्णमें अवतार लेनेका प्रयोजन था। शत्रुके दमनमें छल और बल दो साधन होते हैं। वामनजीने छलका और परशुरामजीने बलका आश्रय लिया था। "अक्रोधेन जिने क्रोधं असाधुं साधुना जिने" का राजनीतिमें स्थान नहीं है।

३ रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते। शा०, अ० ५९, श्लो० १२५

और त्यागको अग्र्य और प्राचीन धर्म कहते हैं। राजधर्ममें ही सब त्याग देखे गये और राजधर्ममें ही सब दीक्षा कही गयी है। सब विद्याएं राजधर्ममें हैं और सब लोक उसमें समाविष्ट हैं।[1] और भी, इन्द्र मान्धतासे कहते हैं कि मुनिजन त्यागको श्रेष्ठ धर्म कहते हैं और सर्व श्रेष्ठ शरीरका त्याग करनेवाले राजा होते हैं, क्योंकि राजधर्ममें सभी त्याग नित्य होते हैं। इसलिये राजा प्रत्यक्ष त्यागी हैं। इतनेसे ही इन्द्रको संतोष न हुआ, इसलिये प्रसंगके अन्तमें सब धर्मोंकी चर्चा करके उन्होंने कहा कि ये धर्म सब वर्णोंमें लीन हैं और उत्कर्ष प्राप्त करने योग्य हैं। इसलिये क्षत्रियका यह धर्म बड़ा है और मेरे मतसे वीरताके कारण राजधर्म वीरज्येष्ठ और वीरधर्म है। क्षत्रियधर्म और राजधर्मका इतना महत्त्व दिखाकर महाभारतने राजाको सर्वलोकगुरु कहा है और बताया है कि जो उसकी अवज्ञा करता है, उसके दान, यज्ञ और श्राद्ध सफल नहीं होते। मनुष्योंके सनातन अधिपति देवभूत धर्माचारी राजाका देवता भी अपमान नहीं करते तथा राजाको मनुष्य समझकर कभी उसका अपमान न करना चाहिये, क्योंकि वह नर-शरीरधारी ईश्वर है। इसी प्रकार मनुस्मृति भी कहती है कि राजा बालक भी हो तो मनुष्य समझकर उसकी अव-

---

१ सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥ २७॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥२९॥ शा०,अ०, ६३

२ त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति, सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः।
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे, प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव॥ ३॥
एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना उत्कृष्टाख्याः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीरज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे॥ १२॥
सर्वलोकगुरुञ्चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित्॥२८॥
मनुष्याणामधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवापि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम्॥२९॥ शान्तिपर्व, अ० ६५
न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ ४०॥ शा० प०, अ० ६८

मानना न करनी चाहिये, क्योंकि वह मानव शरीरधारी ईश्वर है ।[1] राजामें ईश्वरत्व इसीलिये है कि वह परमेश्वरका कार्य करता है और जबतक राजा परमेश्वरका कार्य—दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका संरक्षण करता रहता है, तबतक धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान नहीं होता और परमेश्वरको अवतार लेनेका प्रयोजन भी नहीं रहता ।

अब यह प्रश्न सामने आता है कि राजाको परमेश्वरका कार्य करनेका साधन क्या है । इसका सबने एक स्वरसे उत्तर दिया है 'दण्ड' । कोई कहता है कि लोगोंको असदाचारसे निवृत्त करनेके लिये जो दमन है, उसका नाम दण्ड है और जिससे दमन किया जाता है, वह भी दण्ड कहाता है ।[2] और कोई कहता है कि दण्ड ही शासक है और सब प्रजा हैं, तथा जब सब सोते हैं, तब दण्ड ही अकेला जागता रहता है ।[3] दण्डमें कितनी सामर्थ्य है इस विषयमें कौटिल्यने कहा है कि जब राजा पक्षपातरहित दोषके अनुसार अपने पुत्र या शत्रुपर दण्ड चलाता है, तब वह दण्ड इस लोक और परलोककी रक्षा करता है ।[4] आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ताकी उन्नति और कुशलका साधक दण्ड है । भली भांति सोच विचारकर जब दण्ड दिया जाता है, तब वह प्रजाको धार्मिक बनाता और उसे अर्थ तथा कामकी प्राप्तिमें लगाता है, परन्तु जब बेढंगेपनसे अथवा काम, क्रोध वा अज्ञानसे दण्ड दिया जाता है, तब वानप्रस्थों और संन्यासियोंमें भी क्रोध उत्पन्न करता है, गृहस्थोंकी तो बात ही क्या है ? जब दण्डका उपयोग नहीं किया जाता, तब बलवान् दुर्बलोंको सताते हैं, जैसे दण्डधरके अभावमें छोटी मछलीको बड़ी मछली खा जाती

---

१ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥ अ० ७

२ निवृत्तिरसदाचाराद्दमनं दण्डतश्च तत् ।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः ॥४१॥ शुक्रनीतिसार, अ० ४

३ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥ मनु०, अ० ७

४ दण्डो हि केवलं लोकं परं चेमं च रक्षति ।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥४४॥ अर्थ०, अधि० ३, अ०

है।[1] दण्ड समाजको सुव्यवस्थित रखनेका साधन तो है, परन्तु हरकोई उसका ठीक ठीक प्रयोग नहीं कर सकता। उसके प्रयोग करनेकी शिक्षाका प्रयोजन होता है। जिस शास्त्रके अध्ययनसे यह योग्यता प्राप्त होती है, उसे दण्डनीति कहते हैं। दम दण्ड कहाता है, इसलिये राजा दण्डरूप है और उसकी नीति दण्डनीति है। नयके कारण इसे नीति कहते हैं।[2] जिस मानुषकर्मसे योग-क्षेमकी सिद्धि होती है, वह नय कहाता है।[3] अप्राप्त धनादिका सम्पादन योग और प्राप्तका रक्षण क्षेम हैं तथा योग सहित क्षेम योगक्षेम है।[4] महा भारतका कहना है कि दण्डनीतिका सुप्रयोग चातुर्वर्ण्यको अपने अपने कार्यका अवलम्बी बनाता और अधर्मसे निवृत्त करता है। इससे चारों वर्ण अपने अपने कर्म करते हैं और मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते तथा प्रजा सुखस्वच्छन्दतासे निर्भय रहती है।[5]

अब स्पष्ट हो गया कि धर्मकी जिस ग्लानि और अधर्मके जिस अभ्युत्थान को नष्ट करनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है, उसका कारण मात्स्यन्याय है, जिसमें दण्डधरके अभावसे सबल निर्बलको खाते हैं। जो दण्डका सुप्रयोग करके इस अवस्थाको दूर करता है, वह परमेश्वरका अवतार समझा जाता

---

१ आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः।...... सुविज्ञात-प्रणीतो हि दण्डः प्रजान् धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्या-मज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानामपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्? अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभ.वे॥ अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० ४

२ दमो दण्ड इति ख्यातस्तस्माद्दण्डो महीपतिः।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते॥१५६॥ शु० सा०, अ० १

३ दृष्टकारितं मानुषं तस्मिन्योगक्षेमनिष्पत्तिर्नयः। विपत्तिरपनयः।
अर्थशास्त्र, अधि० ६, अ० २

४ अप्राप्तस्य धनादेः सम्पादनं योगः प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। योगसहितक्षेमो योगक्षेमः।

५ दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यो चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति॥७६॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतो भये॥७७॥ शा०, अ० ७०

है। दण्डनीतिके अनुसार जो राजा आचरण करता था, वह ईश्वरांश समझा जाता था। इसीलिये राजाओंको परमेश्वरका अंश माननेकी परम्परा चल पड़ी। दण्डनीति राजाका कर्त्तव्याकर्त्तव्य-शास्त्र हुआ। राजाके लिये तो इसका ज्ञान आवश्यक है ही, परन्तु जो धर्मपथपर चलना और दूसरोंको चलाना चाहते हैं, उनके लिये भी इसके ज्ञानकी परमावश्यकता है।

यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये और वह यह है कि राजा क्रम और विक्रमसे होते हैं अर्थात् कोई राज्यके उत्तराधिकारी रूपसे राजा होते हैं, तो कोई अपने पराक्रमसे भी राज्याधिकार प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये क्षत्रियोंका ही राजा होना अनिवार्य न था। इस कारण क्षत्रिय राजा तो राजन्य कहलाते थे, पर अन्य वर्णोंके राजा राजा कहाते थे। राजन्य क्षत्रियका पर्यायवाची शब्द था और वेदोंमें[१] भी क्षत्रिय अर्थमें आया है। अमरकोशमें राजक और राजन्यक क्रमसे राजाओं और क्षत्रियोंके गण बताये गये हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि क्षत्रियोंके अतिरिक्त क्षत्रियेतर राजा अमरसिंहके समयमें भी होते थे। यही नहीं, कुमारिल भट्टका भी कहना है कि जब चारों वर्ण राज्य करते दिखाई देते हों, तब क्षत्रियको ही कैसे राजा कह सकते हैं?[३] शबरने अपने भाष्यमें जो यह लिखा है कि दाक्षिणात्य—आन्ध्रमें राज्य पदारूढ़को ही नहीं, सामान्य क्षत्रियको भी राजा कहते हैं, उससे यही जाना जाता है कि क्षत्रियोंका ही राजा होना निश्चित समझकर सामान्य क्षत्रियको भी लोग राजा कहने लगते थे। परन्तु हर्षके समयमें क्षत्रियेतर भी राजा थे, जैसे उज्जैन, महेश्वरपुर और चिचिटीके राजा ब्राह्मण थे और सिन्धका राजा शूद्र था। इसीलिये दण्डनीति वा राजनीति राज्यनीति थी, क्षत्रियोंकी ही हस्तपुस्तिका नहीं। परन्तु क्षत्रिय राजा अधिक होते थे, इसलिये क्षत्रिय शब्द राजा शब्दका पर्यायवाची समझा जाने लगा।

---

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥शु० यजुर्वेद, अ० ३१
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय च ॥ शु० यजुर्वेद, २६।२

२ अथ राजकम्। राजन्यकं च ॥ नृपक्षत्रियाणां गणो क्रमात्।

३ तत्र राज्यमविशेषण चत्वारोऽपिवर्णाः कुर्वाणा दृश्यन्ते।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि धर्मका नियामक तो धर्मशास्त्र है, यह दण्डनीति अथवा राज्यशास्त्र वा नीतिशास्त्र उसका अधिकारी कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि निःसन्देह धर्मशास्त्र व्यावहारिक शास्त्र है और कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश देता है; धर्म और व्यवहारका विवेचन नीतिशास्त्रके समान ही धर्मशास्त्रमें भी है; दुर्व्यसनियों और दुराचारियोंके दण्ड तथा कारीगरों, कर्मचारियों और व्यापारियोंके रक्षणावेक्षणकी व्यवस्था दोनोंमें है। परन्तु फिर भी दोनोंमें महदन्तर है। पहले तो धर्मशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र और नीतिशास्त्र क्षत्रियशास्त्र है अर्थात् धर्मशास्त्र केवल विधिनिषेधका उपदेशक है, परन्तु नीतिशास्त्र बलपूर्वक अन्यायको रोकनेके साधनोंका उपयोग करता है। दूसरे, धर्मशास्त्र शान्तिके समय काममें लाया जा सकता है, परन्तु नीतिशास्त्र सब समय काम करता है। धर्मशास्त्र व्यवस्थित राज्य वा समाजके अधीन रहता है, परन्तु नीतिशास्त्र वा दण्डनीति अव्यवस्थित समाज वा राज्यको सुव्यवस्थित करनेमें समर्थ है। मनुस्मृतिमें दण्ड धर्मका प्रतिभू या जामिन बताया गया है। कोई किसीका प्रतिभू तभी हो सकता है, जब उससे अधिक सामर्थ्यवान् हो। दण्डनीति धर्मशास्त्रसे अधिक शक्तिसम्पन्न है, क्योंकि धर्मशास्त्र विचारा हेगकी अन्तरराष्ट्रीय पंचायत अथवा जेनेवाके राष्ट्रसंघकी[1] भांति अपनी आज्ञाओंका पालन करानेमें समर्थ नहीं है। तीसरे, शस्त्र और शास्त्रमें जितना सम्बन्ध है, उतना ही दण्डनीति और धर्मशास्त्रमें भी है। कहा भी है कि शस्त्रविद्या स्वभावसे ही सब विद्याओंसे बड़ी है, क्योंकि शस्त्रसे राष्ट्रके रक्षित होनेपर ही शास्त्रोंका पढ़ना पढ़ाना होता है।[2]

---

१ पाश्चात्य राष्ट्रोंने अन्तरराष्ट्रीय झगड़े निपटानेके लिये हालैंडकी राजधानी हेगमें पंचायत स्थापित कर रखी थी। यह छोटे छोटे बहुत मामूली झगड़े ही तय कर सकी, १९१४ का महायुद्ध रोकनेमें असमर्थ रही। ऐसी ही दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था राष्ट्रसंघ स्वीजर्लैंडके जेनेवा नगरमें वर्साईकी तथोक्त सन्धिके बाद युद्ध रोकनेके लिये बनी, पर यह भी निकम्मी निकली। व्यवहारमें दोनो ही क्लीब सिद्ध हुई हैं, क्योंकि दोषीको दण्ड नहीं दे सकतीं।

२ शस्त्रविद्या स्वभावेन सर्वाभ्योऽस्ति महीयसी ।
शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्त्तते ॥

धर्मसे दण्ड वा बलकी श्रेष्ठता महाभारतने भी मानी है। उसमें कहा गया है कि अति धर्मसे हम बलकी उत्पत्ति मानते हैं, क्योंकि धर्मसे बलका प्रवर्त्तन होता है। जिस प्रकार पृथ्वीपर चर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार बलमें धर्म प्रतिष्ठित है। जैसे वायुके वशमें धुआं रहता है, वैसे ही बलके पीछे धर्म चलता है। जैसे लताका आश्रय वृक्ष होता है, वैसे ही प्रभुहीन धर्मका आश्रय बल है।[१] इसीलिये कहा गया है कि जब दण्डनीतिकी उपेक्षा होती है, तब वेदत्रयी तथा सब धर्म चाहे जितने ही उन्नत क्यों न हों, नष्ट हो जाते हैं।

अबतक जो कुछ लिखा गया है, उससे पूर्णरूपसे दण्डनीतिका महत्त्व प्रमाणित हो गया। हिन्दुओंने दण्डनीतिकी बड़ी उपेक्षा की, जिसका फल उन्हें हाथों हाथ मिल गया। कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रके अन्तमें बहुत ही ठीक कहा है कि इस शास्त्रके ज्ञानसे मनुष्य केवल धर्म, अर्थ और कामका प्रवर्त्तन और रक्षण ही नहीं कर सकता, वरञ्च अधर्म और अप्रिय कार्य बन्द भी करा सकता है।[२] इसका अभिप्राय यह है कि राजा यदि दण्डनीतिका अध्ययन करे और उसके अनुसार चले, तो वह धार्मिक राजा होकर धर्मार्थ कामका प्रवर्त्तन और रक्षण कर सकता है और यदि प्रजा उसका अध्ययन करे, तो राजा द्वारा अधर्म और अप्रिय कार्य न होने पावे और दोनों धर्मपूर्वक चलकर सच्चे भगवद्भक्त बन जायं, क्योंकि फिर भगवान्को धर्मसंस्थापनार्थ अवतार लेनेका कष्ट न उठाना पड़े। कौटिल्यने स्वयं नन्दोंसे पृथ्वी, शास्त्रों और शस्त्रोंका उद्धार किया था, जिससे साधुओंकी रक्षा और असाधुओंका दमन हुआ। इसी गुणके कारण कामन्दकने अपने नीतिसारके आरम्भमें कौटिल्य विष्णुगुप्तको ब्रह्मस्वरूप कहकर उनकी वन्दना की है।

दण्डनीतिका आदि ग्रन्थ कमलयोनि ब्रह्मदेवकृत नीतिशास्त्र बताया जाता है। जिस समय पृथ्वीपर अव्यवस्था होनेसे देवताओंने ब्रह्मासे पुकार मचायी

---

१ अतिधर्माद्बलं मन्ये बलाद्धर्मः प्रवर्त्तते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥
धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्त्तते ।
अनीश्वरे बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता ॥ ७ ॥ शा०, अ० १३४

२ धर्मार्थं च कामं च प्रवर्त्तयति पाति च ।
अधर्मानर्थविद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च ॥७१॥ अधि० १५, अ० १

थी कि यज्ञयागादि बन्द हो गये और वेद लुप्त हो गये तथा मर्त्यलोकके मनुष्योंकी नाईं हमारी भी कहीं पूछ नहीं होती, इसलिये हमारी रक्षा कीजिये, उस समय उनको अभय देकर चतुराननने सामाजिक व्यवस्था ठीक करनेके लिये एक लाख अध्यायोंका नीतिशास्त्र बनाया। इसमें धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग तथा चतुर्थ वर्ग मोक्ष और इसके त्रिवर्ग-सत्व, रज और तमका वर्णन किया। साथ ही दण्डज त्रिवर्ग—स्थान, वृद्धि और क्षय तथा नीतिज षड्वर्ग—चित्त, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायके सिवा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओं और इनके अवान्तर विषयोंका व्याख्यान किया।

ब्रह्माका यह नीतिशास्त्र मनुष्यकी आयुके देखते बहुत बड़ा था, इसलिये विशालाक्ष महेश्वरने इसे दस हजार अध्यायोंमें संक्षिप्त किया। महादेव दूरदर्शी थे, इसलिये विशालाक्ष कहाये और उनके इस ग्रन्थका नाम वैशालाक्ष पड़ा। अनन्तर इन्द्रने इसका सार निकालकर पांच हजार अध्यायोंमें रख दिया, इसलिये यह इन्द्रकृत ग्रन्थ बाहुदन्तक प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि इन्द्रका एक नाम बाहुदन्तीपुत्र भी है। फिर बृहस्पतिने इसे भी संक्षिप्त किया, तो इस संक्षिप्त संस्करणका नाम बार्हस्पत्य हुआ। इसके उपरान्त दैत्यगुरु शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोंमें इसका सारांश निकालकर रखा और इस प्रकार यह शुक्रनीति प्रसिद्ध हुआ। महाभारत शान्तिपर्वके ५८ वें अध्यायमें राज्यशास्त्र प्रणेताओं वा दण्डनीतिके आचार्योंकी जो नामावली दी हुई है, उसमें विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति और शुक्रके सिवा प्रचेतस् मनु, भरद्वाज, और गौरशिरा मुनि ये तीन नाम और पाये जाते हैं।

परन्तु बम्बईके गुजराती प्रेससे जो कामन्दकीय नीतिसार गुजराती टीकासहित प्रकाशित हुआ है, उसमें किसी पुराणसे उद्धृत वचनोंके अनुसार ब्रह्माने एक लाख अध्यायका नीतिशास्त्र रचा और उसे नारद, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर और मनु तथा अन्य महर्षियोंने संक्षिप्त किया। फिर लोगोंकी आयुका ह्रास देखकर राजाओंकी कार्यसिद्धिके लिये विष्णुगुप्तने इसका संक्षिप्त संस्करण किया।[1] परन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्रसे जाना

---

१ ब्रह्माध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजं।
तन्नारदेन शक्रेण गुरुणा भार्गवेण च॥

जाता है कि इनके सिवा और भी कई आचार्य हो चुके हैं। महाभारतकी नामावली और उल्लिखित नामावलीमें नारद और भीष्म दो ही नामोंका अन्तर है। नारदका नाम दण्डनीतिके आचार्यों में केवल नीतिवाक्यामृतकी टीकामें मिलता है, परन्तु उसमें इनके सिवा अत्रि, अंगिरा, ऋषिपुत्रक, कर्णिक, राजपुत्र, कौशिक, गर्ग, गौतम, जैमिनि, देवल, याज्ञवल्क्य, भागुरि, वशिष्ठ, हारीत, वादरायण, विदुर, चारायण, रैभ्य, वराहमिहिर, वल्लभदेव और शौनक प्रभृति और भी कितने ही आचार्योंके वचन उद्धृत देखे जाते हैं। इनमें अधिकतर तो स्मृतिकार हैं और जान पड़ता है कि बहुतसे वचनोंके अवतरण स्मृतियोंसे ही लिये गये हैं। भीष्मका नाम आचार्यों में इसीलिये आया है कि शान्तिपर्वमें राजधर्मका वर्णन इन्होंने किया है।[1]

दण्डनीतिके ग्रन्थोंमें न तो ब्रह्माका नीतिशास्त्र मिलता है और न विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति और शुक्रके ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। बृहस्पतिके बार्हस्पत्य शास्त्रके बदले, कुछ सूत्र "बार्हस्पत्य" नामसे प्रकाशित किये गये हैं। ये कहांसे मिले इस विषयमें इसके अनुवादक लाला कन्नोमलने एक अक्षर भी नहीं लिखा और लोगोंका भ्रम बढ़ानेके लिये अथवा स्वयं भ्रान्त होनेके कारण इस 'बार्हस्पत्य' सूत्र को बार्हस्पत्य नीतिशास्त्र सिद्ध करनेकी चेष्टा की। इस बार्हस्पत्य सूत्रमें केवल ६ अध्याय और कुल ४३० सूत्र हैं। सूत्र केवल २२ पृष्ठोंमें हैं; परन्तु अनुवादक महाशयने अनुवाद तथा कुछ और मसाला मिला कर इस पुस्तकको १०५ पृष्ठोंतक पहुंचा दिया है। लण्डन इण्डिया आफिसके पुस्तकालयके डा० एफ० डबल्यू० टामसके हाथ कहींसे "बृहस्पति सूत्र" की एक प्रति पड़ गयी थी, जिसे उन्होंने सम्पादित और भाषान्तरित किया था।

भारद्वाजविशालाक्षभीष्मपाराशरैस्तथा।
संक्षिप्तं मनुना चैव तथा चान्यैर्महर्षिभिः॥
प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय च महात्मना।
संक्षिप्तं विष्णुगुप्तेन नृपाणामर्थसिद्धये॥

[1] डा० काशीप्रसाद जायसवालने "हिन्दू पालिटी" ग्रन्थमें लिखा है कि गौरशिराका उल्लेख प्राचीन लेखकोंके वर्गमें हुआ है। सम्भव है कि भरद्वाजके समकालीन हों। जायसवालजीका कहना है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।१२।१६ में राजनीतिके एक आचार्य आदित्यका भी उल्लेख है।

डा० टामसका संस्करण हमारे पास नहीं है, परन्तु लाला कन्नोमलकी पुस्तक उसीका रूपान्तर जान पड़ती है। खेद है कि लाला साहबने इस विषयकी कोई चर्चा नहीं की है। जो हो, बार्हस्पत्य नामकी पोथी चाहे कुछ पुरानी ही क्यों न हो, पर यह निर्विवाद है कि यह बार्हस्पत्य शास्त्र नहीं है। एक तो महाभारतके अनुसार इसमें तीन हजार अध्याय होने चाहिये, पर इसमें छः ही हैं और दूसरे वह पद्यमें चाहिये और यह गद्यमें है। तीसरे सोमदेव सूरिके नीतिवाक्यामृतके टीकाकारने बृहस्पति और शुक्रके जो वचन उद्धृत किये हैं, वे पद्यमें हैं, गद्यमें नहीं। इससे स्पष्ट है कि यह बृहस्पतिकृत नीतिशास्त्र नहीं है।

यही बात शुक्रनीतिके विषयमें भी कही जा सकती है। इस नामकी जो पुस्तक मिलती है, वह शुक्रनीतिसार है, शुक्रनीति नहीं। इससे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि किसीने शुक्रनीतिका यह सार निकाला है। और भी, महाभारतके अनुसार शुक्रनीति हजार अध्यायोंका ग्रन्थ होना चाहिये और इसमें कुल चार ही अध्याय हैं। इसके सिवा इसमें चार विद्याएँ मानी गयी हैं, पर कौटिल्यका कहना है कि शुक्रके मतसे विद्या एक ही है और वह दण्डनीति है। फिर सोमदेव सूरिके ग्रन्थमें उद्धृत श्लोकोंमें कोई इस पुस्तकके श्लोकोंसे नहीं मिलता। शुक्रनीतिसारकी हमारी पुस्तकमें २४५४ श्लोक हैं। परन्तु चौथे अध्यायके १२४१वें श्लोकमें बताया गया है कि इसमें २२०० ही श्लोक हैं।[1] इससे यह निश्चय होता है कि पीछेसे किसीने २५४ श्लोक इसमें मिला दिये हैं जिनमें बहुतसे कामन्दकीय नीतिसारके हैं। परन्तु नीतिवाक्यामृतके टीकाकारने शुक्रादि आचार्योंके जो श्लोक दिये हैं, उनके विषयमें भी निश्चित रूपसे कहना कठिन है कि वे उन्हीके हैं या नहीं। बृहस्पति और शुक्र कौटिल्यसे पहलेके हैं इसमें तो कोई विवाद ही नहीं है क्योंकि अर्थशास्त्रके प्रारम्भमें कौटिल्यने 'ॐ श्रीगणेशाय नमः' के बदले 'ॐ नमश्शुक्रबृहस्पतिभ्याम्' लिखा है। परन्तु नीतिवाक्यामृतकी टीकामें उद्धृत 'महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः। एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृहलो यथा॥'

---

१ मन्वाद्यैराहृतो योऽर्थस्तदर्थो भार्गवेण वै।
द्वाविंशतिशतश्लोका नीतिसारे प्रकीर्त्तिताः॥
अर्थात् जिसे मनु आदिने अर्थ कहा है, उसीको शुक्रने भी अर्थ माना है। इस नीतिसारमें २२०० श्लोक कहे गये हैं।

श्लोक सन्देह उत्पन्न करता है, क्योंकि शुक्रके समय तो वृषल चन्द्रगुप्तका कहीं पता ही न था, उसका उल्लेख वे कैसे कर सकते थे ? इसलिये कमसे कम यह श्लोक तो किसी प्रकार शुक्रका नहीं हो सकता।

इस समय उक्त बृहस्पति सूत्र तथा शुक्रनीतिसारके अतिरिक्त चाणक्य-सूत्र, चाणक्यनीति, विदुरनीति, विष्णुशर्माकृत पंचतंत्र और नारायण पण्डित कृत उसका रूपान्तर हितोपदेश, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिप्रकाशिका, भर्तृहरि नीतिशतक तथा नीतिवाक्यामृत ही प्राप्य हैं। प्रो० जालीने जिन अर्हे नीतिका उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्रकी अपनी भूमिकामें किया है, उसमें राजनीतिकी अपेक्षा व्यवहार और दायभागकी ही चर्चा अधिक है। चाणक्यनीति और विदुरनीतिकी पुस्तकोंमें व्यावहारिक नीति बहुत है और उनके श्लोक बच्चोंको कंठ करा देनेसे बड़ा लाभ होता है, परन्तु वे दण्डनीतिके शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं हैं। इसी प्रकार हितोपदेश भी बड़े कामकी पोथी है और इसे अच्छी तरह समझ कर याद रखनेवाला कभी धोखा नहीं खा सकता। और पंचतंत्रका तो कहना ही क्या है ? परन्तु फिर भी उसे हम शास्त्रका नाम नहीं दे सकते। इससे हम उसका महत्त्व कम नहीं करते। वह विश्वसाहित्यका समुज्ज्वल रत्न है। भारतको जगद्गुरु बनानेमें पंचतंत्रका कितना हाथ है यह जानकर किस हिन्दूका मस्तक ऊँचा नहीं हो जाता ?

पंचतंत्रकी कहानियां भारत और पड़ोसी देशोंकी सीमाओंका उल्लंघन करके सारे संसारको राजनीति सिखानेमें समर्थ हुई हैं। यूरोप और एशियाके राष्ट्रोंमें ही नहीं, अफ्रिकाके सोमाली और स्वाहाली लोगोंमें भी उनका प्रचार है। सन् १८५९ ईस्वीमें प्रोफेसर बेनफीने पंचतंत्रका जो जर्मन भाषान्तर प्रकाशित किया था, उसमें उसके प्रसारका इतिहास बताया था। इसके अनुसार ईस्वी छठी शताब्दीमें पंचतंत्रकी कीर्त्तिकौमुदी ईरानमें फैली, क्योंकि पश्चिमोत्तर भारतमें इसका जो संस्करण प्रचलित था, ईरानके शाह खुसरो नौशेरवांने उसका भाषान्तर हकीम बरजोएसे पहलवी भाषामें कराया था। नौशेरवांका शासनकाल सन ५३१ से ५७९ तक था। पंचतंत्रका यह पहलवी संस्करण अब अप्राप्य है। परन्तु इसका उल्था शाम और अरबकी भाषाओंमें हो चुका था। ५७० ईस्वीमें शामके ईसाई महन्त बडने पहलवी पंचतंत्रका जो अनुवाद प्रकाशित किया था, उसका नाम "कालीलग और दमनग"

रखा था। यह भी पूरा पूरा नहीं मिलता। परन्तु सन् ७५० ईस्वीमें अब्दुल्ला इब्न-उल्-मुक़फ़्फ़ाने पहलवीसे तर्जुमा कर उसका नाम "कलीला और दिमना" रखा। "कलीला और दिमना" उर्फ़ "कालीलग और दमनग" पंचतंत्रके करटक और दमनक नामोंके रूपान्तर हैं। ये उन स्यारोंके नाम हैं, जिनका पंचतंत्रके "मित्रलाभ" प्रकरणमें उल्लेख है। इस अरबी पंचतंत्रका ही भाषान्तर यूरोप और एशियाकी इतनी भाषाओंमें हुआ है कि उसके जर्मन भाषान्तरकार उल्फका कहना है कि बाइबिलके बाद इसी पुस्तकका बहुत अधिक भाषाओंमें उल्था हुआ है।[1] ईस्वी ११ वीं शताब्दीमें इसका अनुवाद ग्रीक या यवन या यूनानी भाषामें हुआ और इससे इटालियन, लैटिन, जर्मन और स्लैवोनिक[2] भाषाओंमें कर लिया गया। ईस्वी १२वीं शताब्दीमें रब्बी जोएलने हिब्रू (इब्रानी) भाषामें और सन् १२६६ से १२७८ ईस्वीके बीच ईसाई मत अङ्गीकार करनेवाले कपुआके यहूदी जान वा यहुन्नाने हिब्रूसे लैटिनमें इसका उल्था किया। इस लैटिन भाषान्तरका ही अनुवाद जर्मन भाषामें है।

राज्यशास्त्रके जो ग्रन्थ इस समय प्राप्य हैं, उनमें नीतिप्रकाशिका और कौटिलीय अर्थशास्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं। नीतिप्रकाशिकाके रचयिता कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासके शिष्य वैशम्पायन बताये जाते हैं, जिन्होंने वेदोंका संस्करण करनेमें व्यासजीको सहायता ही नहीं दी थी, प्रत्युत स्वयं यजुर्वेदका सम्पादन भी किया था। वैशम्पायनने तक्षशिलामें पारीक्षित जनमेजयको धनुर्वेदका उपदेश दिया था, शस्त्रास्त्रोंका चमत्कार बतलाया था और राज्यकी व्यवस्था समझायी थी। इसके पहले पाँच अध्यायोंमें धनुर्वेद और शस्त्रास्त्रोंका, छठे और सातवेंमें सेनाके विभाग तथा संगठनका और आठवेंमें विविध विषयोंका वर्णन है, जिनमें राजाके अधिकारों और प्रजाके कर्त्तव्योंका भी समावेश है।

---

१ बाइबिलसे इसके अनुवादमें यह विशेषता है कि इसका उल्था ज्ञानलाभके लिये और देशवालोंने अपनी ओरसे किया था, पर बाइबिलके उल्थे विभिन्न देशोंकी भाषाओंमें ईसाइयोंने स्वमत प्रचारार्थ निज व्ययसे कराये थे।

२ वर्त्तमान जूगोस्लैविया और रूसकी भाषाएं स्लैवोनिक वर्गमें रखी जाती है।

यह बहुत ही छोटी पोथी है और अधिकसे अधिक धनुर्वेदकी हस्तपुस्तिका कही जा सकती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र ही राज्यशास्त्र कहानेका अधिकारी है। इसीके आधारपर कामन्दकने अपने 'नीतिसार' और सोमदेव सूरिने अपने 'नीति वाक्यामृत' की रचना की है। कामन्दकने तो अपने ग्रन्थके आरम्भके कई श्लोकोंमें कौटिल्यका ऋण भी स्वीकार किया है। कहा है 'जिसने प्रतिग्रह (दान) न लेनेवाले विशाल वंशमें जन्म लिया और ऋषियोंकी भांति पृथिवीपर विख्यात हुआ, जो अग्निके समान कान्तिवाला था और जिसने एक वेदके समान चारों वेद पढ़े थे, जो जलती हुई आगके समान तेजस्वी था और जिसके अभिचार[1] रूपी वज्रद्वारा अच्छे पर्ववाला श्रीमान् नन्दवंश समूल नष्ट हुआ, जो पराक्रममें कार्तिकेयके समान था और जिसने अकेले ही अपनी मंत्र-शक्तिसे मनुष्योंमें चन्द्रसदृश चन्द्रगुप्तको पृथिवीका राज्य दिलाया, जिसने अर्थशास्त्ररूपी महासागरसे नीतिशास्त्ररूपी अमृत निकाला, उस विष्णुस्वरूप विष्णुगुप्तको मैं नमस्कार करता हूँ। राजविद्या प्रियतमा होनेके कारण मैंने सब विद्याओंके उस पारदर्शी विशुद्धज्ञानसम्पन्न विष्णुगुप्तके दर्शन—अर्थशास्त्रसे यह ग्रन्थ रचा है।[2]

---

१ अथर्ववेदोक्त यंत्रतंत्रादिनिष्पादित मारणोच्चाटनादि हिंसात्मक कर्मको अभिचार कहते हैं। तंत्रसारमें इसकी यह विधि बतायी गयी है—'ओं विरुद्ध रूपिणि चण्डिके वैरिणममुकं देहि देहि स्वाहा' इस मंत्रसे खड्गको अभिमंत्रित करके तथा खड्गमंत्र पढ़कर खड्गकी पूजा कर बकरे आदिको शत्रुका नाम देकर 'अमुकोऽसि इस प्रकार वैरीके नामसे अभिमंत्रित करके लाल सूतसे तीन बार उसका मुंह बांधकर वैरीके नामसे प्राणप्रतिष्ठा करके 'ओं अयं स वैरी यो द्वेष्टि तमिमं पशुरूपिणम्। विनाशाय महादेवि स्फें स्फें खादय खादय ॥' पढ़कर बलि-पशुके सिरपर फूल रखकर और बलिमंत्र पढ़कर बलिकी सम्यक् पूजा कर 'आश्विने मासि महानवम्यां अमुक गोत्रोऽमुक देवशर्मा अमुक शत्रुनाशाय इम छागं महिषं वा अमुक दैवतं भगवत्यै दुर्गायै तुभ्यमहं सम्प्रददे।' इस प्रकार उत्सर्ग करके 'ओं हूं फट्' कहकर काटकर 'एतद्रुधिरं दुर्गायै नमः' कहकर रक्त और शिर देकर मूलमंत्रसे अष्टांग मांसका हवन करे।

२ वंशे विशालवंशानामृषीणामिव भूयसाम्।

नीतिशास्त्रके रचयिता कामन्दक कब हुए यह तो निश्चित रूपसे ज्ञात नहीं, परन्तु डा० फ्रेड्रिकने बताया है कि बौद्धोंके भयसे हिन्दू लोग अपनी बहुतसी संस्कृत पुस्तकें लेकर बाली द्वीप चले गये थे और फिर उन्हें भारत लौटनेका अवसर नहीं मिला था। इन्हीं पुस्तकोंमें यह 'नीतिसार' ग्रन्थ भी था। इससे स्पष्ट है कि चौथे शतकमें 'नीतिसार' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें समझा जाता था, नहीं तो लोग इसे बाली क्यों ले जाते? कामन्दकने नीतिसारमें जगह जगह कहा है कि यह हमारे गुरुका दर्शन वा सिद्धान्त है। पर इससे यह नहीं जाना जाता कि कौटिल्यके अनुयायी होनेके कारण कामन्दकने उन्हें अपना गुरु कहा है अथवा वे वास्तवमें गुरु ही थे। कामन्दक नाम महाभारतके शान्ति-पर्वके १२३ वें अध्यायमें आया ही नहीं है, अपितु वहाँ राजा आंगरिष्ठ और कामन्दक ऋषिका संवाद भी है। राजाने पूछा है कि मूर्खता और लोभके वश हो यदि राजा पाप करे और फिर पश्चात्ताप करे, तो हे ऋषि, उसके पाप कैसे नष्ट होंगे? फिर, यदि अज्ञानके कारण कोई मनुष्य पापकर्मको इस विश्वासपर करे कि मैं धर्मका आचरण करता हूँ, तो राजा उस प्रचलित पाप कर्मका दमन कैसे करे?

इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर कामन्दकने ११ श्लोकोंमें दिया है जिसका सार यह है कि यदि राजा पापकर्मी दुष्टोंका दमन नहीं करता तो सब सुप्रजा उनसे वैसेही डरा करती है, जैसे किसी कमरेमें छिपे हुए सर्पसे मनुष्य डरता है। प्रजा ऐसे राजाका अनुसरण नहीं करती। ब्राह्मण और अन्य धार्मिक मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप राजा बड़े संकटमें

अप्रतिग्राह्यकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥२॥
जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदांवरः।
योऽधीतवान् सुचतुरश्चतुरोऽप्येकवेदवत् ॥३॥
यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वानन्दपर्वतः ॥४॥
एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥५॥
नीतिशास्त्रामृतं श्रीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥६॥

रहता है और अन्तमें उसका जीवन भी संकटमें हो जाता है। अस्तु, इस वर्णनसे हम यह परिणाम भर निकाल सकते हैं कि ऋषि कामन्दक भी राजनीतिज्ञ थे, परन्तु यह नहीं कह सकते कि नीतिसारवाले कामन्दक भी यही थे या नहीं। तोभी यह निर्विवाद है कि ईस्वी छठे शतकमें कामन्दक प्रसिद्ध थे, क्योंकि इसी समयमें रचित दशकुमारचरितमें कवि दण्डीने और सातवें शतकके उत्तरार्द्धमें कान्यकुब्जके राजा यशोवर्मकी राजसभाके पण्डित भवभूतिने अपने मालतीमाधव नाटकमें माधवकी नीति निपुणताको 'कामन्दकी' नाम दिया है। नीतिसारपर 'उपाध्यायनिरपेक्षा' और 'जयमङ्गला' नामकी टीकाएं भी हैं। टीकाकार जयमङ्गलको कोई कोई ईस्वी सन् ६४४ से पहले हुआ बताते हैं। इससे नीतिसारकी प्राचीनतामें किसी प्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता।

नीतिवाक्यामृतके कर्त्ता जैनाचार्य सोमदेवसूरि थे। यह मार्केकी बात है कि आचार्य सोमदेवने अपने इस ग्रन्थमें कहीं साम्प्रदायिकताकी गन्ध तक नहीं आने दी है और कौटिल्यकी वैदिक परम्पराको बड़े ही सुन्दर ढंगसे अपना लिया है। इस ग्रन्थकी टीका जिस विद्वान्ने की है, उसने तो इसमें चार चांद लगा दिये हैं। टीकाकारका कहना है कि कान्यकुब्जके राजा महेन्द्रपालदेवने पूर्वाचार्य कृत अर्थशास्त्रकी दुर्बोधतासे खिन्न होकर ग्रन्थकर्त्ताको इस सुबोध, सुन्दर और लघुनीतिवाक्यामृतकी रचनामें प्रवृत्त किया। यह वैसा ही कारण है जैसा कामन्दकके सामने नीतिसार लिखनेके लिये था। इससे जाना जाता है कि महेन्द्रपालदेवके समय अर्थात् विक्रम संवत् ९६० और ९६४ के बीचमें नीतिसार यातो लुप्त हो गया था या दुर्बोध हो रहा था, जिससे नीतिवाक्यामृतके प्रणयनका प्रयोजन हुआ। टीकाकार ने इस ग्रन्थकी मर्यादा बहुत अधिक बढ़ायी है कारण यह कि मूल लेखकके मतके समर्थनमें अज्ञात लेखकोंके अतिरिक्त बृहस्पति, शुक्र, अंगिरा, ऋषिपुत्र, कविपुत्र, कामन्दक, गर्ग, गौतम, चाणक्य, विष्णुशर्मा, चारायण, जैमिनि, दक्ष, दन्तिल, देवल, धन्वन्तरि, नारद, पराशर, पालकि, भगवत्पाद, भागुरि, भारद्वाज, मनु, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य, राजगुरु, राजपुत्र, रैभ्य, वर्ग, वल्लभदेव, वशिष्ठ, वादरायण, व्यास, शौनक और हारीत आदिके श्लोक उद्धृत किये हैं। बम्बई की दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके प्रकाशक और इस ग्रन्थके भूमिकालेखक श्री

नाथूरामजी प्रेमीके मतसे नीतिवाक्यामृतकी रचना सोमदेवने अपने यशस्तिलक ग्रन्थके बाद की है और यशस्तिलकका समय सं० १०१६ है। यदि नीतिवाक्यामृतके प्रणयनका वही कारण हो जो ऊपर बताया गया है तो वह यशस्तिलकके पीछेका नहीं हो सकता। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि वैक्रमीय एकादश शतकमें नीतिवाक्यामृतकी रचना हो चुकी थी।

कौटिलीय अर्थशास्त्रका महत्त्व इसीलिये नहीं है कि वह नीतिसार और नीतिवाक्यामृतका आधार है, प्रत्युत इस कारणसे भी है कि उसका लेखक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और उसने उसे वास्तविक शास्त्रका रूप दिया है। उपलब्ध ग्रन्थोंमें अकेला यही राज्यशास्त्रका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है और इसीलिये इसकी इतनी महिमा है। ग्रन्थकारने अपना परिचय ग्रन्थके प्रकरणाधिकरण समुद्देशके अन्तमें इस प्रकार दिया है—अनुचित विस्तारसे रहित तथा सहजमें समझमें आजानेवाला यह शास्त्र कौटिल्यने ऐसे पदोंमें रचा है जिनका अर्थ निश्चित है।[1] इससे तथा प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिये हुए समाप्ति-सूचक सङ्कल्पसे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थका कर्त्ता कौटिल्य ही है। परन्तु ग्रन्थ समाप्तिके समयका जो श्लोक है, उससे जाना जाता है कि जिसने कुशासन न सह सकनेके कारण शस्त्रों, शास्त्रों और पृथिवीका नन्दोंसे उद्धार किया था, उसीने इस शास्त्रकी रचना की है। १५वें अधिकरणकी समाप्तिके सङ्कल्पके बाद जो श्लोक है, उसमें बताया गया है कि बहुधा शास्त्रोंमें भाष्यकारोंकी भूलें देखकर विष्णुगुप्तने स्वयं ही सूत्र और भाष्य किया[2]। इससे विष्णुगुप्त और कौटिल्यका एक होना प्रमाणित होता है। यह प्रसिद्ध है कि चाणक्यने चन्द्रगुप्तको मगधके सिंहासनपर बैठाया था और मुद्राराक्षस नाटककी पूर्व-पीठिकामें कवि विशाखदत्तने चाणक्य और कौटिल्य दोनो नामोंका प्रयोग चाणक्यके लिये किया भी है। चाणक्य नामका तो यह कारण बताया गया

---

१ सुखग्रहणविज्ञेयं तत्त्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटिल्येन कृतं शास्त्रं वियुक्तग्रन्थविस्तरम्॥१६४॥

२ येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥८०॥ अधि० १५
दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणां।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यञ्च॥

है कि जब नन्दराजाने माता पिता सहित कौटिल्यको बन्धनागारमें डाल दिया था, तब उन्हें खानेको चने ही दिलाता था। नीतिसारकी जयमङ्गला टीकामें शंकरार्यने लिखा है कि विष्णुगुप्त तो राशिनाम था और चाणक्य तथा कौटिल्य जन्मभूमि और गोत्रके कारण उनके नाम थे।[1] सिद्ध हेमचन्द्रने अपने अभिधान चिन्तामणिमें कौटिल्यके आठ नाम बताये हैं—वात्स्यायन, मल्लनाग, कौटिल्य, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अङ्गुल।[2] वाचस्पति मिश्रने अपनी तात्पर्यटीकामें न्यायभाष्यके कर्त्ता वात्स्यायनको पक्षिलस्वामी लिखा है। इससे न्यायभाष्यके कर्त्ता वात्स्यायन और कामसूत्रके रचयिता वात्स्यायन एक ही सिद्ध होते हैं। कामसूत्रमें अर्थशास्त्रके अनेक अंश ज्योंके त्यों मिलनेसे यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि कौटिल्यने ही वात्स्यायन नामसे कामसूत्रकी रचना की है और शास्त्रोंके उद्धार करनेका जो अभिमान उन्होंने प्रकट किया है, वह डींग नहीं है। जो कामसूत्र, न्यायभाष्य और अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थ रच सकता है, उसके शास्त्रोद्धारक होनेमें किसे सन्देह हो सकता है? विष्णु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराणोंमें चन्द्रगुप्तको राज्य दिलानेवाला कौटिल्य बताया गया है, परन्तु भागवतकारने उसे केवल द्विज कहा है।[3] चाणक्य नाम अर्थशास्त्रभरमें कहीं नहीं आया है, परन्तु पिछले दिनों इसी नामसे वे प्रसिद्ध थे। कदाचित् इसीलिये नीतिवाक्यामृत और पंचतंत्रमें भी चाणक्य नामका ही प्रयोग पाया जाता है। बृहज्जातकके मतसे विष्णुगुप्त का ही दूसरा नाम चाणक्य है। पक्षिलस्वामी नामका यह कारण बताया जाता है कि विद्यार्थी अवस्थामें उनकी स्मरणशक्ति इतनी प्रखर थी कि जो

---

१ विष्णुगुप्तेति संस्कारिकी संज्ञा चाणक्यः कौटिल्य इति जन्मभूमिगोत्रनिबन्धने ॥

२ वात्स्यायनो मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः ॥

३ महापद्मः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति नवैव। तान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति (विष्णु पु०)। चन्द्रगुप्तं नृपं राज्ये कौटिल्यः स्थापयिष्यति (वायु और ब्रह्माण्ड पु०)। कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तन्तु ततो राज्येऽभिषेक्ष्यति (मत्स्य)। स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति (भागवत)।

एक बार सुन लेते थे, उसे एक पक्षतक स्मरण रखते थे। द्रामिल नाम देशके कारण था। कदाचित् द्रामिल, द्राविड और टामिल पर्यायवाची ही हैं।

अब प्रश्न है कि जो उपलब्ध अर्थशास्त्र है, वह क्या सचमुच कौटिल्य-कृत ही है। इस विषयमें यह मार्केकी बात है कि कवि दण्डीने अपने दश-कुमारचरितमें आचार्य विष्णुगुप्तकी दण्डनीतिका जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ बताया है कि उन्होंने दण्डनीतिका सार निकालकर ६००० श्लोकोंमें रख दिया है। डा० आर० शामशास्त्रीके प्रयत्नसे जो अर्थशास्त्र मैसूर राज्यसे प्रकाशित हुआ है, उसके प्रकरणाधिकरण समुद्देशके अन्तमें लिखा है कि इसमें १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण और ६००० श्लोक हैं। इसलिये दण्डीके समयमें जो अर्थशास्त्र प्रचलित था वह निस्सन्देह यही है। हां, श्लोक और सूत्र शब्दोंके प्रयोगसे जो सन्देह होता है, उसका निराकरण यह है कि यद्यपि साधारणतः पद्यमें रची हुई बातें ही श्लोक और गद्यमें कही हुई सूत्र समझी जाती हैं, तथापि सूत्र और श्लोक एक ही है। एक श्लोकमें ३२ अक्षर होते हैं जिनका समुदाय ग्रन्थ कहाता है। इस प्रकार यह अर्थशास्त्र ६००० ग्रन्थ है। यदि इन अक्षरोंके समुदायको ३२।३२ के थोकोंमें बांट दें, तो ६००० अनुष्टुप् श्लोक बन जाते हैं।

एकायन,[1] दण्डनीति, नीतिशास्त्र, राजधर्म और राज्यशास्त्र प्राचीन नाम हैं। परन्तु कौटिल्यने अपने ग्रन्थको अर्थशास्त्र कहा है। इसके दो कारण जान पड़ते हैं। पहला यह है कि जैसे धर्मका नियामक धर्मशास्त्र, कामका कामशास्त्र और मोक्षका मोक्षशास्त्र है, वैसे ही अर्थका अर्थशास्त्र है। चतुर्वर्गके अनुसार शास्त्रोंका उल्लेख पञ्चतन्त्रमें भी हुआ है जैसे मन्वादिके धर्मशास्त्र, चाणक्यादिके अर्थशास्त्र और वात्सायनादिके कामशास्त्र।[2] दूसरा यह है और कौटिल्यने नामकरणका कारण भी यही बताया है कि मनुष्योंसे बसी हुई भूमि ही अर्थ है और इसे प्राप्त और रक्षण

---

१ एकायन कदाचित् प्राचीनतम नाम है, क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२ में इसका उल्लेख पाया जाता है, जिसका रचनाकाल प्रायः ४००० वर्ष पूर्व माना जाता है।

२ ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्सायनादीनि।

करनेके उपायोंको बतानेवाला शास्त्र ही अर्थशास्त्र है।[१] शुक्रनीतिसारका मत है कि श्रुतिस्मृतिसे अविरुद्ध राजकार्यका नाम शासन है और सुयुक्तिसे जिसमें अर्थोपार्जन बताया गया हो, वह अर्थशास्त्र है।[२] परन्तु सोमदेवसूरिने कहा है कि जिससे सब प्रयोजन सिद्ध हों, वह अर्थ है। अप्राप्तका प्राप्त करना, प्राप्तका रक्षण और रक्षितका परिवर्द्धन अर्थानुबन्ध है।[३] कौटिल्य दण्डनीतिके कार्योंका इस प्रकार वर्णन करते हैं कि यह 'अप्राप्तको प्राप्त करानेवाली, प्राप्तकी रक्षा करनेवाली, रक्षितको बढ़ानेवाली तथा बढ़ी हुई को तीर्थोंमें[४] लगानेवाली है। इस प्रकार राज्यशास्त्र, दण्डनीति, अर्थानुबन्ध, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रको पर्यायवाचक ही मानना पड़ता है।[५] कौटिल्यके समयमें बहुतसे अर्थशास्त्र प्रचलित थे जिन्हें देखकर उन्होंने इसकी रचना की है यह आचार्योंके नामोंसे ही जाना जाता है जिनकी चर्चा स्थान स्थान पर उनके मतोंके खण्डनमें की गयी है। ग्रन्थके आरम्भमें उन्होंने भी कह दिया है कि पृथिवीकी प्राप्ति और पालनमें पूर्वाचार्योंने जितने अर्थशास्त्र लिखे हैं, प्रायः उन सबका संग्रह करके ही अर्थशास्त्र बनाया है।[६] आज उन अर्थशास्त्रों

---

१ मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः ॥२॥ तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ॥३॥ अधि० १५, अ० १

२ श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तं हि शासनम्।
सुयुक्त्यर्थार्जनं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते ॥१६॥ अ० ४

३ यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥१॥
अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥२॥ अर्थ समुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

४ अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्द्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च ॥ अधि० १ अ० ४।

५ धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च तीर्थम्। अर्थसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत। अर्थात् जो पुरुष धर्मकार्यमें सहाय होते हैं और जिनके द्वारा धर्मकार्य निरूपित होते हैं, वे धर्मसमवायी हैं और जो सब कार्योंमें सहाय होते हैं और जिनसे बड़े कार्य सिद्ध होते हैं, वे कार्यसमवायी हैं और ये ही दोनों तीर्थ कहाते हैं।

६ पृथिव्याः पालने लाभे च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।

का पता भी नहीं है। परमेश्वरको धन्यवाद है कि यह कौटिलीय अर्थशास्त्र हाथ आ गया।

सोमदेव सूरि हिन्दू स्वाधीनताके अन्तिम दिनोंमें हुए थे। उनके बाद विधर्मियों और विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त भारतमें अर्थशास्त्र समझने समझानेका लोगोंको अवकाश भी नहीं मिला ! फिर भी इस शास्त्रकी सर्वथा उपेक्षा नहीं हुई। पुराणों और स्मृतिग्रन्थोंमें तो राजधर्म मुख्यतया वर्णित हुआ ही था, परन्तु १४वें और १८वें ईस्वी शतकोंमें भी कई धर्मनिबन्ध-कारोंने राज्यशास्त्रकी चर्चा अपने निबन्धोंमें की है। यही नहीं, चण्डेश्वर, लक्ष्मीधर, मित्रमिश्र और नीलकण्ठने राजनीतिपर स्वतंत्र ग्रन्थ तक लिखे हैं। चण्डेश्वरके ग्रन्थका नाम राजनीतिरत्नाकर, लक्ष्मीधरकी पुस्तकका नाम राजनीतिकल्पतरु और मित्रमिश्रके ग्रन्थका वीरमित्रोदय है। राजनीतिकामधेनु और राजनीतिमयूख भी इस विषयके ग्रन्थ हैं। यद्यपि पुराने आचार्योंके ग्रन्थोंके सामने न इनकी विशेष पूछ हुई और न प्रसिद्धि ही, तथापि जहां इनके कर्त्ताओंने पूर्वाचार्योंके मतोंका ही बहुत अंशोंमें समर्थन किया है, वहां कहीं कहीं परिवर्त्तित स्थितिको स्वीकार करते हुए पूर्वाचार्योंसे भिन्न मत भी प्रकट किया है। उदाहरण स्वरूप चण्डेश्वरने राजाकी परिभाषाके विषयमें लिखा है कि "कुल्लूक भट्टकी यह परिभाषा ठीक नहीं है कि 'राजा शब्द क्षत्रियवाचक नहीं, किन्तु अभिषिक्त जनपदपालक पुरुष-वाचक है', क्योंकि प्रजारक्षक ही राजा है।" लक्ष्मीधर तो कान्यकुब्जके अन्तिम राजा जयचन्द्रके पितामह गोविन्द चन्द्रके महासान्धिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव) थे। इनके मतसे अर्थशास्त्र छठा वेद है।[1] परन्तु पांच वेदोंकी उपेक्षासे चाहे हिन्दू जातिकी विशेष हानि न हुई हो, इस छठे वेदकी अवहेलनासे उसकी जो दुर्दशा हुई है, वह अकथनीय है। यह नहीं कहाजा सकता कि अभी इसकी कोई गति और होनी है या नहीं; परन्तु अब तक जो कुछ हुआ, उसे देखते कहना पड़ता है कि यही होना था। क्या यह आश्चर्यकी बात न होती कि जो विद्या सब विद्याओंका आधार हो, उसकी उपेक्षा करके भी कोई जाति संसारमें अपना सिर ऊंचा किये रहे ? शुक्र-नीतिसारके आरम्भमें ही नीतिशास्त्र वा दण्डनीतिकी महिमा बतायी गयी है। कहा गया है कि नीतिशास्त्र सबका उपजीवक है और धर्म, अर्थ, काम तथा

---

१ महाभारत पांचवां वेद कहाता है, इसलिये अर्थशास्त्र छठा वेद है।

मोक्षका दाता है। अन्य शास्त्र, यथा व्याकरण, न्याय, मीमांसा और वेदान्त बुद्धिकी चतुराई दिखानेवाले हैं, किन्तु केवल नीतिशास्त्र ही व्यावहारिक शास्त्र है।[1] वास्तवमें बात भी यही है। व्याकरण, न्याय, मीमांसा और वेदान्तसे हमारे जीवनके दैनिक प्रश्न हल नहीं होते और न उनके न जाननेवालेकी कोई वास्तविक हानि ही होती है। परन्तु नीतिशास्त्र वा अर्थशास्त्रके न जानने से राज्य चौपट हो गये और दण्डके अप्रयोग वा दुष्प्रयोगसे राज्यों और राजाओंका नाश हुआ। महाभारतमें दण्डनीतिका एक नाम राजधर्म भी बताया गया है। उसमें कहा गया है कि जब दण्डनीति निर्जीव हो जाती है, तब वेदत्रयी डूब जाते और बढ़े हुए अन्य धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। प्राचीन राजधर्म वा दण्डनीतिका जब त्याग कर दिया जाता है, तब सब धर्म और आश्रम मिट जाते हैं। राजधर्ममें ही सब त्याग देखे जाते हैं और सब दीक्षा राजधर्ममें ही मिली हुई हैं, सब विद्याएं राजधर्ममें ही कही गयी हैं और सब लोक राजधर्ममें ही केन्द्रीभूत हैं।[2] सचमुच इससे बढ़कर राजधर्मकी महिमा

१—सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥५॥
सुनीतिकुशला नित्यं प्रभवन्ति च भूमिपाः।
शब्दार्थानां न किं ज्ञानं विना व्याकरणाद्भवेत् ॥७॥
प्राकृतानां पदार्थानां न्यायतर्कैर्विना न किम्।
विधिक्रियाव्यवस्थानां न किं मीमांसया विना ॥८॥
देहावधि नश्वरत्वं वेदान्तैर्न विना हि किम्।
स्वस्वाभिमतबोधीनि शास्त्राण्येतानि सन्ति हि ॥९॥
तत्तन्मतानुगैः सर्वैर्विधृतानि जनैः सदा।
बुद्धिकौशलमेतद्धि तैः किं स्याद् व्यवहारिणाम् ॥१०॥
सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना न हि।
यथाशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम् ॥११॥ अ० १

२—मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥२८॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।

का वर्णन नहीं हो सकता। क्या आश्चर्य कि इसी महिमाके कारण शुक्राचार्य-ने दण्डनीति ही एक मात्र विद्या मानी है। परन्तु भारतका दुर्भाग्य कि उसके राजाओं और प्रजाने दण्डनीतिका मूल्य नहीं समझा और इसकी उपेक्षा करके देशको परतंत्रताके गहरे गढ़ेमें गिरनेसे नहीं रोका। इधर कुछ समयसे लोगोंका ध्यान इस ओर गया है यह देशके उज्ज्वल भविष्यका सूचक है।



सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥२९।
शान्तिपर्व, अ० ६३

१ विद्या और कला

विद्या और कला की परिभाषाएँ

विद्या ज्ञानका नाम है। जिसे जानकर मनुष्य आत्माका हित साधन करता है और अहितका नाश करता है, उसे विद्या कहते हैं। परन्तु यह ज्ञान अध्ययन और मनन द्वारा प्राप्त होता है, इसलिये वाणीके बिना असम्भव है। आजकल गूंगोंको पढ़ानेकी नयी प्रक्रिया निकली है और उससे काम भी लिया जाता है, पर उससे उन्हें साधारण लिखना पढ़ना ही आता है। अभी तक नहीं सुना गया कि अमुक गूंगा विद्यावान् निकला है। इसलिये विद्याको वाणीकी अपेक्षा रहती है, परन्तु कलामें गूंगा भी निपुण हो सकता है, क्योंकि इसमें हाथपैरका ही काम पड़ता है। यह शुक्रनीतिसार-का मत है। परन्तु गवैयोंको भी कलावँत (कलावन्त) कहते हैं। वात्स्यायन तथा जैनाचार्योंने 'कार्य करनेके कौशल' को ही कला माना है, क्योंकि गीत और छन्दो-विज्ञानको भी उन्होंने कलाओंके अन्तर्गत अपने विद्या समु-द्देशमें रखा है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के अनुसार विद्याएं

प्राचीन कालमें अध्ययन योग्य विद्याएं कौन कौन थीं इसका कुछ पता छान्दोग्योपनिषद्के ७वें अध्यायके पहले खंडसे जाना जाता है। कहते हैं कि एक बार नारद जी भगवान् सनत्कुमारके पास विद्या-की भिक्षा मांगने गये। उस समय इन्होंने नारदसे पूछा कि तुमने क्या क्या पढ़ा है। बिना यह जाने कुछ पढ़ानेसे सम्भव था कि उनकी पढ़ी विद्याका ही उपदेश नारदजी-को सनत्कुमार कर देते। इसपर नारद जी कहने लगेः— भगवन्! मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद और सामवेद पढ़ा है, चौथा अथर्ववेद भी पढ़ा है। पांचवाँ इतिहास पुराण पढ़ा है; पित्र्य (पितृविद्या), राशि (गणित), दैव (सगुन असगुन या science of portents), निधि (ज्योतिष), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या

(नृत्यगीतवाद्यशिल्पादि विज्ञान), ये सब विद्याएं पढ़ी हैं।[1] बृहदारण्यक उपनिषद्‌में विद्याओंकी यह सूची मिलती है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या (ललित कला), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान।[2]

विष्णुपुराण में १८ विद्याओंका उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है—४ वेद, ६ वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र।[3]

विष्णु पुराणके अनुसार

शुक्रनीतिसारके अनुसार विद्याएं ३२ और कलाएं ६४ हैं। ३२ विद्याओंमें प्रथम १४ विद्याएं तो विष्णु-पुराणोक्त ही हैं, केवल इतना अन्तर है कि उपवेदोंमें जहां शुक्रनीतिसारने तंत्रवेद रखा है, वहां विष्णुपुराण अर्थशास्त्र लिखता है। ३२ विद्याएं ये हैं—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, ५ आयुर्वेद, ६ धनुर्वेद, ७ गान्धर्ववेद, ८ तंत्रवेद, ९ शिक्षा, १० कल्प, ११ व्याकरण, १२ निरुक्त, १३ छन्द, १४ ज्योतिष, १५ मीमांसा, १६ न्याय (तर्क), १७ सांख्य, १८ वेदान्त, १९ योग, २० इतिहास, २१ पुराण, २२ स्मृति, २३ नास्तिक मत, २४ अर्थशास्त्र, २५ कामशास्त्र, २६ शिल्पशास्त्र, २७

शुक्रनीतिसार-की ३२ विद्याएं

---

१ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि। छान्दोग्य ७।१।२

२ ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवेतानि सर्वाणि निःश्वसितानि। बृहदारण्यक २।४।१०

३ अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्याह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥

अलंकार, २८ काव्य, २९ देशभाषा, ३० अवसरोक्ति, ३१ यवन मत और ३२ देशादिके धर्म।

हावभावयुक्त नृत्य, वाद्योंका ज्ञान और वादन, अनेक रूपोंके आविर्भावसे कार्योंका ज्ञान, स्त्रीपुरुषोंका वस्त्रालङ्कार धारण, सेजमें फूल बिछाना, अनेक आसनोंसे रतिके सन्धानका ज्ञान और जुआ खेलना ये गान्धर्व विद्याकी सात कलाएं हैं। मकरन्द और आसव आदि बनाना, छिपे हुए घावको निकालना, हीन और अधिक रसके संयोगसे अन्नादिका पचाना, वृक्ष आदिके कलम लगाना और उन्हें तैयार करना, पत्थर तथा धातु आदिका गलाना और भस्म करना, ऊखसे गुड़ आदि बनाना, धातुओं और औषधियोंका संयोग करना, मिली हुई धातुओंको अलग अलग करना, धातु आदिके अपूर्व संयोगका ज्ञान और क्षार निकालना ये आयुर्वेदकी दस कलाएं हैं।

गान्धर्ववेदकी ७ और आयुर्वेदकी १० कलाएं

निशाना लगाना और पैर आदिके सहारेसे शस्त्र चलाना, मल्लयुद्ध (कुश्ती), अस्त्रनिपातन (हथियार फेंकना), बाजेके संकेतसे व्यूह रचना और गज, अश्व, रथ आदिकी गतिसे युद्ध संचालन ये धनुर्वेदकी पांच कलाएं हैं।

धनुर्वेदकी कलाएं

अनेक प्रकारके विविध आसनों और मुद्राओंसे देवताओंको प्रसन्न करना, गज अश्व आदिकी चालकी शिक्षा, सारथीका काम, मिट्टी, काठ पत्थर आदिके पात्र बनाना, चित्र खींचना, तालाब, बावली और महल आदिकी भूमि बराबर करना, घड़ी आदि अनेक यंत्र और बाजे बनाना, हल्के गहरे और मामूली रंगसे रंगना, जल, वायु और अग्निका संयोग और निरोध, नाव, रथ आदि यान बनानेकी रीति, सूत आदिसे रस्सी बनाना, अनेक तन्तुओंके योगसे पाट बुनना, रत्न वेध करनेमें अच्छे बुरेकी परख, सोना आदि धातुओंका यथार्थ स्वरूपज्ञान, नकली सोने आदिकी क्रियाका ज्ञान, सोने आदिके गहने बनाना और जिला करना, चमड़े आदिकी कोमलताका ज्ञान, पशुके चर्म और अंगको स्वच्छ करनेका ज्ञान, दूध दूहना और घी निकालना, कपड़ा सीना, तैरना, बर्त्तन मलना, कपड़े धोना, बाल बनाना, तिल आदिसे तेल निकालना, हल चलाना, पेड़पर चढ़ना, स्वामीके

विविध ४२ कलाएं

मनोऽनुकूल सेवा करना, बांस और फूसके पात्र बनानेकी विधि, कांचके वर्त्तन बनाना, जल भरना और सींचना, लोहेके शस्त्रास्त्र बनाना, हाथी, घोड़े, ऊंट और बैलकी पालनविधि, बच्चोंका संरक्षण (संगोपन), गोद लेना और खिलाना, अपराधीको मारनेमें उचित ताड़नाका ज्ञान, नाना देशोंके अक्षर लिखनेका ज्ञान, पानोंकी रक्षाका ज्ञान, सीखना, जल्दी काम करना, सिखलाना और विलम्बसे काम करना।[1]

जैनोंकी ७२ कलाएं

जैन ग्रन्थोंमें स्त्रियोंकी ६४ कलाओंके सिवा पुरुषोंकी ये ७२ कलाएं भी बतायी गयी हैं—लेह (लेख). गणिय (गणित), रूव (रूपाङ्क), नत्त (नाच), गीय (गीत), वाइय (यंत्र वाद्य), सरगम (मुखवाद्य), पोक्खोर गय (ढोल बजाना), समताल (ताल बजाना), जूय (जूआ खेलना), जणवाय (एक प्रकारका पासा खेलना), पासय (पाँसा फेंकना), अट्ठावय (शतरंज खेलना), पोर कव्व (आशु कवित्व), उगमत्तिय (अन्तर्गत वा सम्मिलित वस्तुओंका ज्ञान), अन्नविहि (भोजन विधि), पानविहि (मद्यपानकी विधि), वट्ठविहि (वस्त्रविधि), विलेवणविहि (विलेपनविधि), सयणविहि (शयनविधि), अज्जे (आर्या छन्द रचना), पहेलिय (पहेलियां), मागहिय (मागधी प्राकृतमें रचना करना), गाहा (गाथा रचना), गीय (गीतिकाव्य या आल्हा रचना), सिलोय (श्लोक बनाना), हिरण्ण जुति (हिरण्ययुक्ति वा सोना साफ करनेकी युक्ति), सुवण्ण जुति (साफ सोना बनानेकी युक्ति) चुण्ण जुति (चूर्ण करनेकी युक्ति), आभरणविहि (आभूषण पहननेकी विधि), तरुणीपरिकम्म (तरुणियोंको सजाने या रंग बदलनेकी रीति), इत्थिलक्खण (स्त्री-लक्षण), पुरिसलक्खण (पुरुषलक्षण), हयलक्खण (हयलक्षण), गय लक्खण (गजलक्षण), गोणलक्खण (बैलका लक्षण), कुक्कुड़ लक्खण (कुक्कुटलक्षण), छत्तलक्खण (छत्रलक्षण), डण्डलक्खण (डंडोंके लक्षण), असिलक्खण (तलवारके लक्षण), मणिलक्खण, कागनीलक्खण (काकिणीलक्षण), वत्थुविज्जा (वास्तुविद्या = गृहनिर्माण कला), खम धम्माण (छावनियोंका मापन), नगरमाण (नगरमापन), वूह (व्यूह रचना), पडि-वूह (प्रति व्यूह अर्थात् व्यूह-

---

[1]—शुक्रनीतिसार श्लोक २६४—२३८ अध्याय ४

के अवसरमें व्यूह रचना); चार (भेद लेना), पडिचार (प्रतिचार); चक्कवूह (चक्रव्यूह); सगडवूह (शकटव्यूह); गरुडवूह, जुद्ध (युद्ध), निजुद्ध (नियुद्ध = कुश्ती); जुद्धातिजुद्ध (गहरी लड़ाई), डिट्ठिजुद्ध (दृष्टियुद्ध), मुट्ठिजुद्ध (मुष्टियुद्ध), बाहुजुद्ध, गदाजुद्ध, ईसत्थ (बाणोंका ज्ञान); चारुप्प वाय (तलवार चलाना); धणुव्वेय (धनुर्वेद); हिरण्ण पाग (सोनेका ढालना); सुवण्ण पाग (सुवर्णका ढालना); सुत्त खेड (डोरीका खेल); कडच्छेज्ज (परस्पर दूर रखी हुई चीजोंका एक साथ छेदना); वत्थ खेड (वस्त्रका खेल), नालिका खेड (नलका खेल); पत्त छेज्ज (एक ही साथ कई पत्तोंको छेदना); सज्जीव (जीवन-दान करना); निज्जीव (जीवन हरण करना) और सउणरुत (चिड़ियोंकी बोलियोंसे शुभाशुभका ज्ञान)।[1] यह सूची आवश्यकतासे अधिक बढ़ायी गयी है और विद्या और कलाएँ एक ही साथ कर दी गयी हैं। धनुर्वेदके अन्तर्गत ही ईसत्थ है तथा अज्जे, पहेलिय, मागहिय, गाहा और गीय नामकी कलाएँ एकमें ही की जा सकती हैं। इसी प्रकार जुद्धमें जुद्धातिजुद्ध डिट्ठिजुद्ध और गदाजुद्ध और वूहमें पडिवूह, चक्कवूह, सगडवूह और गरुडवूह नामकी कलाएं आ सकती हैं। सोना पकाने और बाजीगरीके खेलोंकी संख्याएँ भी घट सकती हैं। इस तरह कलाओंकी संख्या ३२ के लगभग लायी जा सकती है।

परन्तु राज्य-शास्त्रके आचार्योंने न ३२ विद्याएँ मानी हैं और न ६४ या ३२ कलाएँ। उनके मतसे तो चार ही विद्याएँ हैं और उन्हींमें सबका समावेश हो जाता है। ये चार विद्याएं विद्याएं चार ही हैं। हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति। जिस शुक्रनीतिसारमें ३२ विद्याएं और ६४ कलाएं बतायी गयी हैं, उसीमें कामन्दकके नीतिसारसे एक श्लोक उद्धृत है जिसमें उक्त चार विद्याएं मानी गयी हैं। परन्तु शुक्राचार्यके अनुयायी तो केवल एक ही विद्या मानते हैं और वह है दण्डनीति, क्योंकि सब विद्याओंका आदि और अन्त इसीमें होता है। बृहस्पतिके अनुयायियोंको यह मत मान्य नहीं है

---

[1] यह सूची समवायांगसे (पृ० ७२) ली गयी है। अन्य ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है।

और ये दो विद्याएं मानते हैं—वार्त्ता और दण्डनीति। मनुके अनुयायी तीन विद्याएं मानते हैं—त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति। परन्तु कौटिल्यका कहना है कि विद्या चार ही हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति, क्योंकि इन्हीसे धर्मार्थका ज्ञान होता है। बादके सभी आचार्य कौटिल्यके अनुयायी जान पड़ते हैं, क्योंकि चार विद्याएं हैं इसका किसीने खण्डन नहीं किया।

कौटिल्यके अनुसार चारों विद्याओं की व्याख्या

कौटिल्यका कहना है कि आन्वीक्षिकीमें सांख्य, योग दर्शन और लोकायत[1] हैं और यह विद्या सुख दुःखमें बुद्धिको ठीक रखती है तथा सोचने, विचारने, बोलने और काम करनेकी चतुरता उत्पन्न करती है। यह सब विद्याओंका प्रदीप, सब कार्यों का साधन और सब वर्णों का आश्रय है। त्रयीमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं तथा अथर्ववेद और इतिहास वेद ये सब मिलकर वेद कहलाते हैं। त्रयी अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि इसमें वर्णों और आश्रमोंके धर्मोंका निरूपण किया गया है और यह सबको अपने अपने धर्मोंपर अटल रखनेमें अत्यन्त उपकारी है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्यका नाम वार्त्ता है। यह अन्न, पशु, सोना, तांबा आदि धातुओं, जंगली चीजों तथा नौकर चाकर देनेके कारण बहुत उपकारिणी है तथा कोश और दण्डकी सहायतासे अपने तथा परायेको वशमें कर लेती है। परन्तु इन तीनोंके योग और क्षेमका साधन दण्ड है और उसकी नीति दण्डनीति है। इसीसे न मिली हुई वस्तु मिलती है, मिलीकी रक्षा और रक्षितकी वृद्धि होती है तथा वह तीर्थोंमें[2]

---

१ महाभारत आदि पर्वमें इसका उल्लेख है। कालीप्रसन्न सिंहके महाभारतके बंगला भाषान्तरमें इसका अर्थ बौद्धमत किया गया है। परन्तु महाभारतके टीकाकार नीलकंठका कहना है कि संसारको ही सब कुछ समझनेवाला लोकायत है। इसलिये यह चार्वाक मत है।

२ श्री नरेन्द्रनाथ लाहा महाशयने अपने Aspects of Ancient Hindu Polity के पृ० १४३की पादटीकामें इतिहासके अन्तर्गत कौटिल्योक्त कहकर पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र भी गिना दिये हैं, पर श्री० आर० शामशास्त्रीके सम्पादित अर्थशास्त्रमें कौटिल्यने इतिहास वेदके आगे कुछ भी नहीं कहा है।

बाँटी जाती है। संसारका निर्वाह इसीके सहारे होता है।

त्रयीके प्रसंगमें कौटिल्यने वर्णाश्रमधर्मकी भी चर्चा की है। कहा है कि ब्राह्मणका धर्म वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना कराना और दान देना लेना है। क्षत्रियका धर्म वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना और क्षात्रजीविका करना और प्राणियोंका संरक्षण है तथा वैश्यका भी वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना और कृषि, गोरक्षा और व्यापार करना है। शूद्रका धर्म द्विजातियोंकी सेवा, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, शिल्प तथा मागधका[1] कार्य करना है। शूद्रोंके विषयमें कौटिल्यने स्मृतिकारोंकी अपेक्षा अधिक उदारता दिखलायी है, क्योंकि जहाँ औरोंने उन्हें केवल सेवक बनाकर छोड़ दिया था, वहाँ इन्होंने उनके लिये कृषि, गोरक्षा और शिल्प-वाणिज्य का द्वार भी खोल दिया तथा मागधका काम विशेष रूपसे उनको बता दिया। आश्रमोंमें सबसे पहले कौटिल्यने गृहस्थका स्मरण किया, क्योंकि सभी आश्रमोंका आधारभूत वही है। गृहस्थका धर्म है कि अपने धर्मानुसार जीविका करे, अपने समान लोगोंके भिन्नभिन्न गोत्रोंमें विवाह करे, ऋतुस्नानके बाद स्त्रीसहवास करे तथा देव, पितृ, अतिथियों और नौकरों को भोजन देकर आप भोजन करे। ब्रह्मचारीका धर्म है वेदाध्ययन करना, अग्निहोत्र, नित्यस्नान करना, भिक्षावृत्तिसे रहना और अपने गुरु तथा इसके अभावमें गुरुपुत्र और इसके अभावमें बड़े गुरु-भाईकी सेवा करना। वानप्रस्थका धर्म है जितेन्द्रिय रहना, पृथ्वीपर सोना, जटा रखना, मृगचर्म पहनना, अग्निहोत्र, नित्यस्नान करना, देव, पितृ और अतिथिपूजन करना तथा कन्दफलमूल खाना। परिव्राजक वा संन्यासीका धर्म है इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह करना, कामना रहित होना, किसी वस्तुपर अधिकार न रखना,

कौटिल्यकी वर्णाश्रमव्यवस्था

---

१ मागध एक प्रकारके भाट हैं, जो राजाओंकी विरुदावली और वंशावली पढ़ा करते हैं। वे कड़खैत भी होते हैं। मनुस्मृतिके अनुसार क्षत्रिया मातासे उत्पन्न हुए हैं और उनकी जातिकी जीविका वाणिज्य है। पर वृहद्विष्णुके मतसे मागध शूद्र और क्षत्रिया तथा गौतमके मतसे वैश्य और ब्राह्मणीका और बौधायनके अनुसार शूद्र और वैश्याका पुत्र है। भाट क्षत्रिया और ब्राह्मणकी सन्तान समझा जाता है।

कई जगहोंसे भिक्षा करके खाना, वनमें रहना तथा भीतरी और बाहरी शुद्धता रखना। अहिंसा, सत्य, शौच, अद्वेष, अनिष्ठुरता और क्षमा ये सबके धर्म हैं।

वार्त्तामें खेती, पशुपालन और वाणिज्य है। इससे अन्न, पशु, हिरण्य (सोना) आदि कुप्य (जंगली चीजें), नौकर चाकर वा खबरदार मिलते हैं, इसलिये बड़े उपकारकी विद्या है और राजा इसीकी बदौलत कोश और दण्डसे अपनों और परायोंको वशमें कर लेता है[1]। इस वर्णनसे जाना जाता है कि वैश्यकर्म राज्य-संचालनके लिये अत्यन्त आवश्यक कार्य है। यही नहीं, हम यूरोपियनोंके उदाहरणसे जान भी रहे हैं कि उन्होंने वार्त्ता विद्यामें नैपुण्य प्राप्त करनेके कारण ही संसारपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित किया है।

वार्त्ताकी विशेषता

परन्तु आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ताके योगक्षेम अर्थात् सम्पादन और रक्षणका साधन दण्ड है। उसकी नीति दण्डनीति है। इसीसे अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा, रक्षितकी वृद्धि होती है और बढ़ी हुई वस्तु उपयुक्त पात्रोंमें बाँटी जाती है। संसारका निर्वाह इसीपर अवलम्बित है।[2] महाभारतमें भी बताया गया है कि राजाद्वारा दण्डनीतिका सुप्रयोग चातुर्वर्ण्यको अपने अपने धर्मका अवलम्बी बनाता और अधर्मसे निवृत्त करता है। इससे चारो वर्ण अपने अपने कर्म करते और मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते और दण्डनीतिसे रक्षित होनेपर प्रजा निर्भय तथा सुख-

दंडनीतिकी महिमा

---

१ कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्त्ता ॥१॥ धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी ॥२॥ तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम् ॥३॥ अर्थ० अधि० १ अ० ४

२ आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः ॥४॥ तस्य नीतिर्दण्डनीतिः ॥५॥ अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्द्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च ॥६॥ तस्यामायत्ता लोकयात्रा ॥७॥ अर्थशास्त्र, अधि० १ अ० ४।

स्वच्छन्दतासे रहती है।[1] अभिप्राय यह कि दण्डनीतिके अनुसार जो राजा दण्डविधान करता है, उसके राज्यमें किसी प्रकारकी गड़बड़ नहीं होती, प्रजा सुखी रहती है, जिससे शत्रुको आक्रमण करनेका साहस नहीं होता। परन्तु जो राजा क्रोध वा अज्ञानसे दण्ड व्यवस्था करता है अथवा दण्डनीयको दण्ड नहीं देता, वह सबको विद्वेषी बना लेता है, उसके राज्यमें दण्डधरके अभावमें मात्स्यन्याय होता है, जिसमें सबल निर्बलको खाते हैं। गुरुका यह वचन इसीकी पुष्टिमें है कि जो दण्ड्यको दण्डित नहीं करता अथवा अनुचित दण्ड देता है, उसके राष्ट्रमें निस्सन्देह मात्स्यन्याय होता है।[2] इसलिये जिस राजाको अपने राज्यमें शान्ति और सुव्यवस्था रखनी हो, उसे दण्डनीतिका अध्ययन और उसके अनुसार आचरण करना चाहिये।

---

१ दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥७६॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥७७॥ शान्तिप० अ० ६९

२ दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्त्तितः ॥

२ राज्य

किसी देश वा भूभागपर प्रभुत्व और उसके निवासियोंका शासन राज्य कहाता है। राज्यका मूल क्रम वा विक्रम है। किसी वंशमें पुरुषानुक्रमसे राज्यका चला आना और किसीको उत्तराधिकार रूपसे मिलना क्रम है। विक्रमका अर्थ शौर्य है। जो राज्य किसीकी वीरताके कारण आक्रमण द्वारा वा अन्य प्रकारसे कोई राजा प्राप्त करता है, वह विक्रममूलक राज्य होता है। ब्रिटेनमें राजत्वका मूल क्रम है, क्योंकि ब्रिटिश नरेश विक्टोरिया के उत्तराधिकारी होनेके कारण राज्यके अधिकारी हैं। परन्तु ईरानके वर्त्तमान शाह रजाशाह पहलवीने अपने पराक्रमसे राज्य प्राप्त किया है, इसलिये इनके राज्यका मूल विक्रम है। कहीं क्रम और विक्रम दोनोके अभावमें राज्यकी प्राप्ति होती है, जैसे अँगरेजोंका भारतपर अधिकार। इसका कारण है उनमें नीतिशास्त्रका यथेष्ट ज्ञान।

राज्य और उसका मूल क्रम और विक्रम

लोकव्यवहारसे क्रम सम्पत्ति होती है अर्थात् जिस राज्यमें राजाका आचार व्यवहार नीति शास्त्रानुसार होता है, उसके राज्यकी नींव दृढ़ होती है। अभिमानशून्यता विक्रमको शोभा बढ़ाती है। गुरु-का कहना है कि जो घमण्डसे मन्त्रियों, गुरुओं और बान्धवोंकी अवमानना करता है और समझता है कि मैं शूरवीर हूँ, वह रावणकी भाँति मरता है।[1] पराक्रम-रहित और युद्धभीरु राजाका क्रमागत राज्य भी नष्ट हो जाता है। यदि बल से दूसरेका राज्य न भी लिया जा सके, तो भी उसके लिये प्रयत्न करना ही चाहिये। परन्तु राजामें यदि शूरता हो और उसका राज्य भी क्रम मूलक हो पर उसमें बुद्धिमत्ता न हो, तो उसका राज्य नहीं रह सकता। इसलिये गुरु का वचन है कि जिस राजाकी बुद्धि शास्त्रानुगामी होती है, वह बुद्धिमान्

क्रमका कारण और उसका नाश

१—योऽमात्यानवमन्यते गर्व्वान्न गुरून्न च बान्धवान्।
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा॥

होता है। शास्त्रबुद्धिसे हीन शूर राजा भी नाशको प्राप्त होता है। नीति-शास्त्रविहीन बुद्धिमान भी शत्रुओंद्वारा मारा जाता है, जैसे शस्त्रविहीन शूर वीरको चोर डाकू मार गिराते हैं।[1]

राज्यसे धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है। इसीलिये शुक्राचार्यने अपनी दण्डनीतिके आरम्भमें ही राज्य रूपी उस वृक्षको नमस्कार किया है,

राज्य वृक्षका रूपक

जिसकी शाखाएं षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधी भाव) है और जिसके फूल (साम, दान, भेद और दण्ड) तथा फल त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम हैं।[2]

राज्यके सात अङ्ग वा प्रकृतियाँ मनु, बृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य प्रभृति सभी आचार्योंने मानी हैं। ये राज्याङ्ग स्वामी वा राजा, अमात्य वा मंत्री,

राज्यके सात अंग

पुर वा दुर्ग अथवा राजधानी, कोश, दण्ड वा बल और सुहृत् वा मित्र हैं।[3] कौटिल्यका कहना है कि ये सात प्रकृतियाँ राज्य रूपी शरीरके अङ्ग वा अवयव हैं। यद्यपि सप्ताङ्ग राज्यके सभी वर्णनोंमें स्वामी वा राजाका उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है और किसीमें तो राजा शीर्षस्थानीयतक बताया गया है, तथापि वास्तवमें राज्यका सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग राष्ट्र है, क्योंकि राजाके विना तो राज्य हो सकता है, पर राष्ट्रके विना वह असम्भव है।

---

१ पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः।
अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति॥
शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्।
शास्त्रबुद्ध्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति॥

२ नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने।
सामादि चारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने॥

३ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥२९४॥ मनु० अ० ९
आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥६४॥
तथा जनपदाश्चैव पुरञ्च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥६५॥ महाभारत, शान्ति पर्व, ६९ वां अध्याय।

बृहस्पति कहते हैं कि अराजक राष्ट्र तो परस्परकी रक्षा करते भी हैं, परन्तु जिनके राजा मूर्ख होते हैं, वे नाशको प्राप्त होते हैं।[1]

सप्ताङ्ग राज्यके विषयमें शुक्रनीतिसारका यह रूपक बड़ा ही चमत्कार पूर्ण है कि राज्याङ्गोंमें मन्त्री तो नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोश मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र हैं।[2] राष्ट्र इसलिये नहीं पैर कहा गया है कि सबसे नीचा या छोटा है, वरंच इस लिये कि वह राज्यका मूलाधार है—उसीके सहारे राज्यरूपी शरीर खड़ा होता है। इसी लिये राज्याङ्गोंमें राष्ट्रका प्रथम और मुख्य स्थान है। राजासे राष्ट्र नहीं होता, राष्ट्रसे राजा होता है।

सप्ताङ्गमें राष्ट्रकी महत्ता

दूसरा स्थान बलका है, क्योंकि बल मनके समान बताया गया है। शरीरमें इन्द्रियोंका राज मन है, क्योंकि उन्हें किसी काममें प्रवृत्त अथवा उससे निवृत्त यही करता है। राज्यमें भी यदि बल वा सेना न हुई, तो वह कुछ नहीं कर सकता। और तो क्या, अपने अङ्गोंसे अपनी आज्ञाका पालन भी नहीं करा सकता। कोशकी उपमा मुखसे दी गयी है और इसलिये इसका तीसरा स्थान है। जैसे मुंह खाता है और सारा शरीर उससे पुष्ट होता है, वैसे ही राज्यकोशमें धन सञ्चित होनेसे सभी कार्योंकी पुष्टि साधित होती है। कौटिल्यने ठीक ही कहा है कि कोश और बल ही राजाकी शक्ति है।[3] महाभारतमें कहा गया है कि राजाका मूल कोश बल है और फिर कोषका मूल बल है। वही सब धर्मों का मूल है और फिर धर्मका मूल प्रजा है।[4] इससे भी ऊपरके रूपकका समर्थन होता है। मंत्री आँखें इसलिये बताया गया है कि राज्यका प्रायः समस्त

रूपककी व्याख्या

---

१ अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम्।
मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्ति संक्षयम्॥

२ दृगममात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
हस्तपादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानिह ॥६२॥ अ० १॥

३ कोशदण्डबलं हि प्रभुशक्तिः॥ अर्थशास्त्र अधि० ६ अ० २

४ राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥२४॥ शां० अ० १२०

व्यवहार मन्त्रियोंके परामर्शसे और तत्त्वावधानमें होता है। जैसे अपने ऊपर किसीका प्रहार होनेसे हाथ ही सबसे पहले उसे रोकते हैं—"ओड़िय हाथ असनिके घाये", वैसे ही राज्यपर अन्य राजाके आक्रमण दुर्गको ही सहने पड़ते हैं। यही पहला मोर्चा लेता है। गत महासमरमें बेलजियमके लीज और नामूर दुर्गोंने ही जर्मनीके उच्चाभिलापको विफल किया था। कोश, बल और दुर्गके बिना राजा शत्रुके अधीन हो जाता है।

---

३ राष्ट्र

जिस भूभागपर चारो वर्णों और चारो आश्रमोंके लोग रहते हों तथा जो अन्न, द्रव्य, पशु, कुप्य (जंगली चीजें लकड़ी आदि), विष्टि (बारबरदारी के लिये मनुष्य और नौकर चाकर), चांदी, सोना आदि पदार्थ देती हो, वह पृथ्वी है। राजाको जो कोश और सोना देता है, वह देश कहाता है। वर्णाश्रमी मनुष्योंकी द्रव्योत्पत्तिका स्थान जनपद है। जिस भूभागपर पशु अन्न सोना आदि सम्पदा शोभायमान हो, उसका नाम राष्ट्र है।[1]

पृथ्वी, जनपद और राष्ट्र

राष्ट्र राज्यका मूलाधार है, क्योंकि राज्यकी सब प्रकृतियोंमें सबसे पहले राष्ट्र ही उत्पन्न हुआ था। इसके बाद बलकी उत्पत्ति हुई। अथर्ववेदमें बताया गया है कि कल्याणकी कामना करते हुए ऋषियोंने दीक्षा स्वीकार की और तप किया, जिससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुए।[2]

राष्ट्र अग्रजन्मा है

राष्ट्र कई प्रकारके होते हैं कोई छोटे, कोई बड़े और कोई मंझोले। छोटे राष्ट्र एक नगरतकके होते हैं। प्राचीन ग्रीस वा यूनानमें अनेक नगर राज्य थे। भारतमें भी प्राचीन कालमें छोटे बड़े बहुतसे राज्य थे। इनमें कुछ प्रजातंत्र और कुछ राजतंत्र थे। राष्ट्रोत्पत्ति के पहले लोग जंगलोंमें घूमते थे। अनन्तर बहुतसे लोगों-के एक साथ रहने लगनेके कारण उनके समूह वा समाज उत्पन्न हुए और बस्तियाँ बसनेसे ग्राम बने। इन ग्रामोंकी व्यवस्था लोकशक्ति

राष्ट्रके आदि रूपकी कल्पना

---

१ वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशु कुप्यविष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ॥२॥ विद्यावृद्धसमुद्देश ॥ भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशति ददातीति देशः ॥१२॥ जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥५॥ पशुधान्यहिरण्य-सम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम् ॥१॥ जनपदसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत ॥

२ भद्रामिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपोदीक्षा मुपसे दुरग्रे ।
ततो राष्ट्रम्बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसं नमन्तु ॥४१॥ काण्ड १९

से होती थी। उस समय वन्य पशुओंसे अपनी कृषिसम्पत्ति और बाल-बच्चोंकी रक्षा करनेके लिये पारस्परिक सहयोग प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप रक्षक वर्ग वा बल और पञ्चायतकी सृष्टि हुई। यही ग्राम पञ्चायत राष्ट्रशक्ति हुई। तत्पश्चात् कई छोटे राष्ट्र आपसमें मिलकर बड़े राष्ट्र बन गये।

छोटे राष्ट्रोंकी सीमा किसी नदी, जंगल अथवा बड़, पाकड़, सेमल, शमी आदि वृक्षसे निर्धारित होती थी अर्थात् छोटे राष्ट्रोंकी सीमा बहुधा काल्पनिक होती थी और है। बड़े राष्ट्रोंकी सीमा बहुधा प्राकृतिक होती थी और है और पर्वत, नदी वा समुद्रसे बनती थी तथा है। कहीं कहीं बड़े राष्ट्रोंकी सीमा भी काल्पनिक देखी जाती है, जैसे भारतकी पश्चिमोत्तर सीमा। यह फिर भी फ्रान्स और बेलजियमकी सीमासे अच्छी है जो ब्रिटिश भारत और नैपालकी सीमाकी भाँति समझौतेसे स्थिर हुई है।

राष्ट्रोंकी सीमाएं

वर्तमान समयमें वह देश वा भूभाग एक राष्ट्र समझा जाता है, जिसमें एकसी राज्यव्यवस्था प्रचलित हो। धर्म, जाति और भाषा राष्ट्रकी एकताके लक्षण माने जाते हैं सही, पर इनके अभावमें राष्ट्रीयतामें हानि नहीं होती। अमेरिकन संयुक्त राज्योंमें अनेक जातियों और धर्मसम्प्रदायोंका निवास है। फिर भी वे एक राष्ट्र हैं। इसी प्रकार छोटेसे स्वीजलैंडमें तीन भाषाएँ बोली जाती हैं और उनमें राजकाज चलता है, पर वह एक राष्ट्र है। ऐसे ही कई वर्ष पहलेतक जर्मनी और आस्ट्रिया दोनो ट्यूटन जातिके होनेपर भी दो स्वतंत्र राष्ट्र थे। ऐसे ही भारत और नैपालके धर्म, संस्कृति और जाति एक हैं, पर राष्ट्र दो हैं।

राष्ट्रका रूप

---

४ दण्ड

जिस उपायसे मनुष्य असदाचारसे निवृत्त और सदाचारमें प्रवृत्त किया जाता है, उसे दण्ड कहते हैं और जिससे जन्तुका दमन किया जाता है, उस उपाय अथवा साधनका नाम भी दण्ड ही है।[1] शुक्रनीतिसारकी दण्डकी यह परिभाषा व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत दण्डके सभी रूप आ जाते हैं। जिस डंडे या लाठीसे किसीको मारते हैं, वह तो दण्ड है ही; परन्तु जिस उपायसे अप्रिय कार्य रोका जाता है, वह भी दण्ड है। यह दो प्रकार का है। एक किसी पूर्वकृत अपराधके लिये शास्ति देता और दूसरा भविष्यमें कोई अपराध होनेकी रोक करता है। किसीको दण्डनीय ठहरानेमें निर्णायकको कोई आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि वह तो रोगकी चिकित्साकी भांति दोष दूर करनेके लिये होता है। गर्गने ठीक ही कहा है कि अपराधियोंको जो दण्ड दिया जाता है, वह राष्ट्रकी विशुद्धिके लिये है, क्योंकि उसके बिना मात्स्य न्याय होता है[3] परन्तु दण्डकी सामर्थ बहुत अधिक है और भीष्म का यह कहना बावन तोले पाव रत्ती ठीक है कि जिसके अधीन सब कुछ है, वह केवल दण्ड ही है।[4]

दण्ड क्या है?

महाभारतमें दण्डका अलंकार रूपसे बहुत अर्थगर्भ वर्णन हुआ है। उसके दो रूप बताये गये हैं एक भीतरी और दूसरा बाहरी। भीतरी रूप यह

---

१ निवृत्तिरसदाचाराद्दमनं दण्डतश्च यत्।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः॥ ४०॥ अ० ४

२ चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः॥१॥ दण्डनीतिसमुद्देश, नीति वाक्यामृत।

३ अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये।
विना येन न सन्देहो मात्स्यन्यायो प्रवर्त्तते॥

४ यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः॥८॥
शान्तिपर्व, अ० १२१

महाभारतमें दण्ड का रूपक

है कि दण्ड परमेश्वर है और अग्निसे उत्पन्नके समान उसका रूप है अर्थात् दुष्टको सन्तप्त करनेके लिये क्रूरता में अग्निके सदृश है। बाहरी रूप यह है कि नील कमल-के समान वह श्याम है। उसकी चार दाढ़ें, चार भुजाएं आठ पैर, अनेक नेत्र, सशंक कान और खड़े रोम हैं। वह जटाधारी और दो जीभोंवाला है; उसका चेहरा तांबेसा है और वह बाघम्बर पहने है। दुराधर दण्ड नित्य इस प्रकार उग्रमूर्ति धारण किये रहता है। असि (तलवार) धनुष, गदा, शक्ति, त्रिशूल, मुग्दर, शर, मुशल, परशु, चक्र, पाश, दण्ड और तोमर रूपोंसे दण्ड किसीको छिन्न किसीको भिन्न किसीको मार और किसीको धाड़ करता रहता है। अनन्तर दण्डके असि, विशसन (खांडा), धर्म, तीक्ष्ण वर्म, दुराधर, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, मंत्र, धर्मपाल, अक्षरदेव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असंग, रुद्रतनय, ज्येष्ठमनु और शिवङ्कर नाम बताये हैं।

टीकाकारकी व्याख्या

दण्डके इस बाहरी रूपके अलंकारको टीकाकार नीलकण्ठ यों समझाते हैं कि चार दाढ़ोंका अर्थ चार प्रकारका दण्ड, मानभंग (अपमान), धनहरण (जुर्माना), मार (शारीरिक दण्ड) और वध वा प्राण दण्ड है। चार भुजाओंका अभिप्राय चार प्रकारसे धन ग्रहण है, यथा प्रजा और सामन्तोंसे कर लेना, अर्थीकी भाषा (बयान), द्रव्यसे दूना अर्थ दान (जमानत), प्रत्यर्थीसे भाषा के द्रव्यके बराबर द्रव्य दान और सम्पत्तिका हरण। आठ पैरोंसे मामले की आठ सीढ़ियोंका प्रयोजन है; जैसे, अर्थी वा वादीका आवेदन (अर्जी-दावा), भाषा (प्रत्यर्थीके सामने अर्थीका बयान), सम्प्रतिपत्ति (प्रत्यर्थीका

---

१ दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥१४॥
नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपान्नैकनयनः शङ्कुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥१५॥
जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः ।
एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यो दुराधरः ॥१६॥
दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः ।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ॥२३॥ शान्तिपर्व अ० १२१

ऋण लेना स्वीकार करना), मिथ्योत्तर (जवाबदावा कि दावा झूठा है), कारणोत्तर (जवाबदावा कि ऋण लिया था, पर चुका दिया), प्राङ्न्यायोत्तर (जवाबदावा कि यही मामला खारिज हो चुका है), प्रतिभूःक्रिया (अर्थी या प्रत्यर्थीके जामिनोंका यह कहकर रुपया देना कि इस मामलेमें हम हार गये) और फलसिद्धि वा निर्णय। अनेक नयनोंका अर्थ राजा मन्त्री, पुरोहित, पार्षद आदि हैं। शङ्कुकर्णका अर्थ तीक्ष्ण कान हैं, अर्थात् उसे अवश्य ही सुनाई देगा। खड़े रोमका अभिप्राय सर्वदा उत्साहपूर्ण रहना है। जटाधारीका अर्थ मामलेके पंच हैं। दो जीभों का कारण अर्थीप्रत्यर्थीके वचनोंका वैषम्य है तथा ताम्रास्यका अर्थ है अग्निके समान चेहरा तथा बाघम्बर पहने हुए हैं अर्थात् बाघकी भाँति भयप्रद है। इस वर्णनके बाद भीष्मने बताया है कि दण्ड ही भगवान् विष्णु तथा दण्डही नारायण और प्रभु है और नियत महत् रूप धरने के कारण वह महापुरुष कहाता है। शुक्रनीतिसारके अनुसार निर्भर्त्सन (झिड़कना), द्रव्यहरण, नाशन, बन्धन, ताड़न, निर्वासन, उलटी हजामत बनवा देना, असत् यान (गधेपर सवार कर घुमाना), अङ्ग काटना, बध करना, अंकन (दागना) और युद्ध दण्डके भेद हैं।

मनुस्मृतिके अनुसार दण्डोत्पत्ति

मनुस्मृतिके अनुसार राजाकी सहायताके लिये परमेश्वरने पहले ही अर्थात् राजाके जन्मके पहले ही अपनी आत्मासे ब्रह्मतेजोमय धर्म वा दण्डको उत्पन्न किया, जिसपर सब कुछ अवलम्बित है। इसी दण्डके भयसे चराचर प्राणिमात्र अपने धर्म से नहीं डिगते। देश, काल, शक्ति और विद्याका विचार करके राजा उसको (दण्डको) अन्यायियोंपर चलावे। वह दण्ड ही वस्तुतः राजा है, वही नेता है, वही पुरुष है और वही मनुष्यों के चारों आश्रमोंको ठीक रखनेवाला धर्मका प्रतिभू (जामिन) है। दण्ड ही समस्त प्रजाको आज्ञा देता है और वही रक्षा करता है। जब सब सोते हैं, तब दण्ड ही जागता है। दण्डको ही बुद्धिमान् लोग धर्म कहते हैं। जब समझ बूझकर अच्छी तरह दण्ड ग्रहण किया जाता है, तब प्रजामें प्रसन्नता होती है। परन्तु जब बिना विचारके ही दण्ड ग्रहण किया जाता है, तब सबका नाश होता है। जहां श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक दण्ड विचरता है, वहां प्रजा व्याकुल नहीं होती। दण्ड ही महत्तेज है, जिसका

प्रयोग करना नीति शास्त्रानभिज्ञ मनुष्यके लिये कठिन है, क्योंकि धर्मसे विचलित राजाको भी वह बान्धवों सहित मार डालता है।[1]

कौटिल्यका भी कहना है कि पुत्र और शत्रुको उनके अपराधके अनुसार जो राजा ठीक दण्ड देता है, वही इस लोक और परलोककी रक्षा करता है।[2] दण्डके द्वारा राजा चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लोगोंको अपने अपने धर्म कर्ममें ठीक रखकर उचित मार्गसे चलाता है।[3] कौटिल्यने दण्डके तीन भेद करके उनके फल भी बताये हैं। एक सुविज्ञातप्रणीत

दण्डके विषयमें कौटिल्यका मत

---

१ तस्यार्थे सर्व भूतानां गोप्तारं धर्म मात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥१४॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥१५॥
तं देशकालौशक्तिञ्च विद्याचावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ॥१६॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥
दण्डः शास्ति प्रजा सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वां रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥

* * *

यत्र श्यामो लोहिताक्षश्च दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥ मनुस्मृति अ० ६

२ दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं घृतः ॥अर्थ० अधि० ३ अ० १

३ चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्त्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥१९॥ अर्थ०, अधि० १ अध्याय ४

अर्थात् नीतिशास्त्रके ज्ञाताका दिया हुआ दण्ड है जिसका फल प्रजाको धर्म, अर्थ और काममें लगाना है। दूसरा दुष्प्रणीत अर्थात् काम, क्रोध और अज्ञानसे दिया हुआ दण्ड है जिससे वानप्रस्थ और सन्यासी भी कुपित होते हैं, गृहस्थोंकी तो बात ही क्या है? तीसरा अप्रणीत अर्थात् जहां दण्ड देना चाहिये, वहां न देना है। इसका फल मात्स्य न्याय है; दण्डधरके अभावमें सबल निर्बलको खाते हैं।'[1] परन्तु जब दण्डद्वारा सबलसे निर्बलकी रक्षा की जाती है, तो यह भी सबल हो जाता है।

अबतक जो बताया गया है, उससे दण्डके तीन रूप सामने आते हैं एक केवल दण्ड, दूसरा बल और तीसरा व्यवहार। बलका प्रयोग कामन्दकने दण्ड अर्थमें किया भी है।[2] महाभारतके अनुसार दण्डका ही नाम धर्म और व्यवहार है। इसलिये दण्डके तीन अर्थ हुए

दण्डके तीन रूप

(अ) बल वा सेना, (आ) व्यवहार वा धर्म व्यवस्था और (इ) दुष्टोंका नियंत्रण, निग्रह वा दमन। बलके विना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, इसीलिये महाभारतमें इन्द्र मान्धातासे कहते हैं कि दुर्बलकी रक्षाके लिये ही ब्रह्माने बलकी सृष्टि की है, क्योंकि बलहीनकी रक्षामें बड़ा पुण्य है।[3] शुक्रनीतिसार की यह बात अक्षरशः सत्य है कि बलियोंके वशमें सभी रहते हैं और दुर्बलके सभी शत्रु होते हैं। छोटे लोगोंकी जब यह बात है, तब राजाओं का तो कहना ही क्या है?[4] शुक्राचार्यका वचन है कि धन और प्रिय

---

१ सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजां धर्मार्थकामैर्योजयति ॥१४॥ दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् ॥१५॥ अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। १६॥ बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥१७॥ तेन गुप्तः प्रभवतीति ॥१८॥ अर्थ० अधि० १ अध्याय ४

२ स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥१॥ नीतिसार सर्ग ४ प्र० ७

३ दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलन्तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१२॥ शां० प० अ० ९१

४ बलिनो वशगास्सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः।
भवन्त्यल्प जनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥८६७॥ अ० ४

वचनोंसे पहलेका अपनाया हुआ आपत्कालमें जो राजाकी रक्षा करता है, वह वल कहाता है।[1] यह परिभाषा अवश्य ही किसी प्रकारकी सेना की ओर संकेत कर रही है।

बलके दो भेद और सैन्य वलके दो प्रकार

वल दो प्रकारका होता है एक स्वराष्ट्रमें प्रजाकी त्रुटियों वा अपराधों के लिये दण्ड देनेकी शक्ति और दूसरा परराष्ट्रसे युद्ध करनेका वल वा सेना। सैन्य वलके दो रूप होते हैं एक चतुरंग वल और दूसरा अष्टाङ्ग वल। गज, रथ, अश्व और पत्ति (पदाति वा पैदल) चतुरङ्ग वल है और इसके सहित नाव, विष्टि, दैशिक और चर मिलकर अष्टांग वल कहाते हैं। नावसे जहाजी या नावोंके वेड़ेका अर्थ समझना चाहिये, जिसे वर्तमान समयमें नौवल कहते हैं। दैशिक योद्धाओंके शौर्यको उत्तेजन और उन्हें कर्तव्य पालनका उपदेश देते हैं। विष्टि माल ढोनेवाले या वारवरदार होते हैं और चर तो भेदिये होते ही हैं। आधुनिक शब्दावलीमें विष्टिको ट्रैन्सपोर्ट कोर, दैशिकको उपदेशक और चरको सीक्रेट सर्विस कहना उपयुक्त होगा। दैशिकको नीलकंठने उपदेष्टा वा गुरु कहा है। सम्भवतः आजकल गोरी सेनामें जैसे धर्मोपदेशके लिये पादरी रहते हैं, वैसे ही ये भी हों अथवा उनसे भिन्न सैनिकोंको कर्त्तव्य परायणताका उपदेश देनेके लिये रखे जाते हों।

चतुरंगिनी सेना और उसके भेद

शुक्रनीतिके अनुसार शस्त्रास्त्रसे युक्त मनुष्योंका समूह सेना कहाता है और स्वगमा तथा अन्यगमा उसके दो भेद हैं। जो सेना सवारियोंपर चलती है जैसे हाथी, रथ और घोड़ेवाली वह अन्यगमा और जो अपने पैरों चलती है वह स्वगमा है। सेनाके विना न राज्य है न धन है और न पराक्रम है।

---

१ धनेन प्रियसम्भाषैर्यतश्चैव पुरार्जितम्।
आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षेत्तद्वलमिति स्मृतम्॥

२ रथा नागा हयाश्चैव पादाश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव दैशिका इतिचाष्टमम्॥४१॥ शा० अ० ५९

दैवी, आसुरी और मानवी भेद से और उसके तीन प्रकार हैं और पिछली सेनासे उत्तरोत्तर पहली बलसम्पन्न होती है।[1]

---

1 सेनाशस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका।
स्वगमान्यगमा चेति द्विधा सैव पृथक् त्रिधा ॥८६४॥
दैव्यासुरी मानवी च पूर्वं पूर्वं बलाधिका।
स्वगमा या स्वयं गंत्री यानगाऽन्यगा स्मृता ॥८६५॥
पादातं स्वगमं चान्यद्रथाश्वगजगं त्रिधा।
सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः ॥८६६॥ अ० ४

५ राजा

राज्यव्यवस्था सुचारु रूपसे चलानेके लिये प्रजा जिसे अपना मुखिया वा नेता निर्वाचित करती है, वह राजा वा स्वामी कहाता है। आजकल क्रमागत राजा ही अधिक देखे जाते हैं, परन्तु कोई राजपरिवार, 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' शासन नहीं करता। इतिहास बता रहा है कि बड़े बड़े प्रतापी राज-घरानोंको तबाह ही नहीं होना पड़ा, वरञ्च राजाओंको सामान्य मनुष्यकी भांति और कभी कभी उससे भी गयी बीती दशामें दिन काटने पड़े हैं और पड़ते हैं। दिल्लीके मुगल बादशाह तथा लखनऊके आखिरी बादशाह वाजिदअलीशाहको भारत सरकारसे प्राप्त वृत्तिपर निर्वाह करना पड़ा है। रूसके प्रबल प्रतापी जार निकोलायको राजा वेनकी भांति देह त्याग करना पड़ा तथा तुर्कीके सुलतान छठे मुहम्मदको और अफगानिस्तानके शाह अमानुल्लाह खांको तथा हालहीमें रूमानियाके बादशाह कैरोलको जान लेकर स्वदेशसे भागना पड़ा। इसके विपरीत ईरानके प्रधान सेनापति रजा खां पहलवी शाह रजाशाह पहलवी प्रसिद्ध होकर ईरानके सिंहासनपर विराज रहे हैं। इसलिये राजाओंकी न तो खान होती है और न कारखाना।

राजा किसे कहते हैं ?

प्रारम्भमें सैकड़ों हजारों वर्षोंतक लोगोंने बिना राजाके काम चलाया होगा। पहले राजा न था, पर पीछे लोगोंने अपनी कठिनाइयां दूर करनेके लिये अपने ही एक आदमीको अपनी शक्ति देकर राजा बना दिया। अथर्ववेदमें लिखा है कि प्रारम्भमें यह (समस्त जनपद वा राष्ट्र) विराट् (राजासे रहित) था। इसे देखकर लोग भयभीत हुए कि क्या यह ऐसा ही रहेगा।[1] ऐतेरेय ब्राह्मणमें बताया गया है कि जब असुरों और देवताओंकी लड़ाइयोंमें देवता

---

१ विराड् वा इदमग्र आसीत्।
तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यति। १॥ सू० १० कांड ८

हार गये, तब इन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा न होनेसे हमें असुर हरा देते हैं। अब आओ, हम (सब मिलकर) एक राजा निर्वाचित करें। सब ने इसे स्वीकार किया और सोमको राजा बनाया।[1] मनुस्मृतिमें अराजक अवस्थाकी चर्चा इस प्रकार की गयी है कि इस अराजक लोकमें (देशमें) सब लोग भयसे चारो ओर भागने लगे, तब इसकी रक्षाके लिये परमेश्वरने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेरके अंश लेकर राजाकी सृष्टि की।[2] महाभारतमें जब युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा कि सब मनुष्योंके हाथ, पैर, नाक, कान, गर्दन, भुजाएं और बुद्धि होती है और सभी समानभावसे सुख दुःख भोगते हैं, तब उस एक मनुष्यमें ऐसी क्या विशेषता होती है जो औरोंका शासन करता है? उत्तरमें भीष्मने कहा कि हे नरशार्दूल! सुनो, जिस प्रकार सत्युगमें राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था न राजा था, न दण्ड था न दाण्डिक (दण्ड देनेवाला), धर्मसे ही सब प्रजा परस्पर की रक्षा करती थी।[3]

पहले राजा नहीं था, पीछेसे बनाया गया इस विषयमें तो कोई मतभेद नहीं है। परन्तु जहां मनुस्मृति कहती है कि परमेश्वरने राजाकी सृष्टि की

---

१ देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त त एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशियतेत या तदेश्वरा ह्या नृणा कर्त्तास्ते देवा अब्रुवन्न राजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति ते सोमं राजानमकुर्वंस्ते सोमेन राजा सर्वादिशो जयन्नेष सोम राजा ॥१।३।(१४)

२ अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥४॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥५॥ अ० ७

३ नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥१३॥
नैवं राज्यन्नराजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥१४॥ शां० अ० ५९

वहाँ ऐतरेय ब्राह्मण बताता है कि लोगोंने आप राजा चुना। ऐतरेय ब्राह्मण सनातनमतानुसार वेद ही है, इस- लिये श्रुति स्मृतिके विरोधमें श्रुति ही प्रमाण है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मणमें देवताओंके राजा चुननेकी बात कही गयी है, मनुष्योंके नहीं। इस लिये महाभारतके शान्तिपर्वके ५९ वें अध्यायका वर्णन देखना चाहिये।

महाभारतके अनुसार राजत्व-का विकास

उसमें लिखा है कि धर्मसे परस्परकी रक्षा करते करते जब लोग थक गये और मोहमें फँस गये, तो पहले ज्ञान फिर धर्मने उनका साथ छोड़ दिया। मोहके कारण वे लोभी, विषयाभिलाषी और कामी हो गये। विषयानुरक्त होनेके कारण उन्हें कर्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहा। अगम्यागमन और भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान न रहनेसे यज्ञ और वेद लुप्त हो गये। देवताओंको यज्ञका भाग न मिलनेसे उन्होंने ब्रह्मासे पुकार मचायी। ब्रह्माने उन्हें आश्वासन देकर एक लाख अध्यायका नीतिशास्त्र बना दिया, जिसमें धर्मार्थकाममोक्षका वर्णन किया। बाद देवता प्रजापति विष्णुके पास जाकर बोले कि मनुष्योंमें कौन एक मनुष्य श्रेष्ठ होगा यह बताइये। विष्णुने विचार कर विरजा नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया। परन्तु यह संन्यासी हो गया, क्योंकि पृथ्वीका राज्य नहीं चाहता था। इसका पुत्र कीर्तिमान् मर गया और इसका पुत्र कर्दम तपस्वी हो गया। कर्दमका पुत्र अनंग साधु, प्रजारक्षक और दण्डनीतिविशारद हुआ। अनंगके पुत्र अतिबलने महाराज्य पाया, पर वह इन्द्रियपरायण हुआ। उसने मृत्युकी मानसी पुत्री तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध सुनीथासे वेनको उत्पन्न किया। वेन अधर्म और रागद्वेषवर्ती हुआ, इसलिये ऋषियोंने उसे मंत्रपूत कुशोंसे मार डाला। फिर ऋषियोंने मंत्र पढ़कर उसकी दाहनी जांघ मथी, तो लाल आंखोंवाला कोयलेकी नाईं काला कलूटा और नाटा मनुष्य उत्पन्न हुआ। ब्रह्मवादी ऋषियोंने इससे कहा निषीद (बैठ)। इससे वन पर्वतोंमें रहनेवाले क्रूर स्वभावके निषाद और जो विन्ध्य पर्वतमें रहे, वे एक लाख म्लेच्छ हुए। अनन्तर महर्षियोंने दाहना हाथ मथा तो दूसरे इन्द्रकी भांति स्व-रूपवान् कवचसे युक्त, धनुषबाणधारी, वेदवेदाङ्गका ज्ञाता और धनुर्वेद का पारदर्शी पुरुष उत्पन्न हुआ। उस नरश्रेष्ठको समग्र दण्डनीतिका ज्ञान था। अनन्तर उस पृथुने हाथ जोड़कर ऋषियोंसे कहा कि धर्मार्थदर्शिनी

मेरी सुसूक्ष्मा बुद्धि उत्पन्न हुई है। मुझे आप संक्षेपसे बतावें कि मैं क्या करूं। इसमें सन्देह नहीं कि आप जो अर्थयुक्त कार्य मुझे बतावेंगे, वह मैं निश्चय ही करूंगा। तब वहां उन देवताओं और परमर्षियोंने कहा कि जो धर्मयुक्त हो, वही कार्य तुम निःशंक हो करो। कौन प्रिय है और कौन अप्रिय है इसका विचार छोड़कर तुम सब प्राणियोंसे समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ और मानका विचार दूरसे ही त्याग दो। जो मनुष्य संसार में (राष्ट्रमें) धर्मसे विचलित हो, शाश्वत धर्मका विचार करके तुम उसे अपने बाहुबलसे रोको। मन, वाणी और कर्मसे यह प्रतिज्ञा करो कि ब्रह्म समझकर मैं इस पृथ्वीका पालन करूंगा। जो नित्य धर्म दण्डनीतिमें कहा गया है, निःशङ्क हो उसका पालन करूंगा। हे विभो! यह तुम जानो कि ब्राह्मण अदण्ड्य हैं और वर्णसंकरतासे मैं लोककी रक्षा करनेवाला हूँ। तब वैन्य पृथुने देवताओं, ऋषियों और पुरोहितोंसे कहा कि महाभाग ब्राह्मण मेरे नमस्कारके योग्य हैं। इसपर उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने 'एवमस्तु' कहा और शुक्र पृथुके पुरोहित हुए।'

राजाके निर्वाचनके विषयमें दूसरी आख्यायिका शान्ति पर्वके ६७ वें अध्यायमें है। इसमें भी युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें भीष्मने सुना हुआ इतिहास बताया है। वे कहते हैं कि अराजक राज्यकी प्रजा वैसे ही नष्ट हुई थी, जैसे जलमें बड़ी मछली छोटी-को खा जाती है। जब इस प्रकार लोगोंका नाश होने लगा, तब सबने मिलकर निश्चय किया कि हम लोगोंमें जो कटुभाषी, उद्दण्ड, परस्त्रीगामी और परधनहारी होगा, वह त्याज्य या बहिष्कृत

राजाका ऐतिहासिक निर्वाचन

---

१ ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मंत्रतः।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वांगः पुरुषो भुवि ॥९५॥
दग्धस्थूणा प्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्द्धजः।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥९६॥
तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥९७
भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥९८॥

समझा जायगा। इस प्रकार सब वर्णोंमें विश्वास स्थापन करनेके लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्माके पास जाकर बोले कि हम लोगोंमें राजा न रहनेसे हमारा दुःख बढ़ रहा है, इसलिये आप हमें राजा दीजिये, जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा प्रतिपालन करे। इसपर उन्होंने मनुको आज्ञा दी और सब लोगोंने मनुका अभिनन्दन किया। मनुने कहा

कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः।
वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥९९॥
तं दण्डनीतिः सकलाश्रिता राजन् नरोत्तमम्।
ततश्च प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षीस्तानुवाचहि ॥१००॥
सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥१०१॥
यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥१०२॥
तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥१०३॥
प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥१०४॥
यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्म मवेक्षता ॥१०५॥
प्रतिज्ञाञ्चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत ॥१०६॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥१०७॥
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकञ्च सङ्करात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परन्तप ॥१०८॥
वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥१०९॥
एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः।
पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥११०॥ शान्तिपर्व, अ० ५९

कि मैं पापसे डरता हूँ और राजकार्य बड़ा कठिन है, विशेषकर मनुष्योंमें जो नित्य मिथ्याचार करते हैं। भीष्म बोले, अनन्तर प्रजाने उनसे कहा कि आप न डरिये। पापाचरण करनेवाला ही उसका फल भोगेगा। हम लोग आपकी कोशवृद्धिके लिये आपको अपने पशुओं और सुवर्णका पचासवाँ भाग और धान्यका दसवां भाग देंगे। जिस कन्याका सबसे अधिक यौतुक निर्दिष्ट होगा, उस सुन्दरीसे आपका विवाह कर दिया जायगा। जैसे इन्द्रके पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनोंपर चढ़े हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुष आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुवेर यक्षोंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही बली, प्रतापी और दुराधर्ष आप हमारी रक्षा करें। राजासे रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी, उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्मसे बलवान् होकर आप हम लोगोंकी रक्षा करें, जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं। आप सूर्यकी भाँति शत्रुओंको तपाते हुए विजयके निमित्त यात्रा कीजिये और शत्रुओंका अभिमान नष्ट कीजिये। आपकी सदा जय हो।'

---

१ अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥१७॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः॥१८॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः॥१९॥
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्त्ताः पितामहम्॥२०॥
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्॥२१॥
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः।

मनुरुवाच।

बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा॥२२॥

भीष्मउवाच।

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति।

इस आख्यायिकासे स्पष्ट होता है कि मात्स्यन्यायसे दुखी होकर लोगोंने राजाकी खोज की। आपसके व्यवहारके लिये नियम तो उन्होंने बना लिये थे, परन्तु लोगोंको नियम पालन करनेके लिये बाध्य करानेवाले नियामकके अभावमें इनसे लाभ नहीं हुआ। इसलिये उन्होंने ब्रह्मासे परामर्श किया कि हमें कोई राजा होने योग्य मनुष्य बताइये। ब्रह्माने मनु को आज्ञा दी कि तुम राजा बन जाओ। मनुने जब इनकार किया, तब प्रजाने कहा कि आप हमारे योगक्षेमवाह बनिये। इसके बदलेमें हम आपको अपने पशुओं और धान्यका दशमांश देंगे। इस समय राजा और प्रजाके कर्त्तव्योंका स्पष्ट उल्लेख हुआ। राजा प्रजाकी रक्षा करे और इसके बदले प्रजा उसे कर दिया करे। राजाका काम हुआ प्रजाकी रक्षा करना और प्रजाका काम हुआ इसके लिये कर रूपसे उसे वेतन देना। परन्तु कौटिल्यने मनुके निर्वाचनके विषयमें ब्रह्माको बीचमें नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि जब प्रजा मात्स्यन्यायसे अभिभूत थी, तब उसने वैवस्वत मनुको राजा बनाया और उसके लिये अन्न का छठा तथा पण्य और सोनेका दसवां भाग कर रूपसे देनेकी व्यवस्था

कौटिल्यका समर्थन

पशूनामधि पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥२३॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥२४॥
मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥२५॥
स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुवेर इव नैर्ऋतान् ॥२६॥
यञ्च धर्म्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्म्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥२७॥
तेन धर्म्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥२८॥
विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥२९॥ शा० प० अ० ६७

की। इसके बदले वे प्रजाके योगक्षेमवाह और सुप्रयुक्त दण्डके अभावमें पापोंके लिये उत्तरदाता बने।[1]

अब यह विचारना चाहिये कि ईश्वरद्वारा राजाकी सृष्टिकी जो बात मनुस्मृतिमें कही गयी है, उसका रहस्य क्या है। मुख्य कारण राजाको

मनुस्मृतिके रूपक की व्याख्या

बहुत अधिक महत्त्व देना और गौण राजाके कर्त्तव्योंका निर्देश करना है। मनुस्मृतिमें ही बताया गया है कि राजा आठ लोकपालोंका शरीर धारण करता है और इस प्रकार रहस्य खोल दिया गया है कि उक्त लोकपालोंके समान राजाको आचरण करना चाहिये। चार महीने जिस प्रकार इन्द्र वर्षा करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रकासा आचरण करता हुआ राजा अपनी प्रजामें उसके अभिलषित पदार्थोंकी वर्षा करे। जिस प्रकार आठ महीने सूर्य अपनी किरणोंसे जल सोखता है, उसी प्रकार राजा राष्ट्रसे कर लिया करे। जिस प्रकार वायु सब प्राणियोंमें प्रवेश कर संचार करता है, उसी प्रकार दूतोंद्वारा सबमें प्रवेश करना चाहिये। जिस तरह प्रिय अप्रियका विचार न कर यम यथासमय सबको ले ही जाता है, उसी तरह राजा अपराध करनेवाली प्रजाका नियंत्रण करे। जिस तरह वरुणके पाशसे बँधा हुआ यह जगत् दिखता है, उसी तरह राजा पापियोंको बांधकर वरुणका काम करे। जैसे पूर्णचन्द्र देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे ही यदि राजाको देख प्रजा प्रसन्न हो, तो वह राजा चन्द्रमाका सा आचरण करता है। पापियोंके लिये नित्य ही प्रतापयुक्त और तेजस्वी होना और दुष्ट सामन्तोंका भी दमन करना अग्निका काम है। पृथ्वी जैसे सब प्राणियोंको समान रूपसे धारण करती है, वैसे ही राजा सबका पालन करता है।[2]

---

१ मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥६॥ धान्य षड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥७॥ अर्थशास्त्र अधि १ अ० १३।

२ वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥
अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।

महाभारत और शुक्रनीतिसारमें भी राजाके कई देवताओंके रूप धारण करनेकी चर्चा है। महाभारतमें कोशलाधिपति राजा वसुमनासे बृहस्पतिने कहा है कि जब झूठसे धोखा खाकर अति प्रचण्ड तेजके प्रभावसे राजा मिथ्यावादीको जलाता है, तब वह अग्नि-रूप होता है। जब भेदियोंके द्वारा लोगोंका आचरण देखता और क्षेम करता हुआ घूमता है, तब वह सूर्य होता है। जब सैकड़ों पापी जनोंको क्रोध करके पुत्र पौत्र और परिवार सहित नष्ट करता है, तब वह मृत्यु होता है। जब वह अधर्मियोंको दण्ड देता और धार्मिकोंपर कृपा करता है, तब वह यम होता है। जब उपकारियोंको धन और स्त्री देकर प्रसन्न करता है और अपराधियोंके विविध रत्न छीनता है, तब वह कुवेरका काम करता है।[1] शुक्रनीतिसारमें इन्द्र, वायु,

महाभारत और शुक्रनीतिसार में रूपक का समर्थन

तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥२०५॥
प्रविश्य सर्व भूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चरैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥२०६॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥२०७॥ मनुस्मृति अ० ६

१ कुरुते पञ्च रूपाणि कालयुक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥४१॥
यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥४२॥
यदा पश्यति चारेण स भूतानि भूमिपः।
क्षेमञ्च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥४३॥
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान्।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥४४॥
यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णदण्डैर्नियच्छति।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥४५॥
यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६॥

रवि, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुवेरके समान राजाका आचरण वताया गया है। उसका कहना है कि वायु गन्धका प्रेरक है, वैसे ही राजा सत् और असत् कर्मका प्रेरक होता है। जैसे सूर्य अन्धकारका नाश कर प्रकाश करता है, वैसे ही राजा धर्मका प्रवर्त्तक और अधर्मका नाशक है। दुष्कर्मके लिये दण्डदाता होनेके कारण राजा यमके समान दण्डकारक है। अग्निके समान राजा पवित्र है और रक्षाके लिये सबसे भाग वा कर लेता है। जैसे वरुण जलसे सब रसोंका पोषण करता है, वैसे ही राजा अपने धनसे प्रजाका पोषण करता है। अपनी किरणोंसे जैसे चन्द्रमा लोगोंको आनन्द देता है, वैसे ही राजा अपने गुणकर्मोंसे प्रजाको आनन्द देता है।[१] इस प्रकार मनुस्मृति और महाभारत तथा शुक्रनीतिसारमें कोई भेद नहीं परिलक्षित होता। जो वर्णन है, वह सर्वथा आलंकारिक है। वस्तुतः ईश्वरने किसीको राजा नहीं बनाया, प्रजाने ही उक्त देवकर्मोंकी आवश्यकता समझी और इसलिये उसके देवांश होनेकी कल्पना कर ली। कौटिल्यने भी चारोंसे राजाको यम और इन्द्र कहलवाया है, क्योंकि यह निग्रह और अनुग्रह करता है। क्या आश्चर्य है कि ऐसी ही बातोंसे राजाके ईश्वरकृत वा देवांश होनेकी कल्पना दृढ़ हो गयी हो ?

यह तो निर्विवाद है कि पृथु और वैवस्वत मनुको प्रजाने ही राजा बनाया था। अथर्ववेदमें भी राजा बनानेवालोंका उल्लेख है। एक मंत्र

श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥४७॥ शान्तिपर्व, अ० ६८

१ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्यच।
चन्द्रवित्तेशयोश्चापि मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥७१॥
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशस् तमसो रविः ॥७२॥
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद्दण्डकृद्यमः।
अग्निरशुचिस्तथा राजा रक्षार्थे सर्वभागभुक् ॥७॥
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः।
करैश्चन्द्रोऽह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः ॥७४॥ शुक्रनीतिसार अ० १
७१ संख्यक श्लोक मनुस्मृतिके ७ वें अध्यायके ४ थे श्लोककी हूबहू नकल है।

में कहा गया है कि 'हे पर्ण, राजाओं, राजकर्ताओं, सूतों और ग्रामणियों वा गाँवके मुखियों तथा सब लोगोंको तू मेरे अनुकूल कर।'[1] रामायणमें भी 'राजकर्तारः' पद आया है, जिसका अर्थ 'राजा बनानेवाले' है। जब राजा दशरथ मर चुके थे और अयोध्यामें कोई राजा न रह गया था, तब दूसरे दिन राजा बनानेवाले द्विजाति एकत्र होकर सभामें गये थे।[2] यह निःसंशय है कि बहुत कालतक अथर्ववेदके समयसे लेकर रामायणकी रचनाके समयतक लोगोंके मनपर यह अंकित था कि राजा बनाये जाते हैं और उनके बनानेवाले मनुष्य ही होते हैं।

वेद और रामायण-में भी राजकर्त्ताओं-का उल्लेख

आरंभमें न तो राजा था और न राज्यकी ऐसी व्यवस्था ही थी; परस्परकी सहायतासे लोगोंका काम चलता था। समाजकी यह व्यवस्था बहुत दिनोंतक नहीं चल सकी। नियमभंगकारी पैदा हो गये। दुर्बलको सबल सताने लगे। मात्स्यन्याय हो गया। इस अवस्थाको दूर करनेके लिये एक दाण्डिक वा दण्डधरका प्रयोजन हुआ। तब सज्जनोंने मिलकर अपने ही एक साथीको राजा निर्वाचित कर उसके शासनाधीन रहना स्वीकार किया। कौटिल्यने स्पष्ट लिखा है कि मात्स्यन्यायसे अभिभूत प्रजाने वैवस्वत मनुको राजा बनाया।[3] सारांश राजाको प्रजा चुनती थी, वह ईश्वरका मनोनीत नहीं होता था।

राजाको प्रजा चुनती थी।

दक्षिण भारतके केरल देशकी[4] उत्पत्तिके विषयमें 'केरलोत्पत्ति' नामका एक ग्रन्थ मिला है, जो मलयालम भाषामें है। दूसरा ग्रन्थ है 'केरल माहात्म्य' एक प्रकारकी संस्कृतमें है। केरलोत्पत्तिके अनुसार

---

१ ये राजनो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन पर्णमह्यं सर्वान् कृण्वभितोजनान्। ३।५।६
राजकृतः पदका अर्थ ग्रिफिथ साहबने भी king-makers बताया है।

२ समेत्य राजकर्तारः सभामीयुः द्विजातयः। अयोध्याकांड सर्ग, ६७

३ मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥६॥ अधि० १ अध्याय १३

४ प्राचीन केरलमें वर्त्तमान मलाबारके सिवा कोचीन और ट्रावंकोर राज्यके भाग भी थे। ये अब भी अपनेको केरलका अंश समझते हैं।

परशुरामजीने यह देश उत्पन्न करके ६४ गावोंके ब्राह्मणोंको भरण पोषणके लिये दान कर दिया था। अनन्तर इनमें ४ गावोंके ब्राह्मणोंको उन्होंने ६४ गाँवोंका प्रतिनिधित्व दिया। ये ब्राह्मण शस्त्रधारी थे और क्षत्रियों और ब्राह्मणों दोनोंके कर्म करते थे। केरलकी कर्मभूमिपर इस प्रकारके प्रतिनिधित्वसे राजकाज चलनेमें जब कलह मची और अन्याय हुआ, तब सब गाँवोंके ब्राह्मणोंने एकत्र हो यह निश्चय किया कि प्रति चार गाँव मिलकर एक संरक्षक अधिकारी चुनें और उस अधिकारी तथा उसके नीचे काम करनेवाले अधिकारियोंके खर्चके लिये उन चार गाँवोंकी भूमिकी उपजका छठा भाग दिया जाय। परन्तु कालान्तरमें ये अधिकारी जब अत्याचार करने लगे, तब ब्राह्मणोंने फिर सभा की और उन चार गाँवोंके लोगोंको राजा चुनने के लिये कहा। इसके अनुसार उन्होंने केय पेरुमाल नामक एक प्रसिद्ध पहाड़ीको राजा चुना। यह घटना सन् २१६ ईस्वीके लगभग की है। अपने चुने हुए इस राजाको गद्दी पर बैठानेवाले ब्राह्मणोंने इससे शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करायी कि 'राज्य के जो काम तुम न कर सकोगे, वे मैं करूँगा। प्रजाकी रक्षा करना तो राजा का काम है ही, वह मैं स्वयं करूँगा।' प्रजाने झगड़े निपटानेका काम अपने हाथमें रखा था और राजासे प्रतिज्ञा करा ली थी कि इनमें उसका हस्तक्षेप न होगा। केय पेरुमालसे १२ वर्षतक राज्य करानेका निश्चय कराया गया था, पर इसने ८ ही वर्ष राज्य किया।

केरलमें राजाका निर्वाचन

केय पेरुमालके बाद ब्राह्मणोंने चोल मण्डलसे चोय (चोल) पेरुमालको राजा चुना और उसे गद्दीपर बैठाया। इसने १० वर्षतक राज्य किया। इसके बाद पाण्ड्य पेरुमाल राजा चुना गया और फिर भूतार यार पाण्ड्य पेरुमाल नामक राजा और ब्राह्मणोंमें झगड़ा हुआ, तब एक ब्राह्मणने उसका नाश किया। इसके उपरान्त केरलपर कई आक्रमण हुए, तब परशुरामने ब्राह्मणोंको नवीन राजा चुननेकी आज्ञा दी। इसके अनन्तर उन्होंने तिरुणावाई महामख नामक उत्सवके अवसरपर केरलन नामक मनुष्यको राजा चुना और गद्दीपर बैठाया। इस राजाके लिये प्रजाने राजप्रसाद बनवा दिया, भद्रकाली नामकी तलवार राजदण्ड स्वरूप इसकी भेंट की और इसके लिये आय के कुछ विभाग और कर अलग कर दिये। लोकनिर्वाचित राजाओंका

यह क्रम चलता रहा और अच्छे बुरे राजा भी होते रहे। जिसमें राजा अपने अधिकारोंका दुरुपयोग न करें और अत्याचारी न हो जायं, इसलिये केरलके ब्राह्मणोंने समय समयपर केरलभूमिके विभाग किये और ग्राम-संस्थाओंको राजाके कार्योंकी देखभालका अधिकार दिया है। आर्य पेरुमालके समय राजकीय दृष्टिसे केरल देशकी पुनारचना हुई, क्योंकि यह चार पांच गाँवों-के लोक-प्रतिनिधियोंकी सम्मतिसे राजकाज चलाता था। निर्वाचित राजाका शासनकाल १२ वर्ष रहता था, पर प्रजा और राजाकी इच्छासे यह अवधि घट बढ़ सकती थी। केरलमाहात्म्यमें लिखा है कि अनागोंदी कृष्णराय नामक राजाको राज करते जब १२ वर्ष बीत गये, तब बारह वर्ष के लिये उसके शासनकी अवधि फिर बढ़ा दी गयी।[1]

---

१ कन्याकुमारीके १०० मील उत्तर पूर्व किलाकेर प्रदेशके राजाओंका भी शासनकाल १२ वर्षतक ही रहता था। १२ वर्षपर किसी देवताके प्रीत्यर्थ एक उत्सव होता था, ब्राह्मणोंको भोजन दिया जाता था और असंख्य लोगोंके सामने—फांसीका तख्ता लगाया जाता था, जिसपर रेशमकी डोरी लटकती रहती थी। उत्सवके दिन राजा तालाबमें नहा कर गाजे बाजेके साथ देवता की मूर्तिको प्रणाम कर फांसीके तख्तेपर चढ़ जाता था और अपने हाथसे तेज छुरियोंसे अपनी नाक, कान, होंठ आदि अंग काट डालता था। जब अधिक रक्त निकल जानेसे वह मूर्छित होने लगता, तब गला काट लेता था। कालीकटके जमोरिनको भी १२ वर्षोंकी समाप्तिपर सरे आम अपना गला काटना पड़ता था। यह उत्सव महामख कहाता था। मि० डब्ल्यू लोगनने 'मलाबार' नामक पुस्तकमें लिखा है कि यह उत्सव पुन्नानी नदीके उत्तर तिरुणावाई मन्दिरमें कुछ संशोधित रूपमें सन् १७४३ तक मनाया जाता था। अन्तिम दिन राजा एक टीलेपर खड़ा होता था। ४० हजार सिपाही भाले लेकर खड़े हो जाते थे और राजाकी तलवारका संकेत पाते ही एक हाथी सजा कर उसके पास खड़ा कर दिया जाता था। बस, भीड़से कई खड्गधारी जवान फूलमाला पहने और भस्म लगाये निकल पड़ते थे और भालेवालोंपर टूट पड़ते थे। इससे जाना जाता है कि कालान्तरमें राजाके बदले कुछ सिपाहियोंके बलिदानका नियम बन गया था। जगन्नाथ पुरीके राजाका चोला प्रति बारहवें वर्ष बाद बदलनेकी बात भी बहुत सुनी जाती है, पर यह पता नहीं चलता कि पुराने राजाका अन्त किस प्रकार किया जाता था। सम्भवतः पहले केरलमें जैसा होता था, वैसा ही यहां भी होता होगा।

६ विद्यावृद्धसंयोग और इन्द्रजय

शुक्राचार्यका जो यह मत है कि विद्या एक ही है और वह दण्डनीति है, वह इस अर्थमें ठीक ही है कि वह आन्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ताका आश्रय है और इनकी कुशल दण्डपर ही अवलम्बित है। दण्डनीति व्यावहारिक विद्या है और वह तथा अन्य विद्याएं वृद्धोंकी सेवासे प्राप्त होती हैं। नारदका यह कथन युक्तिसिद्ध है कि वृद्ध वही नहीं है जिसके बाल पके हुए हों, वरञ्च देवता उसे स्थविर कहते हैं, जो जवान होनेपर भी शिक्षित वा विद्वान् हो।[1] भृगु-पुत्र का वचन है कि जो राजा न तो विद्या जानता है और न वृद्धोंका संग करता है, वह निरङ्कुश हाथीकी भांति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।[2] मूर्ख भी सत्पुरुषोंके संसर्गसे ज्ञानी हो जाता है।[3] इस विषयमें वल्लभदेवने बहुत ही उपयुक्त उपमा दी है। वे कहते हैं कि मूर्ख राजा भी सत्पुरुषके संसर्गसे इस प्रकार शोभाको प्राप्त होता है, जिस प्रकार नदीके किनारेके वृक्षों की छाया भी अपूर्व शोभा देने लगती है।[4] परन्तु जैसे गधेपर चढ़कर

सज्जनका ही संग करना चाहिये

---

१ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥
इसी अर्थका धम्मपदमें यह वचन है:—
न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो हि वुच्चति।
शेख सादीने भी कहा है, "बुज़ुर्गी ब अक़्लस्त न बसाल।"

२ यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते।
स शीघ्रं नाशमाप्नोति निरङ्कुश इव द्विपः॥१२॥

३ अनधीयानोऽपि विशिष्ट जन संसर्गात्परां व्युत्पत्तिमाप्नोति ॥६३॥ नीति वाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देशः।

४ अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः।
साधुसंगाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः॥

वैकुण्ठ जाना भी अच्छा नहीं समझा जाता, वैसे ही दुर्जनसे पढ़कर विद्वान् होना भी अच्छा नहीं है। हारीत कहते हैं कि जिस अशिष्ट मनुष्यकी सेवासे मनुष्य पापात्मा हो जाता है, उससे पढ़नेकी अपेक्षा मूर्ख रहना ही अच्छा है।[१] इससे सिद्ध होता है कि चरित्रवान् गुरुसे विद्या पढ़नी चाहिये, दुश्चरित्रसे पढ़कर विद्वान् होनेके बदले मूर्ख रहना ही श्रेयस्कर है।

भावी राजाका शिक्षक कौन हो ?

अब राजाके शिक्षकका प्रश्न उपस्थित होता है। सोमदेव सूरिका कहना है कि जो चरित्रवान् विद्वान् कुलीन हों, उन्हींको राजाका उपाध्याय बनाना चाहिये।[२] नारदका भी मत है कि जिनके पूर्वज पुराने राजाओंके गुरु रहे हों और जो सच्चरित्र, विद्वान् और कुलीन हों, वे ही राजाओंके शिक्षक बनाये जायं।[३] हारीतका मत है कि जो राजा शिष्ट जनोंसे विद्या पढ़ता है, वह पृथिवी पर बड़ाई पाकर स्वर्ग जानेपर इन्द्रसे पूजित होता है।[४] शिष्ट गुरुसे पढ़वानेका उद्देश्य यही है कि शिष्य बहुधा शिक्षकके गुण दोषोंका अनुकरण करता है। मिट्टीके नये बर्त्तनमें जो संस्कार कर दिया जाता है, उसे ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते।[५] सोमदेवजीका यह कथन सर्वथा निर्भ्रान्त है; क्योंकि बचपनके संस्कार अमिट होते हैं। बृहस्पतिने ठीक ही कहा है कि मन्त्रियों और मन्त्र-कुशलोंद्वारा जो राजा संचालित होता है, वह कुमार्गसे नहीं जाता; जिसे

---

१ वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया।
पाण्डित्यं यस्य संसर्गात् पापत्मा जायते नृपः॥

२ वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥६४॥ नीति वाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देश।

३ पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः।
विद्याकुलीनतायुक्ता नृपाणां गुरवश्च ते॥

४ साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले।
स्वर्गं गतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते।

५ नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्त्तुं न शक्यते ॥७१॥ नीति वाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देश।

कम ज्ञान होता है, वही जाता है।[1] इसलिये मन्त्रियोंके कहनेपर चलनेवाला मूर्ख राजा ज्ञानलवदुर्विदग्धसे अच्छा होता है।

जिस पुरुषमें शिष्टोंके नियोज्यमान् गुण स्थिर मिलते हैं, उसे द्रव्य कहते हैं।[2] क्रिया द्रव्यको ही विनीत कर सकती है, अद्रव्यको नहीं।[3] अर्थात् विद्याका फल योग्य शिष्य ही प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो विद्या पढ़नेसे भी दुष्ट स्वभाव नहीं बदलता।[4] जिन शिष्योंमें बुद्धिके आठ गुण शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश नहीं होते, उनके पढ़नेपर भी उन्हें विद्याका यथार्थ लाभ नहीं होता।[5] सुनने वा जाननेकी इच्छा शुश्रूषा है, यद्यपि हिन्दीमें इसका अर्थ रोगी वा किसीकी सेवा परिचर्या समझा जाता है। जिसे कुछ जाननेकी इच्छा ही नहीं होती, उसे किसी विषयका ज्ञान कैसे हो सकता है? परन्तु जाननेकी इच्छा ही यथेष्ट नहीं है, उपाध्याय या गुरु जो बतावे, उसे ध्यान देकर सुनना भी आवश्यक है। इसे श्रवण कहते हैं। पर सुनने मात्रसे ही काम नहीं चल सकता। बिना समझे बूझे सुनना तो पशुओंमें भी देखा जाता है। इसलिये समझना आवश्यक है। समझनेका नाम ग्रहण है। परन्तु समझ बूझकर एक कानसे सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया,

द्रव्य और अद्रव्य तथा बुद्धि और उत्साहके गुण

---

१ मंत्रिभिर्मंत्रकुशलैरन्धः संचार्यते नृपः।
कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति॥
कहते भी हैं:—नीम हकीम खतरा जान। नीम मुल्ला खतरा ईमान।

२ यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद् द्रव्यम्॥४१॥ नीतिवाक्यामृत वि. वृ०

३ क्रिया हि विनयति द्रव्यं नाद्रव्यम्। अर्थशास्त्र अधि० १ अ० ५
कहा भी है 'हरी लकड़ियाकी छड़ी ज्यों नवाय नवि जाय।
सूखेपर फिरना नवै कोटिन करै उपाय॥'

४ न धर्म शास्त्रं पठतीतिकारणं न चापि वेदाध्यनं दुरात्मनः।
स्वाभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

५ शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विज्ञानोहापोह-तत्त्वाभिनिविष्ट बुद्धिं विद्याविनयति नेतरम्॥ ५॥ अर्थ० अधि० १ अ० ५॥

तो सब व्यर्थ हो गया, इसलिये स्मरण भी रखना चाहिये। इसे धारण कहते हैं। मोह, सन्देह और विपर्यासके अभावके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। जाने हुए अर्थका अवलम्बन करके दूसरे पदार्थोंमें व्याप्तिसे उसी प्रकार का वितर्कण ऊह कहाता है। युक्ति और उक्तिके साथ विरुद्ध अर्थसे उद्देश्यनाशकी सम्भावनाके विचारसे उस कामको छोड़ देना अपोह है। अथवा साधारण ज्ञान ऊह और विशेष ज्ञान अपोह है। विज्ञान, ऊह, अपोह और अनुगम (फल) द्वारा विशुद्ध होनेपर जो इदमित्थं निश्चय होता है, उसे तत्त्वाभिनिवेश कहते हैं। जिस पुरुषमें ये सब गुण होते हैं, वह राजद्रव्य समझा जाता है।[1] निर्भीकता, पापको न सहना; जल्दी काम करना और दक्षता ये उत्साहके गुण हैं।

विनय और इन्द्रिजय

नय वा नीतिका मूल विनय है। व्रत विद्या और वयस्में जो अधिक हों, उनकी भक्ति करना विनय है।[2] विनय दो प्रकारका है एक सहज वा स्वाभाविक और दूसरा अभ्यास वा कार्यसे। शास्त्रार्थके निश्चयसे विनय होता है। सब इन्द्रियोंका अनुराग काम कहाता है। कान, आँख, नाक, जीभ और खाल ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और हाथ, पैर, वाणी, गुदा और गुह्ये-न्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेन्द्रियोंसे हम शब्द (सुनते), स्पर्श करते (छूते), रूप (देखते), रस (स्वाद लेते) और गन्ध (सूंघते) हैं, और कर्मेन्द्रियोंसे मल मूत्र त्याग करते, धरते उठाते, चलते, फिरते और बोलते हैं। मन द्वारा आत्मा विषयोंको जानता है और इसलिये मन अन्तःकरण कहाता है। दस इन्द्रियाँ बहिःकरण हैं। इन इन्द्रियोंके वशमें न हो जाना, वरञ्च इन्हें अपने वशमें रखना इन्द्रियजय है। इष्ट वस्तुमें अनासक्ति वा संयत अनुराग अथवा अप्रवृत्तिसे इन्द्रियजय होता है। अर्थशास्त्रके अध्ययनसे भी इन्द्रियजय होता है। नीतिशास्त्र जाननेवाले ऐसे राजा-को स्वदेश और परदेशमें लक्ष्मी मिलती है।

---

१ यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते।
सर्वं कृत्येषु भूतानां तदर्हं कृत्यसाधनम् ॥ गुरुः ॥

२ व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः।
यत्तेषां क्रियते भक्तिर्विनयः स उदाहृतः ॥ गर्गः ॥

मनुष्यके मनमें अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं, उनसे वह दूसरोंकी हानि करनेके साथ ही अपनी भी बड़ी हानि कर डालता है।

शत्रुषड्वर्ग

इन मनोविकारोंकी संज्ञा भी आचार्योंके मतानुसार शत्रु ही है। इनके नाम हैं काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष। इन छओंके गुटको शत्रुषड्वर्ग कहते हैं। जब शरीरके अन्दर इनका प्राबल्य हो जाता है, तब मनुष्य अपने नैसर्गिक रूप पशुत्वको प्राप्त हो जाता है। ये दोष तो साधारण मनुष्यके लिये भी हानिकर हैं, राजाके विषयमें तो कहना ही क्या है? इसीलिये कहा है कि विद्याविनीत और जितेन्द्रिय होने मात्रसे ही राज्य करनेकी योग्यता नहीं आ जाती, राजाको शत्रुषड्वर्गके दमनमें भी यत्नशील रहना चाहिये।

कामसे चार दोष वा व्यसन उत्पन्न होते हैं। गुणोंके विपरीत भाव वा अवगुण और गुणोंके अभावका नाम व्यसन है। मृगया (अहेर-शिकार), द्यूत

कौन व्यसन कितना गर्हित है?

(जुआ), स्त्री (स्त्री-सहवास) और पान (मद्यपान) ये कामज चतुर्वर्ग प्रसिद्ध हैं। परन्तु कौटिल्यका कहना है कि स्त्री और पानमें पान ही अधिकतर भयंकर है, क्योंकि अन्य कुलीन स्त्रियों वा गणिकादिसे भिन्न अपनी स्त्रीमें आसक्ति हो, तो पुत्रादिकी उत्पत्ति और इनसे अपनी रक्षाका होना बड़ा लाभ है। परन्तु मद्यपानसे विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि बल, धन और सत्संगका भी नाश हो जाता है। उनके मतसे द्यूत और मद्यमें द्यूत ही अधिकतर भयंकर है, क्योंकि द्यूतमें जय पराजयके दो पक्ष हो जाते हैं और राजकुलोंमें इसीसे भेद उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अन्य अनेक आचार्य मद्यपानको अत्यन्त पापिष्ठ व्यसन समझते हैं। गोतमका कहना है कि परस्त्री, कुमारी वा वेश्यामें ही दुरभिसन्धि अथवा प्रेम निषिद्ध ठहराया गया है, क्योंकि यह मनुष्यको नाना प्रकारकी दुर्गतिमें डालकर कभी कभी यमराजके घर पहुँचा देता है।[1] इस दोषसे

---

[1] अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते।
तस्य कामः प्रदुःखाय बन्धाय मरणाय च॥

दाण्डक्य राजा नष्ट हुआ था।[1] पाण्डुकी आसक्ति मृगयामें[2], युधिष्ठिर और नलकी द्यूतमें तथा यादवोंकी मद्यमें थी। इन व्यसनोंसे इनको बड़े कष्ट भोगने पड़े।

दूसरेकी शक्तिका विचार न करके जो क्रोध करता है, उसका क्रोध उसके नाशका कारण होता है।[3] कहते हैं, 'कमजोर गुस्सा ज्यादा मार खानेका इरादा'। कौटिल्यके मतसे क्रोधसे तीन दोष उत्पन्न होते क्रोधसे उत्पन्न दोष हैं, वाक्पारुष्य, अर्थदूषण और दण्डपारुष्य। परन्तु महाभारतने उग्रता, निग्रह और आत्मत्याग ये तीन दोष और बढ़ाकर इसे कोपज षड्वर्ग कहा है। वाक्पारुष्य कठोर वचन कहना है, अर्थदूषण आर्थिक हानि पहुँचाना वा अपघात करना है तथा दण्डपारुष्य कठोर दण्ड देना है। आचार्योंमें इसपर भी मतभेद है कि कौन दोष कितना अधिक भयंकर है। वाक्पारुष्य और अर्थदूषणमें कौटिल्यके मतसे अर्थदूषण ही अधिक भयावह है, क्योंकि कठोर वचन सुनाकर भी सुननेवालेको अर्थ द्वारा सन्तुष्ट करना सम्भव है

---

१ दाण्डक्य राजा भोजवंशमें जन्मा था। एक दिन आखेट करता करता भृगुके आश्रममें पहुँचा और इनकी अनुपस्थितिमें इनकी रूपवती युवती पुत्रीको रथपर बैठाकर अपने प्रासादमें ले गया। जब दर्भ और समिध लेकर ऋषि आश्रममें पहुँचे और पुत्रीको नहीं पाया, तो ध्यान धर कर विचार कर जाना कि यह काम दाण्डक्यका है। इसपर ऋषिने दाण्डक्यको शाप दिया कि तेरे नगरपर सात दिनों तक धूलकी वृष्टि होगी और तू मर जायगा। ऐसा ही हुआ।

२ पाण्डुने शिकार करते हुए किन्दम नामक मुनिको मृग समझकर मार डाला था। अयोध्याके राजा दशरथने भी ऐसे ही अन्धमुनिके पुत्र श्रवण का काम शब्दवेधी बाणसे समाप्त कर दिया था। युधिष्ठिर द्रौपदी तकको जुएमें हार गये थे, जिसके कारण बड़े संकट झेलने पड़े। नलने भी अपने भाई पुष्करसे जुएमें हार कर नाना प्रकारके कष्ट सहे। मदिरा पान कर यादव प्रभास तीर्थमें आपसमें ही लड़कर मरे थे।

३ अविचार्यात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
यः कोपं याति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥भागुरिः

और वह अपना अपमान भूल भी सकता है, परन्तु अर्थदूषणका प्रतिकार प्रिय वचनोंसे नहीं हो सकता। अर्थदूषण और दण्डपारुष्यमें दण्डपारुष्य ही प्रबल है। धनराशिके बदलेमें भी कोई मनुष्य प्राण देना नहीं चाहता, प्रत्युत् दण्डपारुष्यसे अपनेको बचानेके लिये मनुष्य धन देनेको प्रस्तुत हो जाता है। इसलिये अर्थदूषणसे दण्डपारुष्य बली है। इस प्रकार वाक्पारुष्य-से अर्थदूषण और अर्थदूषणसे दण्डपारुष्य बलवत्तर है।

अन्य शत्रु

दानपात्रको यह सोचकर दान न देना कि धन घट जायगा अथवा दूसरोंका धन यह सोचकर चुरवा लेना कि इससे अपना धन बढ़ा लें, लोभ है।[१] पापकर्मका त्याग न करना और आचरणीय कर्मका त्याग करना मान कहाता है, जैसा दुर्योधन राजामें था।[२] कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्याका अहंकार अथवा इनमें एकसे भी किसीका उत्पीड़न वा निबन्धन मद कहाता है। अकारण किसी दूसरेको कष्ट पहुँचाकर प्रसन्न होना हर्ष है।[४] जनमेजय क्रोधसे, ऐल लोभसे, रावण मान वा अभिमानसे, दम्भोद्भव मदसे और वातापि हर्षसे नष्ट हुए। इसके विपरीत शत्रुषड्वर्गका त्याग करनेके कारण जामदग्न्य परशुराम और नभगके पुत्र नाभाग अम्बरीषने चिरकालतक पृथ्वीको भोगा।[५] इस लिये सब राजाओंको शत्रुषड्वर्गका दमन करते रहना ही कर्तव्य है। इन्द्रियजयको नीतिशास्त्रमें

---

१ परस्वहरणं यत्तु तद्धनाढ्यः समाचरेत्।
तृष्णायाऽर्हेषु चादानं स लोभः परिकीर्तितः॥ अत्रिः॥

२ पापकृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम्।
यत्तन्याभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च॥ व्यासः॥

३ कुलवीर्य स्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः।
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत्॥ जैमिनिः॥

४ प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति।
आत्मनोऽनर्थे सन्देहैः सहर्षः प्रोच्यते बुधैः॥ भारद्वाजः॥

५ जनमेजय कुरुवंशीय परीक्षितका पुत्र था। इसने अश्वमेध किया था। अश्वमेधमें घोड़ेके संज्ञपनके बाद मारे जानेवाले घोड़ेसे यजमान पत्नीका सम्बन्ध होता है। इन्द्रके घोड़ेके शरीरमें प्रवेश करनेके कारण ऋत्विजोंने

महत्व देनेका कारण यही है कि राजाको शत्रुको जीतना होता है और जो राजा अपनी इन्द्रियोंको नहीं जीत सकता—उन्हें वशमें नहीं रख सकता, वह शत्रुको कैसे जीत सकता है? इसी लिये महाभारतमें कहा है कि राजा पहले अपने चित्तको जीते, फिर शत्रुओंको जीते। जिस राजाने अपने चित्तको नहीं जीता, वह शत्रुको कैसे

घोड़ेको मारनेसे इनकार किया। इसपर जनमेजयने उनका तिरस्कार किया और उन्हें चाबुकसे मारा। इसपर ऋत्विजोंने शाप दिया कि तूने अकारण हमें मारा है, इस लिये तेरा शिर कट कर गिर पड़े। और उसका शिर कट कर गिर गया।

पुरूरवा राजा ऐल कहाता था। नैमिषारण्यवासी ऋषियोंने यज्ञके रक्षार्थ इसे बुलाया था। उस यज्ञमें सब पात्र सुवर्णके थे, जिन्हें देख पुरूरवाने ले जानेका विचार किया। जब ऋषियोंको उसके लोभका पता लगा, तब उन्होंने वज्र सदृश कुश-शलाकाओंसे उसे मार डाला।

दम्भोद्भव राजा बड़ा वीर था और लड़नेके लिये अपने समान योद्धा खोजता फिरता था। जब कोई नहीं मिला, तब इसने नारदसे कहा कि कोई वीर बताओ। नारदने कहा कि बदरिकाश्रममें नर नारायण तप कर रहे हैं, उनसे जाकर लड़। जब लड़ाई होने लगी, तब नरने इसे सेना सहित ढककर दर्भ-शलाका रूपी अस्त्र प्रहारसे मार डाला।

वातापि और इल्वल दो असुर भाई थे। वातापि इल्वलको बकरा बनाकर उसका मांस मुनियोंको खिला देता था और जब फिर उसे बुलाता कि 'भाई आ,' तो वह पेट फाड़कर निकल आता था। इससे उसे बड़ा हर्ष होता था। इस प्रकार बहुतसे ऋषियोंको मारनेके बाद उसने अगस्त्यको निमंत्रण दिया। अगस्त्यने भोजन करके पेटपर हाथ फेरा कि इल्वल हजम हो गया। वातापि बुलाता ही रह गया। अनन्तर वातापिको भी अगस्त्यने मार डाला। इसलिये भोजन पचानेके लिये आज भी पेटपर हाथ फेरते कहते हैं:—'आतापि भक्षितो येन वातापि च महाबलः। अगस्त्यस्य प्रसादेन भोजनं मम जीर्यताम्॥'

जीत सकता है।[1] वास्तवमें इन्द्रियजय विजयकी शिक्षाका पहला पाठ है, जो राजाको दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र व्यावहारिक शास्त्र है, इसलिये यह पाठ पढ़नेके लिये नहीं है, कर दिखानेके लिये है।

कौटिल्यने इन्द्रियजयका उपाय भी बताया है। वह इस प्रकार कि शत्रु-षड्वर्गके त्यागसे इन्द्रियजय करे। वृद्धोंकी सेवासे बुद्धिको विकसित करे, गुप्तचरोंके द्वारा अपने और पराये राष्ट्रकी व्यवस्था जाने, उद्योगको योगक्षेमका साधन बना, अनुशासनसे प्रजाको स्वधर्ममें स्थापन करे। इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें रखता हुआ परस्त्री, परद्रव्य और परहिंसासे विरत रहे। अनुचित निद्रा, चपलता, मिथ्याभाषण, उद्धत वेष, अनर्थकारी सब कार्यों और इस प्रकारके सब लोगोंका सहवास तथा अधर्म और अनर्थयुक्त व्यवहार त्याग दे यही वृत्ति रखे।[2]

इन्द्रियजय कैसे करे?



१ आत्मा जेयः सदा राजा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपति विजयते कथं रिपुम् ॥४॥ शान्ति पर्व अ० ६९

२ तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत ॥१॥ वृद्ध संयोगेन प्रज्ञां चारेण चक्षुरुत्थानेन योगक्षेमसाधनं कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनं विनयं विद्योपदेशेन लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन हितेन वृत्तिः ॥२॥ एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत् ॥३॥ स्वप्नलौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वमनर्थमसंयुक्तं च व्यवहारम् ॥४॥ अर्थशास्त्र अधि० १ अध्याय ७

७ कोश

कोषकी व्याख्या

कौटिल्यके अनुसार

धन धान्य सुवर्ण रत्नादिके भाण्डारका नाम कोश है। शुक्रका कहना है कि आपत्काल उपस्थित होनेपर और विशेषतः सम्पत्कालमें जो राजाकी सेना बढ़ाता है, उसे कोश कहते हैं।[1] कोशकी उत्पत्ति राजाके साथ ही हुई है, क्योंकि प्रजाने पशुओं और सुवर्णका पचासवां पण्यका दसवां और धान्यका षष्ठांश वैवस्वत मनुको देनेकी प्रतिज्ञा की थी।

राजभाग लेनेका प्रकार

प्रजाके कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यमें तो राजाका भाग था ही, परन्तु यदि राजा विजिगीषु होता था तो अन्य राजाओंपर चढ़ाई करके उन्हें करद बना लेता था और इस प्रकार आयका एक और मार्ग निकल आता था। राजा आजकलकी तरह नगद रुपया नहीं लेता था, पर धान्यका भाग धान्यमें, पशुओंका पशुओं में और हिरण्यका हिरण्यमें तथा रत्नादिका रत्नादिमें लिया करता था। धान्य राजकीय कोष्ठागारों वा कोठारोंमें भरा रहता था और पशु राजकीय पशुशालाओंमें रहते थे। राजकीय गोशालाओंके अतिरिक्त राजाकी बहुतसी गायें जंगलोंमें भी रहती थीं। गोधनका महत्त्व अधिक था। इसी कारण सुशर्मा राजाने कौरवोंके सहयोगसे विराट् राजाके मत्स्य देशपर गोहरणके लिये चढ़ाई की थी। पण्यपर जो राज्यकर होता था, वह अवश्य नगद मिला करता था।

कोशकी बड़ी महिमा है। नारदने बहुत ही ठीक कहा है कि दाढ़से रहित जैसा सर्प होता है वा जैसा सींग टूटा बैल होता है, वैसा ही उस वैरीको समझना चाहिये जिसके पास न अर्थ (द्रव्य) होता है और न सेवक।[2]

---

१ आपत्काले तु सम्प्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः।
तन्त्रं विवर्द्धते यस्मात् स कोशो परिकीर्त्तितः॥

२ दंष्ट्रा विरहितः सर्पः भग्नश्रृंगोऽथवा वृषः।
तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः॥

इसीलिये सोमदेव सूरिका कहना है कि राजाओंकी जान कोश ही है, प्राण नहीं।[1] अभिप्राय यह है कि कोश होनसे राजाको सेवक और सेना सब कुछ सुलभ है, पर कोशके अभावमें कोई पास तक खड़ा नहीं होता। इसलिये कोश-हीन राजा नामका भले ही राजा रहे, वास्तवमें राजा नहीं रहता। इसीसे रैम्यका यह कथन बहुत ही उपयुक्त जान पड़ता है कि यहाँ राजा शब्दसे कोश समझना चाहिये, राजाका शरीर नहीं; क्योंकि कोशहीन राजा शत्रुओंद्वारा परिपीड़ित होता है।[2] यही नहीं, क्षीणकोष राजा अपनी प्रजाको पीड़ित करता है, जिससे वह अन्य देशोंको चली जाती है[3] और इस प्रकार राष्ट्र लोकशक्तिसे रहित हो जाता है।

कैसा कोश अच्छा होता है इस विषयमें बृहस्पतिका कहना है कि विपत्ति आनेपर जिससे बहुत व्यय किया जा सके और जो हिरण्यादि संयुक्त हो, वह गुणवान् कोश समझा जाता है।[4] इसीकी विशद व्याख्या सोमदेव सूरिने इस प्रकार की है—जिसमें सोना चाँदी बहुत हो और व्यावहारिक नाणकों वा चलनी सिक्कोंकी बहुतायत हो और जो आपत्कालमें बहुत व्यय करनेमें समर्थ हो, वह कोश उत्तम होता है।[5]

किस कोषकी प्रशंसा है

इस व्याख्यामें अर्थव्यवस्थाका सारांश कूट कूटकर भर दिया गया है। विपत्तिके समय धान्य और पशुओंकी विक्रीसे यथेष्ट द्रव्य प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जिन वस्तुओंकी विक्री तुरत हो सके और थोड़ी वस्तु अधिक मूल्यमें बिके भी, उन्हींका विशेष मात्रामें कोशमें संग्रह होना चाहिये। नाणक वा नाणा चालू सिक्केको कहते हैं। कोशमें

---

१ कोषो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः ॥४॥ कोशसमुद्देश, नीति वाक्यामृत।

२ राजा शब्दोऽत्र कोशस्य न शरीरे नृपस्य च।
कोशहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीड्यते॥

३ क्षीणकोशो हि राजा पौर जानपदान्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्र-शून्यतां याति ॥३॥ कोश समुद्देश, नीति वाक्यामृत।

४ आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहु व्ययसहक्षमः।
हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः॥

५ सातिशय हिरण्यरजतप्रायो व्यावहारिक नाणकबहुलोमहापत्ति व्ययसहश्चेति कोशगुणाः ॥२॥ कोशसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत।

इसकी बड़ी आवश्यकता रहती है, क्योंकि सेवा और राजकर्मचारियोंको वेत-नादिमें नाणक ही देना पड़ता है। नाणक दूकानदारको देकर मनुष्य बाजार वा दूकानसे अपनी आवश्यकताकी वस्तुएँ ले सकता है। हिरण्य और रजत यथेष्ट मात्रामें राजकोशमें रहनेसे नाणक तैयार किये जा सकते हैं। इसलिये उत्तम कोश वही है जिसमें सोना चांदी बहुत हो। इसके सिवा कोई शत्रु चढ़ाई कर दे और अपने पास युद्ध करनेके लिये यथेष्ट सेना न हो वा जान पड़ता हो कि युद्धमें हमारी हार हो जायगी, तो राजा साम दानसे शत्रुको लौटा सकता है। शत्रु तभी दानसे सन्तुष्ट किया जा सकता है, जब राजाके कोशमें सुवर्ण रजत और रत्नादि हों अथवा राजाका कोश भरा पूरा हो। चढ़ाई करनेसे शत्रु अच्छी तरह लड़ेगा, जिससे विजय असम्भव है यह सोचकर कोई शत्रु यानका साहस भी नहीं कर सकता।

इसलिये वशिष्ठका कहना है कि सारी आमदनी न खर्च कर देनी चाहिये; कोशमें कुछ अवश्य डालना चाहिये, क्योंकि आपत्कालमें वह राज्यरक्षक होता है।[1] राजाको क्षीणकोश कभी न रहना चाहिये और उसे बराबर भरनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसके विषयमें शुक्राचार्यका यह उपदेश है कि देवताओं, ब्राह्मणों, क्षत्रियों-वैश्यों और शूद्रोंके पास उनके उपभोगसे जो अधिक धन हो, उसका विचार करके क्षीणकोश राजा विभाग कर ले। पुरवासियों वा शह-रियों और राष्ट्रवासियों वा देहातियोंको समझाकर उनका धन ले ले। खान्दानी अमीरों, पुरोहित, मंत्रियों और श्रोत्रियों, सामन्तों तथा सीमारक्षकोंके घर जाकर उनसे धन मांगे जिसमें वे प्रसन्न हों।[2] इसी विषयको सोमदेव सूरिके

राजा कैसे कोष-वृद्धि करे?

---

१ कोशवृद्धिः सदा कार्या नैव हानिः कथंचन।
आपत्काले हते भाण्डैर्यत्कोशो राज्यरक्षकः॥

२ देव द्विजाति शूद्राणामुपभोगाधिकं धनम्।
क्षीणकोशेन संग्राह्यं प्रविचिन्त्य विभागतः॥
पौराणां राष्ट्रजातानां ग्राह्यं साम्ना न चान्यथा।
दर्शयित्वा तथा दायां ग्राह्यं वित्तं ततो नृपैः॥१॥
तथा शाश्वत लक्ष्मीवान् पुरोहित समंत्रियाः।
श्रोत्रियांश्चैव सामन्तान् सीमापालांस्तथैव च॥२॥
गृहं गत्वा प्रयाचेत ते यथातुष्टि माप्नुयुः॥३॥

टीकाकारने विस्तार पूर्वक समझाया है। देवद्विज और वनियोंका जो धन धर्म-क्रियामें न लगता हो, उसका विभाग करके राजा कहे कि इतने से आपका निर्वाह हो जायगा और शेष अपने कोशमें ले ले। ऐसे ही जो धनी हों, जो विधवाएँ हों, जो धर्माधिष्ठानकारी (महन्त आदि) हों, ग्राम-व्यवहारी, वेश्या, पाखंडी हों; उनसे लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके धन लेकर कोशवृद्धि करे। जो समृद्ध नगरनिवासी और ग्रामवासी हों, उनके द्रव्यका विभाग करके और उन्हें समझाकर धन ले। जिन मन्त्री पुरोहित, सेनापति, सामन्त, भूपाल आदिकी लक्ष्मी न गयी हो, उनके घर जाकर विनयपूर्वक उनसे धन मांगकर कोश-वृद्धि करे।[1]

---

१ देवद्विजवणिजां धर्माध्वर-परिजनानुपयोगि-द्रव्यभागैराढ्य-विधवानियोगि-ग्राम-कूट-गणिका-संघ-पाखण्डि-विभव-प्रत्यादानैः समृद्ध पौरजानपदद्रविण-संविभाग-प्रार्थनैरनुपक्षयश्रीका मंत्रि-पुरोहित-सामन्त-भूपालानुनय गृहा-गमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् ॥ १४ ॥

कोशसमुद्देश, नीति वाक्यामृत।

८ दुर्ग वा पुर

जहाँ शत्रु कठिनाईसे पहुँच सके अथवा जो स्थान शत्रुके लिये दुर्गम हो, वह दुर्ग कहाता है। सोमदेव सूरिका कहना है कि जिसके सामने जानेसे शत्रु दुःख प्राप्त करते हैं अथवा जहाँ दुर्जनके उद्योग वा अपने दोषसे आयी हुई आपदा दूर होती है, वह दुर्ग है।[1] शुक्राचार्य इसीको दूसरी तरहसे यों कहते हैं कि जिसको प्राप्त करनेमें शत्रुओंको दुःख उठाना पड़े और जो आपत्कालमें राजाकी रक्षा करे, वही दुर्ग है[2]।

दुर्गकी व्याख्या

प्रत्येक राष्ट्रमें उसका एक मुख्य स्थान होता है, जहाँ राजा और राज्य-व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकारी रहते हैं। इस कारण राष्ट्रके अन्य स्थानोंसे रंग रूपमें उसकी भिन्नता होती है और उसका महत्त्व भी होता है। कहीं इस स्थानकी रचना दुर्गवत् होती है और कहीं नगरवत्। नगरवत् होती है तो नगरके अन्दर दुर्ग होता है और दुर्गवत् होती है तो दुर्गके अन्दर नगर होता है। इसलिये दुर्ग और पुर पर्यायवाचक शब्द मानकर राज्यशास्त्र-प्रणेताओंने इनका प्रयोग किया है। अति प्राचीन कालमें जब राष्ट्र बहुत छोटे होते थे, तब प्रायः दुर्गवत् ही नगर होते थे, जिस कारण ऋग्वेदमें 'आयसी पुरः'[3] अर्थात् लोहनिर्मित पुरकी चर्चा है। शुक्राचार्यने दुर्गको अत्यन्त अधिक महत्त्व दिया है और कहा है कि राजा उसके बिना वैसे ही शत्रुके लिये गम्य हो जाता है, जैसे विषकी दाढ़के बिना साँप और मदके बिना हाथी अर्थात् जैसे विषकी दाढ़के बिना साँप और मदहीन हाथीको जो चाहे

राजधानी

---

१ यस्याभियोगात् परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥१॥ दुर्गसमुद्देश, नीति वाक्यामृत।

२ यस्य दुर्गस्य सम्प्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः।
स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥

३ ऋग्वेद मंत्र ८ सू० २० मं० २

पकड़ सकता है, वैसे ही दुर्गहीन राजा सहजहीमें शत्रुके वशमें हो जाता है।[1]

महाभारतके शान्तिपर्वमें युधिष्ठिरको दुर्गसम्पन्न पुरके विषयमें यह उपदेश दिया गया है कि उसके दृढ़ प्राकार और खाई हों, उसमें धान्य, और आयुध हों तथा हाथी घोड़े और रथ बहुत हों।[2] धन्वदुर्ग, महीदुर्ग गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मृद्दुर्ग और वनदुर्ग ये छ भेद भी दुर्गके बताये गये हैं। शुक्रनीतिसारमें बताया गया है कि जिस दुर्गमें खाइयों, काँटों और पत्थरोंसे मार्ग कठिन बना दिया गया हो और जो ऊसरमें बना हो, वह दुर्ग ऐरिण और जिसकी चारो ओर गहरी खाइयाँ हों, वह पारिख दुर्ग कहाता है। जिसका प्राकार वा परकोटा ईंट, पत्थर या मिट्टीका हो, वह पारिघ और जो महाकंटीले वृक्षोंसे घिरा हो, वह वनदुर्ग कहाता है। जो जलके स्थानसे बहुत ऊँचेपर बना हो, वह गिरिदुर्ग और जो अभेद्य हो और जहाँ व्यूहरचना जाननेवाले शूरवीर रहते हों, वह सैन्यदुर्ग तथा जिसमें शूरवीरोंके अनुकूल बन्धुजन रहते हों, वह सहायदुर्ग कहाता है। पारिखसे ऐरिण, ऐरिणसे पारिघ और पारिघसे वनदुर्ग श्रेष्ठ हैं। सहायदुर्ग और सैन्यदुर्ग सब दुर्गों के साधन हैं। इनके बिना सब दुर्ग व्यर्थ हैं। सब दुर्गोंसे पण्डित लोग सेना दुर्गको ही श्रेष्ठ समझते हैं। इनमें सहाय दुर्ग और सैन्य दुर्गकोदुर्गोंके अन्तर्गत मानना ठीक नहीं है। दुर्गमें चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, छोटी या बड़ी सेना होती ही है। इसलिये सेनाको पुर अर्थमें कहना युक्तिसंगत नहीं है। धन्वदुर्ग मरु-

दुर्गोंके प्रकार

---

१ दंष्ट्राविरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः।
दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवद्द्विपोः ॥शुक्रः॥

२ यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥६॥ शान्तिपर्व अ० ८६

३ खात-कण्टक-पाषाणैर्दुष्पथं दुर्गमैरिणम्।
परितस्तु महाखातं पारिखं दुर्गमेव तत् ॥८४०॥
इष्टकोपल-मृद्भित्ति-प्राकारं पारिघं स्मृतम्।
महाकण्टकवृक्षौघै र्व्याप्तं तद्वनदुर्गमम ॥८४१॥
जलाभावस्तु परितो धन्वदुर्गं प्रकीर्तितम्।
जलदुर्गं स्मृतं तज्ज्ञैरासमन्तान्महाजलम् ॥८४२॥ अ० ४

भूमिका दुर्ग, महीदुर्ग कोट और मृद्दुर्ग मिट्टीका होता है। भरतपुरका किला मिट्टीका ही था जिसपर अधिकार करनेमें लार्ड लेकको दांतों पसीना आया था। गोरे इसपर चलते और धम्मसे गिर पड़ते थे।

कौटिल्यने चार प्रकारके दुर्ग माने हैं, यथा औदक, पार्वत, धान्वन और वनदुर्ग। चारो ओर नदियों वा झीलोंसे घिरा हुआ अथवा टापू औदक दुर्ग है। इसी प्रकार बड़े बड़े पहाड़ी टीलोंसे घिरा हुआ अथवा प्राकृतिक गुफाओंके रूपमें पार्वत दुर्ग होता है। ऊसर या मरुभूमिमें जो दुर्ग होता है, वह धान्वन दुर्ग और चारो ओर दलदल या काँटेदार झाड़ियोंसे घिरा हुआ वन दुर्ग होता है। इनमें औदक और पार्वत दुर्गोंसे तो जनपदकी रक्षा होती है और धान्वन दुर्ग और वनदुर्ग जंगलियोंकी रक्षाके लिये उपयुक्त होते हैं अथवा विशेष आपत्तिके समय राजा भी इनका आश्रय ले सकता है।[1] वर्त्तमान यूरोपीय युद्धमें इंगलैंडकी रक्षा अब तक इसी कारण हुई कि यह औदक दुर्गके समान है।

कौटिल्यके दुर्ग के भेद

मानसारके अनुसार आठ प्रकारके दुर्ग होते हैं, यथा, शिबिर, वाहिनी-मुख, स्थानीय, द्रोणक, संविद्धि, कोलक, निगम और स्कन्धावार। स्थानीय-को तो कौटिल्यने जनपदका मुख्य स्थान वा नगर बताया है[2] और स्कन्धावारनिवेशपर उन्होंने एक प्रकरण ही लिखा है जिससे जाना जाता है कि सेना रखनेके लिये जो छावनी होती है, वही स्कन्धावार है। छावनी बनाने की विधि स्कन्धावारनिवेशमें बतायी गयी है। यह उत्तम भूमिपर गोल, लम्बी या चौकोर बनायी जाती है और इसके चार द्वार, छ मार्ग और नौ विभाग होते हैं।[3] शिबिर पड़ाव है जहां समय समयपर जाकर सेनासहित राजा कुछ

मानसारके मतानुसार दुर्ग

---

१ अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्ध मौदकं प्रस्तरं गुहांवा पार्वतं निरुदक-स्तम्बमिरिणं वा धान्वनं खञ्जनोदकं स्तम्बगहनं वना वनदुर्गम् ॥२॥ तेषां नदी पर्वत दुर्गं जनपदारक्षास्थानं धान्वन वन दुर्गमटवी स्थानं अपाद्यपसारो वा ॥२॥ अधि० २ अ० ३

२ जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेत ॥४॥ अधि २० अ० ३

३ स्कन्धावारं वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा भूमिवशेन वा चतुर्द्वारं षट्पथं नवसंस्थानं मापयेयुः ॥१॥ अधि० १० अ० १

कालके लिये रहता है। वाहिनी उस सैन्यसमूहको कहते हैं जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०६ पैदल होते हैं। द्रोणक गांवका गढ़ होता है। संसिद्धि, कोलक और निगम सैन्यदलके ही भेद हैं। जान पड़ता है कि मानसार-ने दुर्गके भेद मनुष्यदुर्गको ही लक्ष्य करके किये हैं, स्थापत्यशास्त्रकी दृष्टिसे नहीं।

———

६ अमात्य

राज्यव्यवस्था ठीक रखनेमें राजाको जो सहायता देता है, वह अमात्य कहाता है। सब आचार्योंने अमात्य शब्दका प्रयोग राज्यकी इस प्रकृतिके लिये किया है, परन्तु सोमदेव सूरिने अमात्यसमुद्देश और मंत्रिसमुद्देश पृथक् पृथक् लिखकर दोनोंमें भेद कर दिया है। मंत्रि, पुरोहित और सेनापतिकी चर्चा मंत्रिसमुद्देशमें और अमात्यकी अन्यत्र की है। आयव्यय, स्वामिरक्षा, तंत्रपोषण वा सेनाको ठीक रखना यह अमात्यका अधिकार बताया है। जैसे बिना हवाके आग नहीं जलती, एक पहियेसे रथ नहीं चलता, वैसे ही अकेला राजा राज्य नहीं चला सकता।[2] मंत्रीके क्या अधिकार हैं इसका ब्योरा नहीं बताया है। मनुस्मृतिमें यह ठीक ही कहा गया है कि जो काम सहजमें हो सकता है, वह भी एक मनुष्यके लिये कठिन हो जाता है, फिर राज्य जैसे बड़े कामका तो कहना ही क्या![3] अर्थात् राज्यकार्यका निर्वाह बिना मंत्रियोंके नहीं हो सकता। कौटिल्यका यह कहना ठीक ही है कि जैसे एक पहियेका रथ या गाड़ी निकम्मी रहती है, वैसे ही राजत्व भी सहायसाध्य है। इसलिये राजा सचिव नियुक्त करे और उनका मत सुने।[4]

अमात्यकी परिभाषा

आवश्यकता और अधिकार

इसलिये पहला प्रश्न है कि कितने मंत्री हों? मनुके अनुयायी कहते हैं कि मंत्रि परिषद्में १२ मंत्री होने चाहिये। बृहस्पतिके अनुगामी कहते हैं कि १६ और शुक्रके अनुसर्त्ताओंका कहना है कि २० होने चाहिये। कौटिल्यका कहना है कि जितनेकी आवश्यकता हो, उतने ही मंत्री रखने चाहिये।

मंत्री कितने हों?

---

२ आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्याधिकारः ॥६॥
किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥ ४ ॥ नह्येकचक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥
नैकस्य कार्यं सिद्धिरस्ति ॥२॥ अमात्यसमुद्देश नीतिवाक्यामृतं।

३ अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुस्तरम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥५५॥ अ० ७ मनु०

४ सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्त्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥१५॥ अधि १ अ० ७

मंत्रियोंका महत्त्व

मंत्री राज्यकी प्रकृति बताया गया है, परन्तु शुक्रनीतिसारमें वह राजाकी प्रकृति भी कहा गया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि मंत्रीके दो प्रकारके स्वरूप हैं। एक तो राज्यांग होनेके कारण राज्यके कार्योंका वह निर्वाह करता है और इसलिये राज्यकी प्रकृति है और दूसरे राजाके उत्तरदायित्वको हल्का करने और उसे परामर्श देनेके कारण वह राजाकी प्रकृति भी है, क्योंकि इसका काम बँटा लेता है। पुरोहित, प्रतिनिधि, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमंत्र, अमात्य और दूतको शुक्रनीतिसार राजाकी दस प्रकृति बताता है, परन्तु साथ ही कहता है कि किसी किसीके मतसे आठ ही प्रकृति होती हैं, जैसे सुमंत्र, पण्डित, मंत्री, प्रधान, सचिव, अमात्य, प्राड्विवाक और प्रतिनिधि अर्थात् इनके अनुसार पुरोहित और दूत मंत्री नहीं हैं।[1] महाभारतमें दो स्थलोंपर प्रकृति शब्द आया है, परन्तु व्याख्या इसकी नहीं दी है। फिर भी टीकाकार नीलकंठने कदाचित् अमरकोशसे[2] स्वामि, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बलको राज्यांग प्रकृति तथा पुरवासियोंकी श्रेणियाँ लिखकर राजाकी ये प्रकृतियाँ बतायी हैं—दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, चमूपति, पुरोहित वैद्य और ज्योतिषी। परन्तु ऊपर जो प्रकृतियां बतायी गयी हैं, उनके रहते पुरोहितको छोड़ ये बहुत ही निम्नकोटिकी ठहरती हैं। कामन्दकीय नीतिसारने अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्डको राजाकी प्रकृति बताया है और यह उचित भी जान पड़ता है।

महाभारतके शान्ति पर्वके ८० वें अध्यायके २४वें श्लोक और सभा-

---

१ पुरोधा च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा ६९॥
मंत्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितश्च सुमंत्रकः।
अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ॥७०॥
दशमांशाधिकाः पूर्वं दूतान्ताः क्रमशः स्मृताः।
अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित्स्मृतः सदा ॥७१।
सुमंत्रः पण्डितो मंत्री प्रधानः सचिवस्तथा।
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥७२॥ अ० २

२ स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश-राष्ट्र-दुर्गबलानि च।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥

पर्वके ५ वें अध्यायके २२ वें श्लोकमें तथा सभापर्वके ५ वें अध्यायके ३८ वें श्लोकमें यह तो कहा गया है कि १८ अधिकारी होते हैं परन्तु नाम नहीं दिये हैं। यहां भी टीकाकारने अपनी ओरसे ये १८ अधिकारी गिनाये हैं—मंत्री, पुरोहित, युवराज, चमूपति, द्वारपाल, अन्तर्वशिक, कारागाराधिकारी, द्रव्यसञ्चयकारी, व्ययाधिकारी, प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकारी, राष्ट्रान्तपालक, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, और अटवीपाल वा वनाध्यक्ष। कौटिल्यके मतसे मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, अन्तर्वशिक, युवराज, प्रशास्ता, समाहर्त्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर, व्यावहारिक सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल और अन्तपाल ये १८ तीर्थ हैं। दोनोंमें मंत्री युवराज, पुरोहित, द्वारपाल, अन्तर्वशिक, प्रदेष्टा, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, अटवीपाल और दुर्गपाल ये नौ नाम तो एक ही हैं। राष्ट्रान्तपाल अन्तपाल ही है। द्रव्यसंचयकारी समाहर्त्ता और व्ययाधिकारी संनिधाता तथा धर्माध्यक्ष व्यावहारिक है। प्रशास्ता ही कदाचित् नीलकण्ठका कारागाराधिकारी है। पौर यदि संस्था न मानें तो नगराध्यक्षके लिये आ सकता है। चमूपति और सेनापतिको एक समझ लें तो भी कार्य निर्माणकारी और नायकको एक नहीं कह सकते।

अष्टादश तीर्थ

व्यवहार प्रकरणमें महाभारतमें कुछ और मंत्रियोंका उल्लेख है। पहले कहा गया है कि चार वेदज्ञ स्पष्टवादी पवित्र ब्राह्मण, आठ शस्त्रधारी बली क्षत्रिय, २१ धनी वैश्य और तीन विनीत और अपने कार्यमें दक्ष पवित्र शूद्र और आठ गुणोंसे युक्त सूत हो। ये सभी ५० वर्ष के स्पष्टवादी, अद्वेषी, कार्याकार्यके विवादोंके निर्णयमें समर्थ, निर्लोभ तथा घोर और बली व्यसनोंसे शून्य हों। परन्तु अन्तमें आये श्लोकमें कह दिया गया है कि आठ मंत्रियोंके बीचमें बैठकर राजा स्वयं मंत्रणा करे और अनन्तर यह निर्णय राष्ट्रमें भेजकर लोगोंको दिखावे। इस व्यवहारसे प्रजाकी रक्षा किया करे।[1] वास्तवमें आठ मंत्रियोंकी सभा ही मंत्रिपरिषद् है।

महाभारतके दूसरे प्रकरणमें मंत्रियोंकी योग्यताकी चर्चा

1 चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन्।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया।

मनुस्मृतिमें भी ७ या ८ मंत्री रखनेका उपदेश है। मन्त्रियोंकी योग्यता और कार्योंका समावेश उसमें अत्यन्त संक्षेपमें किया गया है। कहा गया है कि जो लोग वंशपरम्परासे मंत्रीका कार्य करते आते हों, शास्त्रज्ञ हों, अच्छे निशानेबाज हों, शूर हों, अच्छे कुलके हों और परीक्षा किये हुए हों ऐसे सात आठ मंत्रियोंको राजा नियुक्त करे और इनके साथ सन्धि, विग्रह, स्थान, उन्नति और रक्षाका विचार तथा प्राप्त द्रव्यका सत्पात्रोंमें वितरण का चिन्तन करे।[१]

छत्रपति शिवाजीकी मंत्रिसभामें भी आठ मंत्री थे और वह अष्ट-प्रधानोंकी सभा कहाती थी। उसमें पुरोहित और दूतका स्थान न था। अमात्य, सचिव, पेशवा, सेनापति, मंत्री, सुमंत, पण्डित और न्यायाधीश ये उनके नाम थे। अमात्य अर्थमंत्री, सचिव एकाउटेंट जेनरल और आडिटर, पेशवा प्रधान मंत्री, प्राइवेट सेक्रेटरी और सुमन्त परराष्ट्र सचिव था।[२]

शिवाजीकी मंत्रिसभा

प्राचीन समयमें पुरोहितका राजापर बड़ा प्रभाव था और उसकी सम्मतिके विना राजा कोई काम नहीं कर सकता था। कौटिल्य जैसे साम्राज्य-वादी आचार्यने भी जब कहा है कि पुरोहितका अनुगामी राजा उसी

त्रींश्चशूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥८॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥९॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥१०॥
वाजतं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ॥
अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥११॥
ततः सम्प्रेपयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाःसदा ॥शा० प० अ० ८५

१ मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४॥
तैस्सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥ अ० ७

२ रानाडेकृत Rise of Maratha Power p. 125-26

प्रकार रहे जैसे पिताका पुत्र और स्वामी का भृत्य होता है, तब समझ लेना चाहिये कि पुरोहितका कितना महत्त्व था।[१] हमारे ही देशमें नहीं, सभी देशोंमें यही बात थी। दूत वा राजदूतका काम भी बड़े उत्तरदायित्वका है और वह पूर्ण अधिकारोंसे युक्त राजाका प्रतिनिधि ही है। राजा परराष्ट्र-नीतिके विषयमें इससे परामर्श भी करता था। अंगरेजीमें राजदूतको मिनिस्टर भी कहते हैं जिससे जान पड़ता है कि किसी समय राजा इससे मंत्रणा करता था।

---

१ तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्त्तेत।

अधि० १ अ० ६

१० सुहृत् वा मित्र

जो राजा या राष्ट्र दूसरे राजा या राष्ट्रके सुख दुःखमें अथवा सम्पत् विपद् दोनोंमें स्नेह करे, वह सुहृत् वा मित्र कहाता है। जैमिनिका मत है कि जो समृद्धि और विपद् दोनोंमें स्नेह करे, वह सज्जन मित्र और विपरीत आचरण करनेवाला वैरी होता है।[1]

मित्र कौन है?

महाभारतमें भीष्मने चार प्रकारके मित्र इस भांति बताये हैं सहार्थ भजमान, सहज और कृत्रिम। जब किसीका राज्य आपसमें बांट लेनेके लिये दो राजा मित्र बनते हैं, तब वे सहार्थ मित्र अर्थात् समान स्वार्थवाले मित्र कहाते हैं, जैसे जर्मनी और रूसने पोलैंडको बांट लेनेके लिये अपनी शत्रुता मित्रतामें परिणत कर दी। पीढ़ी दर पीढ़ीके मित्र भजमान, नातेदार सहज मित्र और धनादिके लोभसे बने हुए मित्र कृत्रिम होते हैं।[2] शुक्रनीतिसार भी चार ही प्रकारके मित्र मानता है, उपकार करनेवाला, करानेवाला, अनुमति देनेवाला तथा सहायक।[3] परन्तु ऐसे मित्र साधारण लोगोंके ही होते हैं, राजाओंके तो असम्भव हैं। नारदका मत है कि जो मनुष्य बिना कारण दूसरेका मित्र बन जाता है, वह नित्य मित्र है।[4] राजनीतिमें ऐसे मित्रोंका सर्वथा अभाव रहता है और जो ऐसी मित्रताका दावा करते हैं, वे मित्र नहीं, स्वामी बनते हैं। भागुरिका वचन है कि जो मित्र पूर्व-पुरुषोंसे चले आते हैं वे, सहज मित्र

मित्रोंके भेद

---

१ यत्समृद्धो क्रियात्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि।
तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भि वैपरीत्येन वैरिणः॥

२ चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवत्युत।
सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा। ३॥ शा० प० अ० ८०

३ मित्रं शत्रुश्चतुर्धास्यादुपकारापकारयोः।
कर्ता कारयिता चानुमन्ता यश्च सहायकः॥२॥ अ० ४

४ रक्ष्यते पथ्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः।
रक्षेद्वा पथ्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते॥

है[1] और भारद्वाज द्रोणका मत है कि जो द्रव्यके लोभसे मित्र बन जाते हैं, वे कृत्रिम मित्र हैं।[2]

महाभारतमें जो चार प्रकारके मित्र बताये गये हैं, उनमें बीचके दो श्रेष्ठ हैं। भीष्मने कहा है कि मित्रोंकी रक्षाके काममें राजा कभी असावधानी न करे, क्योंकि प्रमादी राजाका लोग पराभव करते हैं। राजा किसीका पूर्ण मनुष्यका मन स्वभावसे ही चञ्चल होता है। कभी अच्छा विश्वास न करे। बुरा और कभी बुरा अच्छा हो जाता है इसलिये किसीका पूर्ण विश्वास न करके आवश्यक कार्य स्वयं करे।[3] राजनीतिमें सहार्थ और कृत्रिम मित्र ही देखे जाते हैं, क्योंकि उसमें स्वार्थ ही काम करता है। उसमें न तो नातेदारी मित्रताको दृढ़ कर सकती है और न परम्परा। नातेदारीसे काम हो सकता तो इंगलैण्ड और जर्मनीमें युद्ध न होता और जर्मनीके अफ्रिकन उपनिवेशोंपर 'मांडेट' की आड़में इंगलैण्डका अधिकार न हो जाता; क्योंकि जर्मनीके विल्हेम कैसर विक्टोरियाके नाती और इंगलैण्डके पांचवें जार्ज पोते थे। इंगलैण्ड और फ्रान्सकी परम्परा शत्रुताकी थी, क्योंकि अनेक बार दोनोंमें युद्ध हुए थे। उसके सिवा १८१५ में वाटरलूके मैदानमें इंगलैण्ड और जर्मनीके मुख्य राज्य प्रुशियाकी सेनाओंने फ्रान्सके

---

१ सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ।
मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि॥

२ वृत्तिं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः।
तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीति शास्त्रविदोजनाः॥८॥

३ चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शङ्क्यौ तथाऽपरौ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः॥६॥
नहि राजा प्रमादो वै कर्त्तव्यं मित्ररक्षणे।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत॥१७॥
असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रञ्चापि प्रदुष्यति॥८॥
अनित्यचित्तःपुरुष स्तस्मिन् को जातु विश्वसेत्॥
तस्मात्प्रधानं यत्कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत्॥६॥
शान्तिपर्व अ० ८०

सम्राट् नैपोलियन बोनापार्टको हराया था। १९१४ में परम्पराके विरुद्ध इंगलैण्ड और रूस मिलकर जर्मनीसे लड़े थे। इंगलैण्डको कोई सौ सालसे सुपने आ रहे हैं कि रूस पश्चिमोत्तरसे भारतपर आक्रमण करेगा। १९१४ में इस परम्पराके विरुद्ध दोनो मिल ही नहीं गये, परन्तु तुर्कोंका राज्य बांट लेनेके लिये सहार्थ सन्धि भी की। इटलीका पहले जर्मनी आस्ट्रियासे मिलना और फिर मित्रता तोड़कर आस्ट्रियापर आक्रमण करना कृत्रिम सन्धिका उदाहरण है। भारत सरकार और अफगानिस्तानकी मित्रता कृत्रिम मित्रताका दूसरा दृष्टान्त है। अफगानिस्तानको भारत सरकार १८ लाख वार्षिक देती थी, परन्तु अफगानिस्तानने इसका विचार न कर १९१९ में उसपर चढ़ाई कर दी। पिछले युद्धके शत्रु जर्मनी और इटली इस युद्धमें मित्र हैं और पिछले तथा इस युद्धके मित्र इंगलैंड और फ्रान्समें वैमनस्यके लक्षण दिख रहे हैं। संसारके इतिहाससे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने संक्षेपमें यही बात यों कह दी है :—समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते॥ भानु कमल कुल पोपनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा॥

शुक्रनीतिसारके अनुसार वह शत्रु होता है, जो अपने इष्टकी हानि करे।[1] कामन्दकका मत है कि जिस पदार्थको लेनेकी अपनी इच्छा हो और वही पदार्थ दूसरा लेना चाहे, तो वह पुरुष शत्रु कहाता है और

शत्रुके लक्षण

जिस शत्रुमें विजिगीषु—विजयाकांक्षीके गुण हों, उसे दारुण शत्रु समझना चाहिये।[2] इस प्रकार जिसकी सहायतासे स्वार्थसिद्ध होता है, वह मित्र और जिससे उसमें बाधा पड़ती है, वह शत्रु है।

---

१ अयोध्या काण्ड।

२ स्वेष्टहानिकरः शत्रु दुष्टः पापप्रचारवान्। ४२४ अ० ४

३ एकार्थाभिनिवेशित्वमरिलक्षणमुच्यते।
दारुणस्तु स्मृतः शत्रुर्विजिगीषुगुणान्वितः॥१४॥
कामन्दकीय नीतिसार सर्ग ८

द्वितीय भाग

१ राष्ट्रसभा

कुछ लोगोंके समूहमें जो वादविवाद होता है, वह सभा कहाता है। अथर्ववेदमें बताया गया है कि सभाका नाम नरिष्टा वा वादानुवाद है।[1] परन्तु

राष्ट्र सभाके विकास की कल्पना

जिस सभाका हम विचार कर रहे हैं, वह बकवादियोंकी सभा नहीं, राष्ट्रीय विषयोंपर विचार और उनका निर्णय करनेको होती थी। इस कारण उसके कुछ नियम और अधिकार भी थे। परन्तु राष्ट्रसभाके इस विकासका इतिहास उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेदसे हम केवल इतना ही जान पाते हैं कि जनशक्तिका विकास पहले सभाके रूपमें हुआ, फिर समितिमें परिणत हुआ और अन्तमें उसकी पूर्ति मन्त्रणामण्डलमें हुई।[2] यह मन्त्रणा-मण्डल ही राष्ट्र सभा होगा। जब राष्ट्र उत्पन्न हुआ होगा, तब राष्ट्रकार्यपर विचार करनेके लिये राष्ट्र सभाकी आवश्यकता हुई होगी। आदिमें समाज—अवश्य ही ग्राम-समाजकी शक्तिका संगठन ग्राम-सभामें हुआ होगा और फिर कई ग्रामोंकी शक्तियां वा सभाएँ मिलकर समिति रूपमें आयी होंगी और अन्तमें समितियोंकी सम्मिलित शक्तिने आमंत्रणा-मण्डल वा राष्ट्रसभाका स्वरूप प्राप्त किया होगा।

---

१ विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ॥७।१२।२ अथर्व०
We know thy name Conference thy name is interchange of talk. Griffith.

२ सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥८॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥९॥
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥१०॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥११॥
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥१२॥
यन्त्यस्यामंत्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद॥१३॥ सू० १० कांड ८

सभाको ग्रामसभा, समितिको नगर वा जिलेकी सभा और ग्रामों और नगरोंकी प्रतिनिधि सभाको मन्त्रणा-मण्डल वा राष्ट्रसभा कहना उचित प्रतीत होता है। इसलिये सभामें जानेवाला सभ्य, समितिमें जानेवाला सामित्य और आमन्त्रणा-मण्डलमें जानेवाला आमंत्रणी कहाता था। सभा और समितिके सम्बन्धमें ऊपर जो कहा गया है, वह कल्पना मात्र है; क्योंकि हमारे पास अभी ऐसे कुछ प्रमाण नहीं हैं जिनसे हम इदमित्थं कुछ कह सकें। सभा और समिति दोनोंकी चर्चा अनेक वेद मंत्रोंमें अलग अलग और कहीं एक साथ भी मिलती है, परन्तु वे क्या करतीं थीं यह जाननेका कोई उपाय नहीं है। किसी किसीके मतसे यह सभा ग्राम-सभा नहीं, राजसभा थी, जिसमें बड़े बड़े आदमी राजाके साथ प्रश्नोंपर विचार करते थे।[1] परन्तु अथर्ववेदमें आमंत्रणके विकासका जो क्रम दिया है, वह इसके सर्वथा विपरीत है। समितिको ऋग्वेदके १०।१४१।४ मंत्रमें 'संगति' कहा है और कहीं कहीं वह संग्राम भी बतायी गयी है। संग्राम शब्दका प्रयोग आजकल युद्धके लिये किया जाता है, परन्तु वह ग्राम-समूहके लिये भी प्रयुक्त होता था। इससे यदि यह अर्थ किया जाय कि ग्राम-समूहकी सभा समिति थी तो दोष नहीं। यह भी कहा जाता है कि समिति युद्ध-समिति होती थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पहले जो 'संग्राम' शब्द युद्ध सम्बन्धी कार्यपर विचार करनेवाली संस्थाके लिये प्रयुक्त होता हीं था, वही कालान्तरमें संग्राम कहाने लगा हो।

सभा और समितिके विषयमें वेदोंमें जो अनेक मंत्र मिलते हैं, उनसे इतना ही जाना जाता है कि ये दो संस्थाएं थीं। पर ये क्या करती थीं इसका पता नहीं लगता। ऋग्वेदके एक मंत्रमें बताया गया है कि

सभा और समिति का अन्तर

सब मित्र यशस्वी होकर आनेवाले, सभाको सहन करनेवाले, मित्रको (राजाको) देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वह अन्याय वा पापको दूर करनेवाला, अन्नकी वृद्धि करने-

---

1 This sabha, which we designate as the Political Council had hardly any connection with the village. but was a central aristocratic gathering associated with the king. Development of Hindu Polity and Political Theories. p. 111 by Narayan Chandra Bandopadhyaya.

वाला है तथा बल बढ़ाकर प्रजाकी रक्षा करनेमें पूर्ण रूपसे समर्थ है।[१]

इस मंत्रमें 'सभाको सहन करनेवाले मित्रको' पद विशेष विचारणीय है, क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि उक्त सभाको राजाके कार्योंकी टीका करनेका भी अधिकार था और जो राजा यह आलोचना सह लेता था, वह सभाको सहन करनेवाला समझा जाता था। प्रायः एक सौ सूक्तोंके बाद एक ऋचा है जिसमें राजा अपने सामित्योंसे कहता है 'हे सामित्यो! मैं सब प्रयत्नोंसे विजयी और तेजस्वी होकर आया हूँ। तुम्हारा विचार और तुम्हारी समिति मैं स्वीकार करता हूँ।'[२] इस मंत्रका भी विशेष अर्थ है और वह यह कि समिति राजाकी आलोचना ही नहीं करती थीं, वरञ्च ऐसे निर्णय भी करती थी, जो उसके प्रतिकूल होते थे, परन्तु इन्हें माननेके लिये वह बाध्य होता था।

समिति क्या करतीं थीं?

अथर्ववेदमें राज्याभिषेकके समयका एक मंत्र है जिसमें राजासे कहा गया है, 'तू स्थिर हो, पदच्युत न हो, शत्रुओंका संहार कर, शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा। सब दिशाओंमें राजकार्यके लिये एकता और मेलसे काम करनेवाले हों और तू अपनी स्थिरताके लिये समिति बना।[३] इससे जान पड़ता है कि समितिके बिना राजा स्थिर नहीं हो सकता था। परन्तु सभा समिति दोनोकी अनुकूलता राजाके लिये आवश्यक होती थी, क्योंकि एक और मंत्रमें बताया गया है कि 'उसने प्रजाका अनुगमन किया और सभा, समिति, सेना और सुरा वा ईश्वरताने उसका अनुगमन किया और जो

सभा और समिति का प्रयोजन

---

१ सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥१० अथर्ववेद।७१।१०

२ अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आवश्चित्तमावो व्रतमावोऽहं समितिं ददे ॥४॥ ऋ० १०।१६६

३ ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रुञ्छत्रूयतो धरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीची ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥२॥
अथर्व. सू० ८८ कां० ६

यह जानता है, वह सभा, समिति, सेना और सुराका प्रियपात्र होता है।[१] अथर्ववेदका एक मंत्र और है जिसमें सभा और समिति प्रजापतिकी कन्याएं बतायी गयी हैं। राजाका वचन है कि सभा और समितिको मैं प्रजापतिकी कन्याएं समझता हूँ। ये मेरी रक्षा करें। जिससे मैं मिलूँ, वह मुझे उपदेश दे और मैं अपने पितरोंसे (राजा बनानेवालोंसे) रुचिर वचन बोलूँ।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि सभा और समिति दोनोंका राजकार्यसे सम्बध था। और सभा केवल न्यायालय नहीं थी, यद्यपि जायसवालजी और बन्द्योपाध्यायजीकी यह बात मानी जा सकती है कि सभा न्यायसभाका भी काम करती थी। जायसवालजीने पारस्कर गृह्यसूत्रमें इसके लिये 'घोर', 'आपत्ति' और 'घोरता' शब्दोंका प्रयोग देखकर निश्चय किया है कि यह 'आपत्ति' और 'घोरता' अपराधियोंके लिये ही थी।

क्या सभा समिति लार्ड और कामन्सकी सभाएँ थीं ?

किसी किसीकी सम्मतिमें सभा मंत्रिपरिषद और समिति राष्ट्रसभा थी। यह असम्भव नहीं है, क्योंकि राष्ट्रसभाकी उत्पत्तिका क्रम यही हो सकता है कि पहले राजा अपने सहायकों और मित्रोंसे परामर्श करता हो और जब समस्त राष्ट्रका संगठन हो जाय, तब राष्ट्रसभा हो। यही समिति कहलाने लगी होगी। पाश्चात्य विद्वानों-का मत है कि सभा ब्राह्मणों और मघवों वा क्षत्रियोंकी संस्था थी और समितिमें विश् वा प्रजाजन बैठते थे और ब्राह्मणों तथा मघवोंको वहां जानेकी स्वतंत्रता थी। इस हिसाबसे सभा लार्ड सभा और समिति कामन्स सभा थी।

जो हो, यह निश्चय है कि राजाके निर्वाचन और उसकी पदच्युतिमें विश् वा साधारण प्रजाकी अनुकूलता अपेक्षित होती थी, क्योंकि अथर्ववेदके एक

---

१ स विशोनुव्यचलत् ॥१॥
तं सभा समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥२॥
सभायाश्च वै ससमितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३॥ अथर्व० कांड १२ सू० ९

२ सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापते र्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाचारु वदानि पितरः संगतेषु ॥१॥सू० १२ कांड७
Hindu Polity. pp. 18-19 pt. 1

मंत्रमें बताया गया है कि सब विश् तुझे चाहें।[1] दूसरेमें कहा गया है कि तुझे विश् राज्यके लिये चुनें।[2] अथर्ववेदका ही एक मंत्र है, जिसमें कहा गया है कि जो राजा पुरोहितपर अत्याचार करता है, उसके राष्ट्रमें मित्रावरुणाका जल नहीं बरसता, उसे समिति नहीं मानती और न वह मित्रको वशमें ही कर सकता है।[3] समिति और सभा दोनोंके अध्यक्ष होते थे, जो ईशान या सभापति कहाते थे।

विशका महत्त्व

कौरवोंकी सभामें सन्धिकी आवश्यकतापर श्रीकृष्णने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था। पाण्डवोंसे सन्धिका जो प्रस्ताव श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें किया था, उसका विचार भी कौरवोंकी सभामें हुआ था। परन्तु द्रौपदीके साथ राजसभामें जैसा व्यवहार दुःशासनने किया, उससे स्पष्ट होता है कि सभा नाममात्र रह गयी थी, उसके सभासद मुसाहब बन गये थे और वह एक तरहका दरबार या राजाकी बैठक बन गयी थी। इससे सिद्ध है कि कुरुक्षेत्र युद्धके पहले सभाका कोई महत्त्व नहीं रह गया था।

कुरुक्षेत्र युद्धके पहले सभा हतप्रय हो गयीथी।

यद्यपि बौद्ध कालके गणराज्योंका समस्त कार्य सभाओंद्वारा होता था, तथापि इनके अधिकारों आदिका भी विशेष वर्णन अप्राप्य है। परन्तु प्रोफेसर ह्रीज़ डेविड्सने प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थोंके अध्ययनसे जाना है कि थोड़े बहुत शक्तिशाली राजतंत्रोंके साथ पूर्ण अथवा अपूर्ण स्वतन्त्रतायुक्त प्रजातंत्र राज्य बच रहे थे। मगध, कोशल, वंश वा वत्स तथा अवन्तीमें तो राजा थे और अवशिष्ट देशोंमें गणतंत्र थे। मगधकी राजधानी राजगृह वा राजगिर थी और इसके राजाका नाम बिम्बिसार था। कोशलकी राजधानी सावत्थी वा श्रावस्ती थी और राजाका नाम पसेनादि (प्रसेनजित्) था।

राजतंत्रोंके साथ ही प्रजातंत्रोंका अस्तित्व

१　आत्वा हार्षमन्तभूर्ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१॥ अथर्व० ८८ सू० ६
कांड ३।४।२

२　त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥२॥ सू०२कां०३

३　न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति।
नाऽस्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥१२।२।१६ अथर्व०

वंश वा वत्सकी राजधानी कौशाम्बी थी, जो आजकल प्रयागके पासका कोसम गांव है। इसके राजाका नाम उदेन वा उदयन था। अवन्तीकी राजधानी उज्जयिनी थी और राजाका नाम पज्जोत (प्रद्योत) था। लिच्छिवि, मल्ल शक आदि जातियोंके भी प्रजातंत्र थे। इस शाकीय जातिका शासन और विचार सम्बन्धी कार्य सार्वजनिक सभामें (संथागारमें) होता था, जिसमें छोटे बड़े समान रूपसे उपस्थित होते थे। ऐसी ही पार्लमेंटमें राजा पसेनादिके (शाकीय वंशकी कन्यासे ब्याह करनेके) प्रस्तावपर विचार हुआ। जब अम्बट्ट (अम्बष्ठ) कार्यवश कपिलवस्तु गया, तब वह संथागारमें गया, जहां अधिवेशन हो रहा था। बुद्धकी मृत्युकी सूचना देनेके लिये आनन्द मल्लोंके संथागारमें ही गया था, जहां वे उस समय उसी विषयपर विचार कर रहे थे।[1]

इन गणतंत्रोंके मुखियोंकी संज्ञा राजा थी। प्रो० ह्रीज डेविड्स लिखते हैं:—'यह हमें नहीं मालूम कि एक मुखिया—कैसे और किस अवधिके लिये कार्यकर्ता निर्वाचित होता था, जो सभाके अधिवेशनोंमें
ऽजातंत्रका मुखिया अध्यक्षत्व करता था और जब अधिवेशन नहीं होते थे, राजा कहाता था तब राजकाज चलाता था। इसकी पदवी राजा थी, जो
कुछ कुछ रोमनोंके कान्सल या यूनानियोंके आर्कनके समान था।' पर लिच्छिवियोंमें ऐसे पदपर एक त्रिमूर्ति या तिगुट होता था जिसका जोड़ा कहीं नहीं मिलता और न राजाके समान वैसे कार्योंका ही पता चलता है जो ऊपर लिखे वास्तविक राजाके विषयमें कहे जाते हैं। पर हम सुनते हैं कि किसी समय बुद्धका जवान चचेरा भाई भद्दिया (भद्रिय) राजा था और दूसरे स्थलपर बुद्धका पिता शुद्धोदन राजा कहा गया है, जो अन्यत्र साधारण नागरिक शाकीय शुद्धोदन बताया गया है।[2]

---

१ Rhys David's Buddhist India. p. 19

२ A single chief—how and for what period was chosen, we do not know—was elected as office-holder, presiding over the sessions, and if no sessions were sitting over the State. He bore the title of raja which must have meant

इस वर्णनसे जाना जाता है कि गणराज्योंकी सभाएँ जीती जागती संस्थाएँ थीं। बौद्धोंके महापरिनिब्बान सुत्त तथा महावग्ग आदि अनेक ग्रंथोंमें इन गणराज्योंकी चर्चा है। मगधके राजा अजातशत्रुने गौतम बुद्धसे पूछा था कि हम वज्जी संघको कैसे अपने अधीन करें। इसपर अजातशत्रुके मंत्री वर्षकारके (वस्सकारके) सामने बुद्धने अपने मुख्य शिष्य वा अग्रश्रावक आनन्दसे पूछा, 'आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जी समय समयपर पूरी सभाएँ करते हैं?' आनन्दने उत्तर दिया, 'महाराज, मैंने ऐसा ही सुना है।' इसपर बुद्धने कहा, 'आनन्द, जबतक वज्जी समय समयपर सभा करते रहेंगे, मेलसे मिलेंगे और मेलसे उठेंगे तथा मेलसे ही अपने उत्तरदायित्व-का निर्वाह करते रहेंगे, जबतक वे ऐसा काम न करेंगे जो पहलेसे ही नहीं चला आता और जो चला आता है, उसे बन्द न करेंगे और पुराकालमें स्थापित वज्जियोंकी संस्थाओंके अनुसार कार्य करते रहेंगे, जबतक वे वज्जियों-की प्रतिष्ठा और आदर करते रहेंगे, तबतक वज्जियोंकी अवनतिके बदले उन्नतिकी ही आशा है।'

वज्जियोंपर अजातशत्रुकी चढ़ाई

---

something like the Roman consul or Greek archan.+ ÷ But we have nowhere such a triumvirate as bore correspond-ing office among the Lichchavis nor of such acts of kingly sovereignty as are ascribed to the real kings mentioned above. But we hear at one time that Bhadiya a young cousin of the Buddha's was the raja and in another passage Sud-dhodana the Buddha's father (who is elsewhere spoken of as a simple citizen Suddhodan the Sakiyen) is called the raja. p. 19

+ प्रजातंत्रके समय रोममें समस्त रोमन समाजके साधारण मैजिस्ट्रेटोंमें दो सर्वोच्च मैजिस्ट्रेट कान्सल कहाते थे।

÷ प्राचीन यूनानके कई राज्योंमें सर्वोच्च मैजिस्ट्रेट आर्कन कहाते थे। पहले ये १० वर्ष और फिर एक वर्षके लिये नियुक्त होते थे। ये मुल्की काम करते थे।

वेदकालमें सभा और समिति राष्ट्रकी प्रकृतिस्वरूपिणी थीं और राजा इनकी उपेक्षा तो कर ही नहीं सकता था, प्रत्युत् इन्हें अपने अनुकूल करनेका प्रयत्न किया करता था। रामायण कालमें राजा सभाकी

राष्ट्र सभाका ह्रास

अनुकूलता तो चाहता था, परन्तु सभा स्वयं राजाकी इच्छाके विरुद्ध कार्य नहीं करती थी। महाभारतके समयमें ये संस्थाएँ राजतंत्र राज्योंके आभूषण मात्र रह गयी थीं। परन्तु गणराज्योंमें इनकी तूती बोलती थी। कालान्तरमें राजतन्त्र और गणतंत्रमिश्रित नयी राज्यपद्धति प्रचलित की गयी, जिसमें राजाकी स्वेच्छाचारिताके नियंत्रणके लिये मंत्रिपरिषद्की व्यवस्था हुई। अन्तमें मंत्रिपरिषदें अपने अधिकार खो बैठीं और राजा परम स्वतंत्र हो गये।

परन्तु दक्षिण भारत-विशेषकर केरलमें राष्ट्र-सभाओंका पता लगता है। केरलमें राजाकी संज्ञा 'उटायावर' थी और राज्यकी नाड। नाडका अर्थ—'अधिकारी नायर लोगोंका संघ' था था। इस

मलबार गैजेटियर का प्रमाण

संघमें प्रायः ६०० प्रतिनिधि होते थे और इनका काम नाडके अधिकारोंकी रक्षा और राजाके कामोंकी देखभाल करना था। 'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रन्थसे हमें मालूम हुआ है कि राजाके विरुद्ध प्रजाके जो अधिकार थे, वे दिनोंदिन कम न होने लगें अथवा उपयोग न होनेपर उनकी विस्मृति न हो जाय यही इस नाड संघका मुख्य हेतु या उपयोग था। मलबार गैजेटियरसे हम जान सकते हैं कि 'ये संघ प्रजाकी प्राचीन प्रथाओं और सनातन अधिकारोंकी रक्षा करते थे। यही नहीं, राजाके नियुक्त किये हुए मंत्रियोंको अनुचित कार्योंके लिये दण्ड भी देते थे और देशकी पार्लमेंटके समान थे। मद्रासके भूतपूर्व गवर्नर सर टामस मनरोने सन् १७४६ में अपनी दिनचर्या सम्बन्धी पुस्तिका या डायरी में लिखा है:—'नायर लोग कालीकटकी प्रजामें सबसे श्रेष्ठ हैं और इनकी संस्थाकी रचना पार्लमेंटकीसी है। इससे इनकी बातोंपर राजाज्ञा भी नहीं चलती थी और ये मंत्रियोंको भी दण्ड दे सकते थे।' और भी 'अति प्राचीन कालसे १८ वीं शताब्दीके अन्त तक नायरोंकी तारा या नाड संस्थाएँ शासकोंके अत्याचार और क्रूरतासे देशकी रक्षा करती थीं और यही कारण है कि इतने दिनोंतक मलयाली देशकी अपेक्षाकृत अधिक समृद्धि रही

और इसीने किसी समय कालीकटको पूर्व और पश्चिमके बीच बड़ी मंडी बनाया था।[१]

दक्षिण भारतकी राज्यव्यवस्थाके अनुसन्धानसे यही जाना गया है कि चेर, चोल और पाण्ड्य राज्योंमें पांच बड़ी सभाएँ थीं। पहली प्रजा प्रतिनिधि सभा, प्रजाके अधिकारोंकी रक्षा करती थीं। दूसरी सभा पुरोहितोंकी थी, जो सब धार्मिक कृत्योंका संचालन करती थी। तीसरी वैद्यसभा थी, जो राजा और प्रजाके स्वास्थ्यकी सम्हाल करती थी। चौथी ज्योतिषियोंकी सभा थी, जो सार्वजनिक कृत्योंके लिये मुहूर्त्त निर्द्धारित करती थी और भावी घटनाएँ बताती थी। पांचवीं और अन्तिम मंत्रिसभा थी, जो न्याय और आय व्ययकी व्यवस्था करती थी। पुरमें प्रत्येक सभाके लिये स्वतंत्र स्थान था, जहां उसके अधिवेशन और कार्य होते थे। इन सभाओंका संगठन कैसा था, प्रतिनिधि सभामें किस सिद्धान्तपर लोग जाते थे और उन्हें क्या विशेष अधिकार प्राप्त थे इसका ब्योरा नहीं मिलता।

राज्यकी ५ बड़ी संस्थाएं

शुक्रनीतिसारके सिवा किसी ग्रन्थमें राजसभाका वर्णन नहीं मिलता पर इससे भी सभाके पुराने महत्त्व और अधिकारोंका पता नहीं लगता। साधा-

---

१ They were in short the custodians of ancient rites and customs, they chastised the chieftain's ministers, when they committed 'unwarrantable acts' and were the Parliament of the land. Malabar Gazettier p. 267 pt. I

From the ancient times down to the eighteenth century, the Nayar Tara or Nad organizations kept the country from oppression and tyranny on the part of the rulers, and to this fact more than to any other is due the comparative prosperity which Malyali country so long enjoyed and which made Calicut at one time the great emporium of trade between the east and west. Sir Thos. Munro's Diary p. 132.

रणतः सभाकी जहां चर्चा की गयी है, वहां सभा भवनकी बनावट और कारीगरी बताकर ही सन्तोष किया गया है। कहा गया है कि राजा ऐसी सभा बनावे जो बड़ी गुप्त और बड़ी ही मनोरम हो। ऐसी राजसभा मंत्रणा और कार्यकी देखभालके लिये हो। और अमात्य सभ्य, लेख्य और अधिकारियोंकी ऐसी ही शालिका होनी चाहिये।[1] इस वर्णनसे जाना जाता है कि सभाभवनमें ही मंत्रियों, सभ्यों, लेख्यों और अन्यान्य अधिकारियोंके दफ्तर थे। सभाका एक और वर्णन आगे चलकर मिलता है, जिसमें लिखा है कि राजसभामें राजा मित्रों, भाइयों, पुत्रों, बान्धवों, सेनरों, सभ्यों आदिके साथ राजकृत्यपर विचार करे। बाद सभामें बैठनेका यह क्रम बताया गया है कि सारा सभा स्थल चार भागोंमें बांटा जाय और पश्चिमी भागके बीचोबीच राजाका आसन हो। उसके पुत्र, पौत्र, भाई और भानजे राजाके पीछे बैठें। नाती वाम भागमें क्रमसे राजाके चाचा, उसके कुलके श्रेष्ठ पुरुष सभ्य और सेनापति दक्षिण भागमें पूर्व दिशाकी ओर अलग अलग आसनोंपर बैठें। इसी प्रकार राजाके आगे बाम भागमें नानाके वंशके श्रेष्ठ पुरुष, मंत्री, बान्धव, ससुर और साले बैठें। दाहिनी ओर जमाता और बायीं ओर बहनोई बैठें। पास वा समान आसन अथवा आधे आसनपर मित्र बैठें। नातियों और भांजोंके स्थानमें दत्तक पुत्र बैठें और पुत्रादिके स्थानमें भांजे और नाती बैठें। पिता और आचार्य दोनो समान श्रेष्ठ आसनोंपर बैठें। पार्श्वोंके सामने लेखक और इनके पीछे मंत्री बैठें। परिचारक सबसे पीछे बैठें। लोगोंका प्रवेश और प्रणाम बतानेके लिये दो मनुष्य सुवर्णके दण्ड लेकर राजाकी दोनो ओर बैठें।[2] यही मंत्रणा सभा जान पड़ती है, क्योंकि यहां राजाको बहुसम्मत

सभामें बैठनेका क्रम शुक्रनीतिसारके अनुसार

---

१ राजा राजसभा कार्या सुगुप्ता सुमनोरमा ॥ ४१॥
एवं विधा राजसभा मंत्रार्था कार्यदर्शने।
तथाविधामात्य लेख्य सभ्याधिकृतशालिका ॥४६॥

२ सभायां प्रत्यगर्धस्य मध्ये राजासनं स्मृतम्।
दक्षसंस्था वामसंस्था विशेयुः पार्श्वं कोणगाः ॥३५२॥
पुत्राः पौत्राः भ्रातरश्च भागिनेयाः स्वपृष्ठतः।
दौहित्रा दक्षभागात्तु वामसंस्थाः क्रमादिमे ॥३५३॥

कार्य करनेका उपदेश दिया गया है। राजासे यह भी कहा गया है कि तुम यह किसीके मुँहसे न सुनो कि आप सबसे अधिक दाता, शूर और धार्मिक हैं क्योंकि ऐसा कहनेवाले ठग हैं। जो मंत्री राजाके राग, लोभ और भयसे चुप रहें, उन्हें अनुमत न समझे और अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उनके मत अलग अलग लिख ले। और अपने मतसे विचार करके बहु-सम्मतिसे कार्य करे।[१]

ऊपर सभाका जो रूप दिया गया है, वह राज-दरबार या विशिष्ठ अवसर पर होनेवाली सभाका है। वास्तवमें यह न तो राजसभा है और न मंत्रिसभा। मंत्रियोंकी मंत्रणासे इसका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें सभा या दरबार? उनके अतिरिक्त बहुतसे ऐसे लोग हैं जिनके सामने गुप्त बात नहीं कही जा सकती। इसके सिवा कहा गया है कि राजा रातको घरके अन्दर अथवा निर्जन स्थानमें मंत्रियोंसे भावी कार्यपर

पितृव्याः स्वकुलश्रेष्ठाः सभ्याः सेनाधिपस्तथा।
स्वाग्रे दक्षिण भागे तु प्राग् संस्थाः पृथगासनाः ॥३५४॥
मातामहकुलश्रेष्ठाः मंत्रिणो बान्धवास्तथा।
श्वसुराश्चैव श्यालाश्च वामाग्रे चाधिकारिणः ॥३५५॥
वामदक्षिण पार्श्वस्थो जामाता भगिनीपतिः
स्वसदृशः समीपे वा स्वार्धासनगतः सुहृत् ॥३५६॥
दौहित्र भागिनेयानां स्थले स्युर्दत्तकादयः।
भागिनेयाश्च दौहित्राः पुत्रादिस्थानसंश्रिताः ॥३५७॥
यथा पिता तथाचार्यः समः श्रेष्ठासने स्थितः।
पार्श्वयोरारग्रतः सर्वे लेखका मंत्रि पृष्ठगाः ॥३५८॥
परिचारगणाः सर्वे सर्वेभ्यः पृष्ठसंस्थिताः।
स्वर्णं दण्डधरौ पार्श्वे प्रवेशनतिबोधकौ ॥३५९॥

१ सर्वस्मादधिको दाता शूरस्त्वं धार्मिकोऽसि।
इति वाचं न शृणुया च्छ्रावका वञ्चकास्तु ते ॥३६१॥
रागाल्लोभाद्भयाद्राज्ञः स्युर्मूका इव मंत्रिणः॥
नताननुमतान्विद्यान्नृपतिः स्वार्थसिद्धये ॥३६२॥
पृथक् पृथङ्मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ॥३६३॥
विमृशेत्स्वमतेनैव यत्कुर्याद्बहुसम्मतम् ॥३६४॥

परामर्श करे। एक और सभाका वर्णन मिलता है, जो यज्ञ सदृश बतायी गयी है। परन्तु वह स्पष्ट ही न्यायालय है और इसके सभासद जूरी या असेसर हैं। इन बातोंसे जान पड़ता है कि जिन्हें हम राष्ट्रसभा समझते हैं, उनका अन्त कुरुक्षेत्रयुद्धसे पहले ही हो चुका था। राजा स्वेच्छाचारी हो रहे थे। केवल दक्षिण भारतमें पुरानी परम्परा अँगरेजोंके आनेतक चल रही थी। राजाको नियंत्रण करनेके लिये उत्तरमें मंत्रिपरिषद्की व्यवस्था हुई थी, परन्तु वह भी आगे चलकर असमर्थ हो गयी। स्व० डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और तीन सभाओंका अस्तित्व पूर्वकालमें मानते थे, एक विदथ, दूसरी पौर और तीसरी जानपद। जान पड़ता है कि विदथ विद्वानोंकी, पौर पुरवासियोंकी और जानपद जनपदवासियोंकी संस्था थी।

---

२ राजाका निर्वाचन

आर्य लोगोंमें कोई मनुष्य अपने गुणोंके कारण ही राजा बनाया जाता था। उस समय राजपदके लिये क्रम नहीं था, परन्तु आवश्यक गुणोंमें विक्रमकी गिनती होती थी और हम समझते हैं कि यह राजासे क्या आशा प्रधान गुण माना जाता था, क्योंकि पड़ोसी उपद्रवी की जाती थी? मनुष्यों और पशुओंसे रक्षा बिना विक्रमके सम्भव न थी। वैदिक युगमें अपने किन गुणोंके कारण कोई राजा चुना जाता था इस विषयमें बहुतसे मन्त्र हैं। अथर्ववेदके इन दो मन्त्रोंसे राजाके गुणोंका कुछ कुछ आभास मिलता है:—'इस योग्य पुरुषको चुननेसे हमारी विजय होगी; हमारी उन्नति होगी; हमारा आरोग्य बढ़ेगा; हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा; हमारा यज्ञ सफल होगा; हमारे पशु उत्तम होंगे; हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर वीर पुरुष हमारे पास रहेंगे। इसलिये इस योग्य पुरुषको हम चुनते हैं।'[1] इससे प्रकट है कि उन्नति, आरोग्य, तेज, ज्ञान, बल तथा पशुओंकी वृद्धिके लिये ही नहीं, शूरवीरोंकी सेना, सुसन्तानोंकी (जारजोंकी नहीं) उत्पत्ति तथा यज्ञकी सफलताके लिये आर्य लोग राजाका निर्वाचन किया करते थे। जैसा सर्वत्र होता है, पहले कुछ ही लोग किसीमें राजोचित गुण देखकर उसे चुननेका विचार किया करते होंगे और बाद औरोंकी सम्मति लेनेका उपाय करते होंगे। और जब सब लोग किसीको राजा बनानेका निश्चय कर लेते होंगे, तब विराट् सभा करके उसे राजशक्ति दी जाती होगी। विराट् सभाके कृत्योंकी ही संज्ञा राज्याभिषेक थी।

राज्याभिषेकके समय पुरोहित राजासे कहता था, 'हे राजा, राज्यका काम

---

१ जितमस्माक मुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः — जितमस्माक मुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १॥
तस्मादमुं निर्भजामो अमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥२॥

अथर्ववेद।१६।८

चलानेके लिये प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पांचो दिशाओंमें प्रजा तेरी इच्छा करे। राष्ट्रके श्रेष्ठ भाग सिंहासनका तू आश्रय ले और अनन्तर प्रजामें द्रव्य बांट।[1] अथर्ववेदमें और भी कितने ही मंत्र हैं जो राज्याभिषेकके समय उपदेश रूपसे राजासे कहे जाते थे। उनसे हम छ मंत्रोंका भावार्थ यहां

अभिषेकके मंत्रोंका महत्व

देते हैं:—हे राजा, तुझे हम लाये हैं। आ, स्थिर रह, चंचल न हो। सब प्रजा तेरी इच्छा करे। तुझसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो (अर्थात् तेरा राजत्व न चला जाय इसलिये सावधान रह)। यहीं तू पर्वतकी नाईं दृढ़ रह और नीचे न गिर। यहीं तू इन्द्रके समान दृढ़ रह; तू यहीं आ और राज्यको धारण कर। इन्द्रने हवि पानेके कारण (राज्यको) दृढ़ करके रखा है। उसके लिये सोम और बृहस्पतिने भी वही कहा है। द्यौ या आकाशमें जैसा ध्रुव है, पृथ्वी जैसी ध्रुव है, यह विश्व जगत् पर्वत जैसे ध्रुव हैं, (वैसे ही) प्रजाका यह राजा ध्रुव हो। तू राज्यको धारण कर, तुझे राजा वरुण, देव बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि ध्रुव बनावें। हे राजा, तू स्थिर हो; पदच्युत न हो; शत्रुओंको मार और शत्रुओंका जैसा आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा। सब दिशाओंमें लोग एकता और मेलसे काम करनेवाले हों। अपनी स्थिरताके लिये तू समिति बना।[2]

---

१ त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंचदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥४॥ अथर्व०
सू० २ कांड ३

२ आ त्वा हार्षमन्तर भू ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१॥
इहैवैधि मापच्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्।
इन्द्रे हैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ॥२॥
इन्द्र एतमदीधरद्ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवश्यं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥ सू० ८७ कांड ६
ध्रुवाद्यौ ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥

शतपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि जब प्रजाजन इससे (राजासे) सन्तुष्ट होते हैं और इसे चाहते हैं, तब इसके राजसूयका अनुमोदन करते हैं। जो उन प्रजाजनोंका अनुमोदित होता है, तथा जिसका सब राज्य अनुमोदन करता है, वही राजा होता है। वह राजा नहीं होता जिसका राज्य अनुमोदन नहीं करता।[1] वैदिक युगमें राष्ट्र छोटे होते थे और इसलिये राजाके निर्वाचनमें कभी सारी प्रजा और कभी उसके प्रतिनिधि सम्मिलित हो उसका अभिषेक करते थे। अथर्ववेदमें दो मंत्र मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि पर्ण वा पलाशमणि सब लोग मिलकर देते थे। यह पर्ण ही राजचिह्न था। मणि लेते समय राजा उसे सम्बोधन करके कहता है, 'हे पर्ण, जो बुद्धिमान् रथ बनानेवाले, चतुर कर्मकार, धातुकी चीजोंके बढ़िया कारीगर और जो लोग मेरे पास हैं, उन सबको तू मेरे सहायक बना। राजा, राजकर्त्ता वा राजा बनानेवाले सूत और ग्रामणी वा मुखिया और जो लोग मेरे पास हैं, हे पर्ण तू उन्हें मेरे सहायक कर।'[2] इन मंत्रोंसे जाना जाता है कि राजाके निर्वाचनमें रथकार, कसेरे, राजकर्ता, सूत वा सेनानायक और गांवके मुखिये भी सम्मिलित होते थे और इनके हाथोंसे राजा पर्ण वा पलाशमणि लिया करता था। यहां राजाओं और राजकर्त्ताओंसे किनका अर्थ ग्रहण करना

राजाके निर्वाचनके लिये प्रजाका अनुमोदन

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२॥
ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून् छत्रूयतो धरान् पादयस्व।
सर्वादिशः सं मनसः सध्राची ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह ॥३॥
सू० ८८ कांड ६

१ ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सर्वमनुमन्यन्ते।
तामिरनुमतः सूयते, यस्मै वै राजा, नो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति।
न स यस्मै न ॥४॥ शतपथ ६।३।२

२ ये धीवानो रथकाराः कर्मकारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

चाहिये ? ये राजा या तो माण्डलिक राजा होने चाहिये या पड़ोसी राजा जो अभिषेकमें सम्मिलित होनेके लिये निमंत्रित हुए हों। राजकर्त्ता अवश्य कुछ विशिष्ट सज्जन होते थे, जिन्हें राजपदके लिये किसीको निर्वाचित करनेका अधिकार होता था। इस प्रकार राजा अपनी प्रजा, राजकर्त्ताओं वा प्रजाके विशिष्ट प्रतिनिधियों और पड़ोसी वा माण्डलिक राजाओंकी अनुकूलतासे सिंहासनपर बैठता था।

इसके बाद ब्राह्मण कालमें राष्ट्र बड़े होने लगे और समस्त प्रजाका राजाके अभिषेकमें भाग लेना असम्भव हो गया, तब प्रजाके प्रतिनिधि उसका अभिषेक करने लगे। पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यही विश ही प्रजाजन थे। त्रिवर्ण आर्य जातिके अन्तर्गत थे। इसलिये राजाके अभिषेकमें विश् वा वैश्योंकी चर्चा तो है, पर शूद्रोंकी नहीं है। अथर्ववेदके दूसरे काण्डका एक मन्त्र है जिसमें कहा गया है कि तुझे विश् वा वैश्य वा प्रजा (क्योंकि ब्राह्मणों वा क्षत्रियोंकी गणना प्रजामें नहीं होती थी) राज्यके लिये वरण करे, तुझे ये पाँचों प्रकाशवती दिशाएँ वरण करें अर्थात् राष्ट्रके लोग चुनें। राष्ट्रके श्रेष्ठ भागका (सिंहासनका) तू आश्रय ले और अनन्तर प्रजामें द्रव्य बाँट।'[१] छठे काण्डमें भी कहा गया है कि सब विश वा प्रजाजन तेरी इच्छा करें। पदच्युत राजाके पुनर्निर्वाचनके समय इन्द्राग्नि विश्वेदेवाके साथ ही वैश्योंकी अनुकूलता अभीष्ट होती थी। अथर्ववेदके तीसरे काण्डका ही मन्त्र है 'हे पुनर्निर्वाचित राजा, तेरे विरुद्ध पक्षके लोग भी तेरी सहायता करें। तेरे मित्रोंने तुझे निर्वाचित किया है। इन्द्र, अग्नि और विश्वेदेवाने तुझे विश वा प्रजामें ही रखा है।' वैश्योंकी गिनती साधारण प्रजामें होती थी।

पहले कोई शूरवीर क्षत्रिय यावज्जीवन अथवा जबतक वह अपनी प्रतिज्ञाका पालन करता था, तबतकके लिये राजा निर्वाचित होता था। जब कभी प्रतिज्ञादुर्बलता वा अन्य कारणसे वह पदच्युत भी कर दिया जाता था, तब फिर किन्हीं शर्तोंपर वह पुनर्निर्वाचित हो सकता था। अनन्तर ऐतरेय ब्राह्मणके निर्वाचनकी व्यवस्था समयमें कई पीढ़ियोंके लिये भी राजा निर्वाचित होने

तीन पीढ़ियोंके लिये राजाके

१ ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रतिमित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेम मदीधरन् ॥२॥ सू० ३ कां० ६

लगे। उसमें कहा गया है कि यदि एक पीढ़ीके लिये अभिषेक करना हो, तो अभिषेकके समय महाव्याहृतियोंमें पहलीका उच्चारण करे अर्थात् 'भूः' कहे, दो पीढ़ियोंके लिये करना हो, तो दोका— 'भूर्भुवः' का उच्चारण करे और तीन पीढ़ियोंके लिये करना हो, तो 'भूर्भुवस्वः' तीनो महाव्याहृतियोंका उच्चरण करे।[1] शतपथ ब्राह्मणमें दो राजाओंकी कथा है जिन्होंने दस पीढ़ियों तक राज्य किया था। एक तो रेवाके उत्तरका पाटव चाकास्थपति था और दूसरा दुष्टरीत पौंसायन। इन्हें सृञ्जयोंने निकाल दिया था। इनसे कहा गया कि तुम सौत्रामणि यज्ञ करो तो सृञ्जयोंपर तुम्हारा प्रभुत्व करा दें।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी सिंहासनच्युत राजाको सौत्रामणि करनेका उपदेश दिया गया है।[3] वास्तवमें अभिषेक एक ही पीढ़ीके लिये सदा होता था और आज भी होता है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पीढ़ियोंके लिये राजाओंके निर्वाचनकी चर्चासे इतना स्पष्ट होता है कि पीढ़ी दर पीढ़ीके लिये निर्वाचनका तत्व उस समय स्वीकृत हो चुका था और राजाओंके घरानोंकी स्थापना होने लगी थी।

पहले राजाको शासनाधिकार रूपी पर्ण अथवा पलाशमणि राष्ट्रके रथकार, कर्मकार, ग्रामणी आदि देते थे, अनन्तर यह काम कुछ मुखियोंका हुआ, जो यातो राजाके कर्मचारी थे या प्रजाके प्रतिनिधि। शतपथ ब्राह्मणके पाँचवें काण्डमें वाजपेय और राजसूय दोनोंके अनुष्ठानकी जो विधियां दी हुई हैं, उनसे जान पड़ता है कि राजाके अभिषेकका सम्बन्ध राजसूयसे ही है। राजाको अपने लिये जिनकी अनुकूलता आवश्यक होती थी, वे 'रत्निनः' रत्नी कहाते थे और उन्हें सम्मान दिखाने और उनकी अनुकूलता

राष्ट्रप्रतिनिधि-'रत्नी'

---

१ भूरिति इच्छेदिममेव प्रत्यक्षमन्यादित्यथ य इच्छेद्द्विपुरुषं भूर्भुव इत्यथ य इच्छेत् त्रिपुरुषं वाऽप्रतिमं वा भूर्भुवस्वरिति ॥१।८।७॥

२ दशपुरुषं राज्यादपरुद्ध आस रेवोत्तर समु ह पाटव चाक्रस्थपतिं सृञ्जया अपरुरुधः ॥१॥ स होवाच। दुष्टरीत पौंसायनं सौत्रामण्या त्वा याजयानि यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तत्वपि धास्यामोति तथेति तथैनमजायत् ॥२॥ तदु ह वाल्हिकः प्रतिपीयःशुश्राव। कौरव्यो राजा यो ह वा अयं दुष्टरीतुःपौंसायनो दशपुरुषं राज्यापरुद्धोऽभूत्तमयं चाक्रस्थपतिः सौत्रामण्या याजयिष्यति। यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तद्वास्मिन् धास्यतीति ॥३॥ शतपथ० १२ प्रपा० ४ ब्रा०

प्राप्त करनेके लिये राजाको उन रत्नियोंके घर जाकर उनकी शक्तिके देवता को "हवि" देना पड़ता था। इस हवि सम्बन्धकी दक्षिणा भी होती थी और वह कदाचित् उसीको दी जाती थी, जिसके यहां हविका पाक तैयार होता था। शतपथमें एकादश रत्नी ये कहे हैं—(१) सेनानी, (२) पुरोहित, (३) भावी राजा, (४) महिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता, (८) संग्रहीता, (९) भागदुघ (१०) अक्षवाप और गोविकर्तन और (११) पालागल। इसके उपरान्त वह परित्यक्ता रानीके घर जाकर निर्वाचनके लिये काले चावलका पाक बनाकर देता था। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें पुरोहितके बदले ब्राह्मण और राजाके बदले राजन्य रखा है। शतपथमें जहां अदिति और निर्ऋतिको हविदान बताया गया है वहां तैत्तिरीयमें भग अथवा राजाकी प्यारी रानीको भी देनेकी व्यवस्था है। अग्निका प्रतिनिधि सेनानी, वरुणका सूत, मरुतका ग्रामणी, सवितृ वा सविताका क्षत्ता, अश्विनीकुमारोंका संग्रहीतृ या संग्रहीता, पूषन् वा पूषाका भागदुघ और रुद्रका अक्षवाप बताया गया है। सूत पौराणिक है और पहलेके राजाओंकी विरुदावली पढ़कर राजाको यश वा कीर्तिका इच्छुक बनाता है। मरुत—देवताओंके किसान हैं और ग्रामणी भी किसानोंका प्रतिनिधि है, क्योंकि वैश्यका काम किसानी—कृषि करना है। ग्रामणी ग्रामका नेता वा मुखिया है। क्षत्तृ वा क्षत्ता रनवासका रक्षक है। संग्रहीताकी अश्विनीकुमारोंसे उपमा देनेके कारण शतपथने उसे सारथी और रथी कहा है। परन्तु कौटिल्यने समाहर्ताका जो कार्य बताया है, वही संग्रहीताका होना चाहिये और तैत्तिरीय संहितामें (१ । ८ । ९) इस शब्दका अर्थ सायणाचार्यने धनसंग्रहकर्त्ता—कोषाध्यक्ष बताया भी है। भागदुघ करसंग्रहकर्त्ता है, क्योंकि वह पूषाका प्रतिनिधि है, जो देवताओंके सामने उनका भाग रखता है। अक्षवाप अक्ष वा पांसे रखनेवाला बताया गया है। जब तक हम यह न मान लें कि उस समय राज्य अपने पांसे देकर लोगोंको जुआ खिलाता था और नाल या जितौनी लेता था, तब तक यह अर्थ समीचीन नहीं जान पड़ता। सम्भव है कि वह अक्षशालाका अधिपति हो, जो अर्थशास्त्र के देखते एकाउंटेंट जेनरल होना चाहिये। परन्तु कौटिल्यने जुआ खिलानेकी व्यवस्थाका वर्णन किया है और महाभारत जुएके कारण ही हुआ है, इस लिये अक्षवापका पांसेसे सम्बन्ध लगाना कोई दोष नहीं कहा जा सकता। गोविकर्तनका अर्थ सूनाध्यक्ष हो सकता है। परन्तु सायणाचार्य जब यह कहते

हैं कि शिकारमें यह बराबर राजाके साथ रहता था, तब समझना पड़ता है कि शिकार खिलाना इसका कार्य था। वास्तवमें एकादश रत्नियोंमें (१) पुरोहित, (२) राजन्य, (३) महिषी, (४) सेनानी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्तृ वा रनवासरक्षक (८) कोषाध्यक्ष (९) करसंग्रहकर्त्ता (१०) अक्षशालाध्यक्ष (११) पालागल है। पालागलको दक्षिणामें लाल पगड़ी, चमड़ेका तूणीर और चमड़ेसे मढ़ा धनुष दिया जाता था। इसके लिये हवि रास्तेपर छोड़ दिया जाता था; क्योंकि इसका काम राह चलना है। इस प्रकार राजा चातुर्वर्ण्य समाजको ब्राह्मणसे लेकर शूद्रतकको और शासनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरोहितसे लेकर पालागलतकको अपने अनुकूल और अपना अनुयायी बनानेका उद्योग करता था।

इसके बाद अभिषेककी तैयारी होती थी। इसमें पहले कई तरहका आप—जल संग्रह किया जाता था। पहले सरस्वती नदीका जल लिया जाता था, क्योंकि सरस्वती वाक् वा वाणी है और इस जलसे उसका अभिषेक किया जाता था। फिर भिन्न भिन्न दिशाओंको बहनेवाली दो लहरें, अनन्तर सामनेकी लहर, बादको पीछेकी लहर पश्चात् बहता पानी, उपरान्त उलटा बहनेवाला पानी, फिर धारासे फूटा पानी, नदीश वा समुद्र जल, भँवरका पानी, कुंडमें जिस बहते पानीपर सूर्यकी किरणें पड़ती हों वह, सूर्य निकले रहनेपर जो वर्षा होती हो उसका जल, तालका जल, कुंएका पानी और ओसकी बूँदें लेकर सब गूलरके बर्तनमें मिलाये जाते हैं। इसी प्रकार और भी मधु, दधि, घी, दूध आदि कई चीजें मिलायी जाती हैं। इन सत्रह आपोंसे भावी राजाका अभिषेचन करते हैं। प्रत्येक बारके आपको सम्बोधन करके कहते हैं कि तुम राजत्व देनेवाले हो, अमुकको राजत्व दो।

अभिषेकमें 'आप'-का महत्त्व

अभिषेककी विधि बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अभिषेक त्रिवर्ण ही करता था। पलाशके पात्रके जलसे ब्राह्मण, उदुम्बर या गूलरके पात्रसे भावी राजा के भाईबन्द, न्यग्रोध या बड़के पात्रसे कोई मित्र राजन्य और अश्वत्थ वा पीपलके पात्रसे वैश्य अभिषेक करता था। अनन्तर वह राजाको कपड़े पहनाता है। वस्त्र पहननेके लिये शुक्ल यजुर्वेदके १०वें अध्यायका ८ वां मंत्र है।[१]

त्रिवर्ण ही अभिषेक करता था

[१] क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्ययोनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकालमें राष्ट्र अथवा प्रजाजनोंकी अनुकूलता
के बिना कोई राजा नहीं बनाया जाता था। देवताओं और मनुष्योंको भी
राजाके अभिषेककी सूचना दी जाती थी। यही नहीं, इसके
अभिषेक-सभामें द्वारा उनकी अनुकूलता प्राप्त की जाती थी। आविद्पद-
राजाके निर्वाचनकी युक्त ये सात मंत्र पढ़े जाते थे जिनसे देवताओंको यजमान
सूचना की सूचना दी जाती थी।[1] सायणाचार्यके भाष्यानुसार
शतपथकी इस व्याख्याका अर्थ दिया जाता है:—

'हे मरणशील मनुष्यो! ज्ञात हो' इससे किस देवताको यजमानकी
सूचना दी जाती है इस शंकाके समाधानके लिये देवता दिखाते हैं 'प्रजापति'।
प्रजापति निश्चय ही वर्णनातीत है। इसलिये इस मंत्रसे अकथित प्रजापतिको
यजमानकी सूचना दी जाती है। वह प्रजापति इसके अभिषेककी अनुमति
देता है, उस प्रजापतिसे अनुमोदित वह अभिषिक्त होता है।

'सूचित किया गया गृहपतिगुणक अग्नि। अग्नि ब्राह्मण है, इससे इस मंत्र
से ब्राह्मणको सूचना दी जाती है। उसके अनुमोदनपर उसका अभिषेक
होता है।'

'सूचित किया गया बहुत अन्नवाला इन्द्र। इन्द्र क्षत्रिय है, इसलिये इस
मंत्रसे क्षत्रियको सूचना दी जाती है। उसके अनुमोदनपर उसका अभिषेक
होता है।'

'सूचित किये गये व्रतोंके धारण करनेवाले मित्र और वरुण। मित्र और
वरुण प्राण और उदानवायु हैं। इसलिये इस मंत्रसे उन्हें सूचना दी जाती
है और उनका अनुमोदित वह अभिषिक्त होता है।'

'सूचित किया गया सवर्धन पूषा। पूषा पशु है। इसलिये इस मंत्र द्वारा

वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत्। दवासि रुजासि
क्षमासि। पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात
॥८॥ अ० १०

शुक्ल यजुर्वेद के १०वें अध्यायकी इस ६वीं यजुपके आधारपर शतपथ
ब्राह्मणकी विधि और व्याख्या बनी है:—'आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृह-
पतिरावित्त इन्द्रोवृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावित्तः पूषा विश्ववेदा
आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशंभुवावावित्तादिति रुरुशर्मा॥

पशुओंको सूचना दी जाती है और उनके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है।'

'सूचित किये गये जगत्को सुखी करनेवाले आकाश और पृथिवी। इससे आकाश और पृथिवीको सूचना दी जाती है और उनके अनुमोदन करनेपर उसका अभिषेक होता है।'

'सूचित की गयी बहुत सुखवाली अदिति। भूमि कोई मूर्ति धारणकर देवमाता अदिति कहाती है। इससे भूमिको सूचना दी जाती है और उसके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है। इनसे देवताओंको सूचना देता है, वे अनुमोदन करते हैं और उनके अनुमोदनपर उसका अभिषेक होता है।'[1]

राजाके अभिषेककी सूचना सर्व प्रथम प्रजापतिको देकर फिर ब्राह्मणादि त्रिवर्ण, प्राण और उदान वायु, द्यावा पृथिवी और अदितिको दी जाती थी और इनका अनुमोदित राजा ही अभिषिक्त होता था। अग्नि ब्राह्मण और इन्द्र क्षत्रिय तो बताया ही गया है। पर पूषाका अर्थ पशु कहा गया है और धनके प्रतिनिधि रूपसे उसको सूचना दी गयी है। पशु धन अवश्य है, परन्तु पाल वा पालककी अपेक्षा रखता है, इसलिये पूषाका अर्थ पशुपाल समझना चाहिये। और कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यका स्वाभाविक कर्म है, इस लिये पूषाका अर्थ वैश्य है। जीवनमें प्राण और अपान वायुका महत्त्व ही नहीं है, सुखमयजीवनके लिये उनके ठीक रहनेकी आवश्यकता भी है। आकाशके नीचे और पृथिवीके ऊपर अभिषेक होता है, इसलिये द्यावा पृथिवीको सूचना देना आवश्यक है। अन्तमें अदिति अर्थात् उस भूमिको सूचना दी जाती है, जिसका वह राजा बनाया जाता है।

---

१ अथैनमाविदो वाचयति। आविर्मर्या इत्यनुक्तं प्रजापतिर्वाऽअनिरुक्तस्तदेवं प्रजापतयऽआवेदयति। सोऽस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयतेः॥२१॥
आवित्तो ऽअग्निर्गृहपतिरिति। ब्रह्म वा अग्निस्तदेनं ब्रह्मणऽआवेदयति। तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते॥२२॥
आवित्तो इन्द्रो वृद्धश्रवा इति। क्ष वा इन्द्रस्तदेनं क्षत्रायावेदयति। तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते॥२३॥
आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति। प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यामावेदयति तावस्मै सव मनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते॥२४॥

अभिषेकके पहले प्रजाका प्रतिनिधि पुरोहित राजाको इस प्रकार सम्बोधन करता है, 'तू वीरताका केन्द्र है। कोई तेरी हिंसा न करे और न तू हम लोगोंमें किसीकी हिंसा कर। नियमोंका धारण करनेवाला और अरिष्टोंका निवारण करनेवाला प्रजामें स्थिर रहता है। उत्तम कर्म करनेवाला साम्राज्यके योग्य होता है। मृत्युसे रक्षा कर। बिजलीसे बचा। प्रकाशमान् सूर्यके तेज, आश्विनीकुमारोंके बाहुओं और पूषाके हाथोंसे तथा अश्विनीकुमारोंकी औषधियोंसे राष्ट्रके तेज और ज्ञानकी वृद्धिके लिये मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। बल, लक्ष्मी और यशके लिये इन्द्रकी विशेष शक्तिसे मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। हे सुन्दरयश, मंगल भावना और प्रजारंजक, तू आनन्द है, तू अत्यन्त आनन्दमंगल है। प्रजाके आनन्दके लिये मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।' [1]

अभिषेकके समय पुरोहित और राजाका संवाद

इसके उत्तरमें राजा कहता है:—

प्रजाकी शोभा मेरा सिर है, यश मुख है, तेज मेरे केश और दाढ़ी मूछ

आवित्तः पूषा विश्ववेदा इति। पशवो वै पूषा तदेनं पशुभ्य आवेदयति तेऽस्मै सव मनुमन्यन्ते तैरनुमतः सूयते ॥३५॥

आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवादिति तदेनमाभ्यां द्यावा पृथिभ्यामावेदयति तेऽअस्मै सव मनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते ॥३६॥

आवित्तादितिरुरुशर्मेति। इयं वै पृथिव्यदितिस्तदेनमस्यै पृथिव्याऽआवेदयति सास्मै सव मनुमन्यते तयानुमतः सूयते तद्याभ्य एवैनमेतद्देवताभ्य आवेदयति ता अस्मै सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते ॥३७॥२॥

[1] क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ॥ मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः ॥१॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ॥ साम्राज्य सुक्रतुः ॥ मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥२॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां ॥ अश्विनो र्भैषज्येन। वीर्यायान्नाद्यायाभिषिंचामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसे ऽभिषिंचामि ॥३॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै वा काय त्वा ॥ सुश्लोक सुमंगल सत्य राजन् ॥४॥

यजुर्वेद (शुक्ल) अ० २०

है। राजा वा तेजस्वी मनुष्य मेरे प्राण और आरोग्य हैं, सम्राट् (सम्यक् प्रकारसे प्रकाशित होनेवाले मनुष्य) मेरे नेत्र हैं और विराट् (विविध प्रकारके मनुष्य) मेरे कान हैं, मेरी जिह्वा प्रजाके कल्याणकी बात कहे और वाणी प्रजाके महत्त्वका बखान करती रहे। प्रजाका उत्साह-उल्लास मेरा मन है। प्रजाके स्वावलम्बनका तेज ही मेरा तेज है, उसका आनन्द उँगलियाँ हैं, उसका विशेष कल्याण मेरा अंग है उसकी सहनशक्ति मेरा मित्र है, उसका शारीरिक वल मेरी वीरता और कर्म मेरे हाथ हैं, क्षात्र तेज मेरा हृदयस्थ आत्मा है; राष्ट्र मेरी पीठ है, प्रजा मेरे पैर, कन्धे, गला, कमर, जाँघें, कुहनी, घुटने आदि अंग हैं, प्रजाहितचिन्तन मेरी नाभि है, प्रजाहितका विज्ञान मेरी पायु वा गुदा है, प्रजाकी पूजा ही मेरा उत्पत्तिस्थान है, प्रजाका आनन्द और हर्ष मेरे दोनों अण्ड हैं। प्रजाका शोभावर्द्धक ऐश्वर्य मेरी लिङ्गेन्द्रिय है। जंघाओं और पावोंसे मैं धर्मरूप हूँ। प्रजामें राजा प्रतिष्ठित है। क्षत्रिय जातिमें, राष्ट्रमें, अश्वोंमें, गौओंमें, प्रत्येक अंगमें, आत्मामें, प्राणमें, समृद्धिमें, स्वर्गमें और इस लोकमें तथा यज्ञमें मैं रहता हूँ।[1]

इस संवादसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रजा राजाको किसलिये और कैसी-कैसी आशाओंसे निर्वाचित करती थी तथा राजा भी समझता था कि मैं

---

१ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट्श्रोत्रम् ॥५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाः अंगुलीरंगानि मित्रं मे सहः ॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥७॥
पृष्टी में राष्ट्र मुदरमꣳसौग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥८॥
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ॥९॥
जंघाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठतः ॥९॥
प्रति क्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु।
प्रत्यंगेषु प्रतिष्ठाम्यात्मन् प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥१०॥ शुक्ल यजुर्वेद अ० २०

राज्यका सबसे बड़ा कर्मचारी हूँ, और प्रजाका हित ही मेरे राजत्वका एक-मात्र कारण है। नियमानुसार आचरण कर राष्ट्रमें आरोग्य, बल, सुख, धन, जन, अन्न, तेज, ज्ञान और विद्या बढ़ानेके लिये ही राजा अपने उत्तरमें अन्य शब्दोंद्वारा इसे स्वीकार करता है।

अभिषेकके अभिप्रायका पुनः स्मरण कराना

इसके उपरान्त तीन पग चलकर भावी राजा लकड़ीके सिंहासनपर चढ़ता है और अध्वर्यु फिर उससे कहता है:—'यह तेरा राज्य है,' यह कहकर अध्वर्यु उसे राजशक्ति देता है। फिर कहता 'तू शासक है, सब को नियमानुकूल चलानेवाला है' यह कहकर उसे सिंहासनपर बैठाता है, जिससे उसे प्रजाका शासक बनाता है। फिर कहता है 'तू ध्रुव और स्थिर है' जिससे इस लोकमें उसे दृढ़ और स्थिर बनाता है। अनन्तर कहता है—'तुझे खेतीके लिये; तुझे शान्तिपूर्वक रहनेके लिये, तुझे धनके लिये, तुझे समृद्धिके लिये, जिससे उसका अभिप्राय है कि तुझे प्रजाकी भलाईके लिये मैं यहाँ बैठाता हूँ।'[1]

ऐन्द्र महाभिषेककी प्रतिज्ञा

साधारण राजाओंसे जैसी प्रतिज्ञा करायी जाती थी, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहाँ एक और अभिषेककी प्रतिज्ञाका वर्णन करते हैं। इसका नाम है ऐन्द्र महाभिषेक। ऐतरेय ब्राह्मणकी अष्टम पंजिकाके चतुर्थ अध्यायके प्रथम खंडमें ऐन्द्र महाभिषेकके समयकी शपथका उल्लेख है। पहले तो यही बताया जाता है कि कैसे राजाका ऐसा अभिषेक हो सकता है। 'ऐसा अर्थात् इन्द्र सम्बन्धीय महाभिषेक जाननेवाला जो ब्राह्मण वा आचार्य इच्छा करे कि कोई राजा वा क्षत्रिय सर्वजयादि फल पावे, तो वह आचार्य उस राजासे इस प्रकार शपथ कराके ऐन्द्र महाभिषेक विधिसे उसका अभिषेक करे। कैसे फलकी इच्छा कि यह राजा जीतने योग्य सब युद्धस्थलोंको जीते, तथा सब लोकों वा देशोंको प्राप्त करे, सब राजाओंमें श्रेष्ठता और

---

१ इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्धात्यथैन मासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यममासां प्रजानां करोति ध्रुवोसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणस्मिंल्लोके करोति कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्त्वेत्ये वै तदाह। शतपथ ब्राह्मण काण्ड ५ अ० ब्रा० १ प्र० २५

प्रभुताका पद पावे, इसका साम्राज्य भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य देशकालसे सर्वव्यापी हो, समुद्र तीर पर्यन्त सार्वभौमत्व और काल संख्या पर्यन्त सर्वायुपत्व होकर यह पृथिवीका एकही राजा हो।' शपथ क्या हो अब यह बताते हैं। 'जिस रात्रिको तू पैदा हुआ है और जिस रात्रिको तू मरेगा, उन दोनोंके बीचका जो तेरा श्रौतस्मार्त कर्म फल, पुण्य, सुकृत, आयु और पुत्रादि हैं, उन्हें मैं तुझसे अलग कर लूँगा यदि तू मेरा द्रोह करेगा।' ये आचार्यके वचन हैं।

ऐन्द्र महाभिषेक जाननेवाला और उसके फलकी[1] इच्छा करनेवाला जो क्षत्रिय हो, वह यदि चाहे कि मैं सब युद्ध-स्थलोंको जीतूं, सब देशोंको प्राप्त करूं, सब राजाओंमें श्रेष्ठता और प्रभुताका पद पाऊं, मेरा साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य सर्वव्यापी समुद्र तीर-पर्यन्त सार्वभौमत्व हो, कालकी जितनी संख्या है उतना आयुष्य होकर मैं समुद्र पर्यन्त पृथिवीका अकेला ही राजा होऊं, तो बिना आगा पीछा किये श्रद्धापूर्वक कहे कि जिस रात्रिको मैं पैदा हुआ हूँ और जिस रात्रिको मैं मरूंगा, उन दोनोंके बीचका जो मेरा श्रौतस्मार्त कर्मफल, पुण्य, सुकृत, आयु और पुत्रादि हैं, उन्हें तू मुझसे अलग कर ले, यदि मैं तेरा द्रोह करूं।

---

१ स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान् विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्य मतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं परामेष्ठ्यं राज्यं महाराज्य माधिपत्यं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापारार्द्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषंचेद् याञ्च रात्रीमजायेथा याञ्च प्रेतासि तदुभय मन्तरेणेष्टापूर्त्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीयं यदि मे द्रुह्येरिति स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियोऽहं सर्वाजितीर्जयेयमहं सर्वांल्लोकान् विन्देय महं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्य मतिष्ठां परमतां गच्छेयं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं, वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्य माधिपत्य महं समन्तपर्यायी स्यां सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति स न विचिकित्सेत् सब्रूयात्सह श्रद्धया याञ्चरात्री मजायेऽहं यान्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्त्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि द्रुह्येमिति ॥१॥ (१५)

अनन्तर पूर्वकी ओर मुँह करके राजा खड़ा होता है और अध्वर्यु वा पुरोहित पीछेसे उसके सामने इन मंत्रोंसे अभिषिञ्चन करता है :—सोमकी द्युति वा यशसे मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। अग्निकी दीप्तिसे सूर्यके वर्चस् वा तेजसे, इन्द्रके शौर्यसे तू क्षत्रियोंमें क्षत्रपति हो। हे देवताओ! बड़े क्षत्रपतित्वके लिये, बड़े प्रभुत्वके लिये, बड़े जानराज्यके लिये, इन्द्रके वीर्यके लिये, अमुक पुरुषके पुत्र, अमुकी स्त्रीके पुत्र, अमुक अमुक प्रजाको अप्रतिम बनाओ। हे विश् वा प्रजा जन यह पुरुष सोम तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणोंका भी राजा है।[1]

इसके उपरान्त राजा काले मृगके सींगसे अभिषेकका सारा जल अपनी देहपर रगड़कर कहता है कि 'मेरी यह शक्ति सारे जीवनमें फैली रहे।' फिर वह चीतेके चमड़ेके ऊपर हीं तीन पग यह कहकर चलाया जाता है कि 'तू विष्णुका विक्रमण है, तू विष्णुका विक्रान्त है और तू विष्णुका क्रान्त है।' इससे अध्वर्यु उसे इस लोकमें सर्वोपरि और सबको उससे नीचे बनाता है। तदुपरान्त वह (अध्वर्यु) बचा हुआ जल ब्राह्मणके पात्रमें डाल देता है और इस प्रकार ब्राह्मणको राजाके बाद सम्मान भाजन बनाता है।

फिर बाघम्बरपर खैरकी लकड़ीका सिंहासन रखकर अध्वर्यु उस सिंहासनसे कहता है, 'तू सुखरूप और सुखकारी है' और अनन्तर उसे कपड़ेसे ढक देता है और कहता है 'तू क्षत्रियोंकी योनि है'। पश्चात् राजाको सम्बोधन करके कहता है, 'सुखरूप और सुखकारी (आसनपर बैठ) क्षत्रियोंकी योनिपर बैठ'। उपरान्त उसकी छातीको छूकर कहता है—'वह धृतव्रत (अर्थात् जिसने प्रतिज्ञाकी है वह) बैठ गया।' इसके अनुसार कुछ विधान करके अध्वर्यु और उसके सहकारी बिना मंत्रके ही उसकी पीठपर छड़ियां छुलाते हैं। क्यों ऐसा करते हैं इस विषयमें कहा गया है कि दण्डसे मारनेसे वे सुरक्षित रूपसे उसे दण्डवधसे परे ले जाते हैं। अभिप्राय यह है कि राजा धर्माधि-

राजाको अदण्ड्य करना

---

[1] सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्यवर्चसेन्द्रस्यन्द्रियेया। क्षत्राणां क्षत्रपति रेध्यगति विद्यून्याहि ॥१७॥ इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥१८॥ शु० यजुर्वेद अ० १०

करणमें बैठकर किसीको दोषी ठहरानेपर यदि दण्ड दे, तो वह राजा उसके कारण दोषी वा दण्डनीय नहीं होता। यह विधि मानो राजाको अपने व्यवहारको नियमानुकूल चलानेके लिये लाइसेन्स देनेके समान है। मानो राजा इस विधिसे फिर अपने इस काममें अदण्ड्य हो जाता है।

इन शपथों और अभिषेक-विधियोंसे स्पष्ट हो जाता है कि राज्य राजाका नहीं, प्रजाका समझा जाता था और राजा राज्यव्यवस्था ठीक रखनेवाला प्रधान कर्मचारी था। जो नियम बने हुए थे, उनका पालन करनेके लिये वह बाध्य था। उस समय प्रजाकी अनुकूलताका महत्त्व कितना अधिक समझा जाता था। राजा भी समझता था कि मुझे जो बड़प्पन मिला है, उसका रहस्य क्या है और मैं कहनेको तो राजा वा स्वामी हूँ, पर काम मेरा सेवकका है। यह व्यवस्था बहुत दिनोंतक चलती रही।

राज्य किसका? राजाका या प्रजाका?

रामायणकालमें दो बार राजाके निर्वाचनमें प्रजाके हस्तक्षेपका पता चलता है। एक बार तो रामको यौवराज्य देनेके समय और दूसरी बार दशरथकी मृत्यु पर अयोध्याके भावी राजाकी व्यवस्था करनेके समय प्रजाकी शक्तिका परिचय मिला था। दशरथने कैकेयीसे इस शर्तपर विवाह किया था कि इसका लड़का राजपद पावेगा। परन्तु नियमानुसार वह अधिकार रामका था, इसलिये रामको यौवराज्य देनेके समय दशरथको परिषद् वा आमंत्रण मण्डल बुलानेकी आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक था, क्योंकि भ्रष्टप्रतिज्ञ होनेके लिये दशरथको कुछ बहाना चाहिये और राम लोकप्रिय भी इतने थे कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। रामायणकार वाल्मीकि मुनि कहते हैं, "नाना नगरोंके रहनेवालों, जनपदवासियों और पृथिवीके प्रधानोंको पृथिवीपतिने बुलाया। फिर समस्त परिषद्को सम्बोधन करके राजा दशरथ हितकारी और उत्तम वचन बोले, अब मैं वृद्ध हुआ और थक गया हूँ, इस लिये समवेत द्विजश्रेष्ठोंकी अनुमति लेकर प्रजाके हितार्थ पुत्रको (युवराज-पद) देकर विश्राम करनेकी इच्छा करता हूँ।[1]

राजाके निर्वाचनमें प्रजाका मत रामायण कालमें

---

१ नाना नगरवास्तव्यान् पृथग् जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः ॥४६॥ अयो० सर्ग २

यदि मेरा यह प्रस्ताव आपको समीचीन समझ पड़ता हो तो मुझे अनुमति दीजिये। यदि यह मेरा ही प्रीतिदायी हो और हितकर न हो, तो कुछ दूसरा हितकर उपाय सोचिये; क्योंकि मध्यस्थ लोग पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी बातोंका निरपेक्ष होकर विचार करते हैं और इससे उनका विचार अधिक उत्तम हुआ करता है।' इसके उपरान्त राजा दशरथका अभिप्राय समझ धर्म और अर्थके तत्त्वोंके जाननेवाले वे ब्राह्मणों, सेनाध्यक्षों, पुरवासियों और जनपद-वासियोंसहित परामर्श करनेको इकट्ठे हुए और एकमत होकर उन्होंने राजा दशरथसे इस प्रकार अपना निर्णय कहा, 'हे पार्थिव! आप कई सहस्र वर्षोंके वृद्ध हैं; रामका युवराज पदके लिये अभिषेक कीजिये।' यह सम्मति स्वेच्छासे दी गयी है, या नहीं यह जाननेके लिये राजाने कहा कि 'क्या मैं धर्मपूर्वक पृथिवीका शासन नहीं करता, जो आप युवराजका पराक्रम देखना चाहते

ततः परिषदं सर्वामामंत्र्य वसुधाधिपः।
हितमुद्धर्षणञ्चैव मुवाच प्रथितं वचः ॥१॥
सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते।
सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥१०॥
यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमंत्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥१४॥
यद्यप्येषा ममप्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिको दया ॥१६॥
तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैःसह ॥१९॥
समेत्य ते मंत्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥२०॥
अनेक वर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
तं रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिव ॥२१॥
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते।
कथंनु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥२४॥

अयोध्याकाण्ड सर्ग २

है ?" इसके उत्तरमें सारी परिषदने कहा, 'हे राजा, तेरे पुत्रमें बहुत कल्याण-कर गुण हैं।'

दशरथकी मृत्युके उपरान्त रात बीत जाने और सूर्योदय होनेपर राजकर्त्ता—राजा बनानेवाले द्विजाति सभामें पहुँचे। महायशा मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि ब्राह्मण मंत्रियों सहित अपनी अपनी ओरसे श्रेष्ठ राज-पुरोहित वशिष्ठको अध्यक्षकी भांति सम्बोधन करके बोले। पुत्रशोकसे राजा दशरथने प्राण त्याग दिये और हम लोगोंने भी दुःखमें ही रात बितायी और यह रात हमें सौ वर्षोंके समान जान पड़ी। महाराज तो स्वर्गको सिधारे और राम लक्ष्मण वनको गये। भरतशत्रुघ्न केकय देशके राजगृह नगरमें अपने नानाके यहां हैं। आज ही आप इक्ष्वाकुवंशके किसी कुमारको राजा बना दें, क्योंकि बिना राजाके राष्ट्रका नाश हो जायगा। महाराजके जीवित कालमें भी हमने कभी आपकी बात नहीं टाली, इसलिये राजाके बिना राष्ट्रकी दुर्गति होनेके कारण हम आपसे कहते हैं कि आप चाहें तो इक्ष्वाकुके वंशके अथवा किसी दूसरे मनुष्यको राजसिंहासनपर बैठा दें।[१] परन्तु वशिष्ठने राजाके वचनका विचार करके भरतको बुलानेके लिये दूत भेजना ही उचित समझा और यही मत सबको स्वीकृत भी हुआ। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि प्रजाका राजनिर्वाचनका अधिकार प्रबल नहीं रह गया था, नहीं तो राजा दशरथ कैकेयीका ब्याह उसके पुत्रको गद्दी देनेकी शर्तपर न कर सकते और दूसरी यह कि वैदिक कालके 'राजकर्त्ता' कामके लिये नहीं, तो नामके लिये उस समय भी रह गये थे। शान्तनुने जब

राजकर्त्ताओंके अधिकार

---

१ अतीता शर्वरी दुःखं यातो वर्ष शतोपमा।
अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥५॥
स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्च वनमाश्रितः।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥६॥
उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परन्तपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥७॥
इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि राष्ट्रं नो विनाशं समुवाप्नुयात्

इसी शर्तपर गंगासे व्याह किया था, तब अवस्था और भी विगड़ चुकी थी, जैसा महाभारतकी घटनाओंसे स्पष्ट है।

रामायण कालमें अनार्य वानर जाति भी आर्योंके ही सिद्धान्तपर चलती थी, क्योंकि सुग्रीवने कहा है कि किष्किन्धाकी प्रजा और मंत्रियोंने वालीके अभावमें मुझे वलपूर्वक राजा बना दिया ।[१] परन्तु इन घटनाओंसे वानर भी आर्योंका यही जाना जाता है कि राजाके निर्वाचन जैसे महिमामय अनुकरण करते थे। कार्यमें प्रजा तभी हस्तक्षेप करती थी और उसकी पूछ भी तभी होती थी, जब कोई झगड़ा-झमेला होता था। दशरथने रामको यौवराज्य देनेके समय इसीलिये परिषद् बुलायी थी कि कहीं भरतको यौवराज्य देनके पक्षपातियोंका कोई दल खड़ा होकर उपद्रव न करे। यही नहीं, उन्होंने भरतको अयोध्याके बाहर भेज भी दिया था। दशरथकी मृत्युपर और वालीकी अनुपस्थितिमें अयोध्या और किष्किन्धाके राजकर्ताओंने अपने अन्तर्निहित अधिकारोंका उपयोग किया था। इसमें राजाओंकी कृपा अथवा नियमपालनकी इच्छा कारण न थी।

महाभारतसे जाना जाता है जिन कुरु राजाके नामसे कुरुक्षेत्र आज भी विख्यात है और जो कौरवों-पाण्डवोंके पूर्व पुरुष थे, उन्हें प्रजाने ही राजा बनाया था।[२] परन्तु आगे चलकर राज्यके उत्तराधिकारियोंके विषयमें प्रजाकी सम्मति लेना न तो राजाओंने आवश्यक समझा और न प्रजाओंने ही उन्हें अपने अधिकारोंका स्मरण कराया। इसी कुरुवंशमें निरुक्तके अनुसार

प्रजाने अधिकार कैसे खोये ?

ऋष्टिषेणके देवापि और शान्तनु नामके दो कुमारोंमें जब बड़ा देवापि तपस्वी हो गया, तब छोटे भाई शान्तनुका अभिषेक हुआ। इसपर शान्तनुके राज्यमें १२ वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। तब ब्राह्मणोंने कहा कि 'तूने

---

१ विषादादिवह मां दृष्ट्वा पौरैर्मंत्रिभिरेव च।
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे क्षन्तुं त्वमर्हसि ॥६॥
बलादस्मि समागम्य मंत्रिभिः पुरवासिभिः।
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया ॥७॥ किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १०

२ राजत्वे तं प्रजाः सर्वाः धर्मज्ञ इति वव्रिरे।
तस्य नामाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ॥६४॥ आदिपर्व अ० ६४

अधर्म किया है, जो बड़े भाईके रहते अपना अभिषेक करा लिया; इसीसे वर्षा नहीं होती।' इस पर शान्तनु देवापिको लाने गया। उसने कहा कि 'तेरा पुरोहित बनकर यज्ञ कराऊँगा, तब वर्षा होगी।'[1] परन्तु महाभारतमें लिखा है कि देवापि कोढ़ी था और यद्यपि उसका पिता उसे राज्य देना चाहता था, तथा सब मंगल कार्य भी करा लिये थे, तथापि ब्राह्मणों, वृद्धों, पुरवासियों और देशवासियोंके यह कहकर निषेध करनेपर कि अंगहीन राजाका देवता अभिनन्दन नहीं करते, उसे शान्तनुका अभिषेक करना पड़ा।'[2] इन वर्णनोंसे जाना जाता है कि राजा जब प्रजाकी अनुकूलता प्राप्त करना चाहता था, तभी उसकी सम्मति लेता था, जैसे ययातिको अपने ज्येष्ठ पुत्र यदुको गद्दी देना नहीं था, इसलिये पुरुके पक्षमें प्रजाकी सम्मति ली थी और प्रजाको भी जब कोई राजा अत्यन्त अरुचिकर होता था, तभी वह उसका विरोध भी करती थी।

दण्डनीतिकी उपेक्षाका फल

जिन घटनाओंसे कुरुक्षेत्र युद्ध हुआ और उसका नाम महाभारत पड़ा, उनपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि दण्डनीतिका महत्त्व लोग भूल गये थे; शासनकार्य राजाका कर्त्तव्य समझा जाने लगा था और 'राजा करे सो न्याव और पांसा पड़े सो दांव' कहावत इन शब्दोंमें चाहे प्रचलित न भी हुई हो, तथापि इसके मूलमें जो सिद्धान्त है, वह कुरुक्षेत्र युद्धके बहुत पहलेसे ही मान्य हो चुका था। ऐसा न होता, तो शान्तनु प्रजाकी सम्मतिके बिना अपना व्याह गंगासे यह कहकर न कर सकते कि इसका पुत्र ही राजा होगा। यदि भीष्मने अपनी पितृभक्तिद्वारा अपना नाम इतिहासमें अमर न कर दिया होता और प्रजा उदासीन हो गयी होती, तो गंगाका व्याह शान्तनुको

---

१ देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे देवापिस्तपः प्रतिपेदे ततः शन्तनोः राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं तस्मात्ते राज्ये देवो न वर्षतीति स शन्तनुर्देवापि शिशिक्ष राज्येन तमुवाच देवापि पुरोहितस्ते ऽसानि याजयानिच त्वेति तस्यैतद्वर्षकामसूक्तं तस्यैषा भवति॥ अ० २ पाद ३

२ हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः॥

बहुत मँहगा पड़ता। धृतराष्ट्र यदि अन्धे न होते, तो पाण्डुके वंशमें राज्य न आता और कौरवों पाण्डवोंका झगड़ा भी न खड़ा होता। यदि प्रजा प्रबल होती और अपने अधिकारों और कर्त्तव्योंका ज्ञान उसे होता, तो कुरुक्षेत्रके युद्धकी नौबत ही न आती, पर इसने समझ लिया था कि 'कोउ नृप होइ हमैं का हानी?' इसका प्रभाव भारतके इतिहासपर बहुत ही बुरा पड़ा और इस देशमें शासन और युद्ध राजाके ही कार्य समझे जाने लगे। इसी कारण विदेशी आक्रमणकारियोंका प्रतिरोध राजाओंने ही किया और उसने कभी राष्ट्रीय प्रतिरोधका रूप धारण नहीं किया।

ऐतिहासिक उदाहरण

जब कभी किसी कारणसे कहीं राजसिंहासन शून्य होता था, तब प्रजा अपनी अन्तर्हित शक्तिका उपयोग करके किसी योग्य मनुष्यको सिंहासनपर बैठा देती थी। ईस्वी सन् से १२५-१५० वर्ष पहले प्रजाके ही राजाके निर्वाचनके सब दलोंने पश्चिम भारतके सिंहासनपर रुद्रदामाको बैठाया था। रुद्रदामाने लिखा है कि मुझे सब वर्णोंने राजपद दिया था। सन् ६०६ ईस्वीमें राज्यवर्द्धनके मारे जानेपर प्रधान मन्त्रि भंडिने मन्त्रिपरिषद बुलाकर निश्चय किया था कि हर्षवर्द्धन उत्तर भारतका सम्राट् चुना जाय। इसी प्रकार गौड़ वा बंगालकी प्रजाने वहाँ मात्स्य न्याय दूर करनेके अभिप्रायसे सन् ७३० में गोपालको गद्दीपर बैठाया था जिससे पाल वंशकी नीव पड़ी थी। पहले यह अल्पकालके लिये ही राजा बनाया गया था, पर पीछे प्रजाने सन्तुष्ट हो इसे यावज्जीवन राजा बना दिया।

३—राजा और राजधर्म

आर्य साहित्यमें राजाकी जितनी महिमा गायी गयी है, उतनी संसारके किसी साहित्यमें नहीं मिलती। पाश्चात्य देशोंमें राजाओंने अपनेको ईश्वर द्वारा नियुक्त राजा घोषित तो किया, पर उसे किसीने स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत आर्य लोगोंने राजाको ईश्वरका अवतार ही बना डाला। निस्संदेह वेदकालमें न तो कोई राजाको ईश्वर ही कहता था और न उसे सिरपर ही चढ़ाता था। फिर भी उसका अच्छा आदर था जिससे सिद्ध है कि आर्य लोग राजतंत्रके पक्षपाती थे। इसीलिये वेदोंमें राजा 'राष्ट्रोंका सौन्दर्य' और 'राष्ट्रकी शोभा' बताया गया है।[1]

राजाकी महिमा

इस प्रशंसाका क्या कारण है? राजाके बिना राष्ट्रकार्य चलानेकी असमर्थताने ही वैदिक आर्योंसे यह प्रशंसा करायी है। यह तो बड़ा कठिन प्रश्न है कि पहले राजतंत्र हुआ या प्रजातंत्र। परन्तु भारतीय इतिहास और परम्परागत अख्यायिकाओंसे हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि प्रजातंत्रकी विफलताके बाद वैदिक आर्य राजतंत्रके पक्षपाती बन गये थे और इसीलिये आर्य साहित्यमें राजाकी इतनी अधिक प्रशंसा है। आजकल संसारके अनेक देशोंमें प्रजातंत्र राज्य है, इससे लोगोंको आर्योंकी योग्यताके विषयमें सन्देह हो सकता है। परन्तु अपने बादशाह पहले चार्ल्सका सिर काटकर अंगरेजोंने क्रामवेलकी अध्यक्षतामें जो प्रजातंत्र स्थापित किया था, वह भी एक पीढ़ीसे अधिक नहीं चला। इससे जब अंगरेजोंकी शासन-कुशलतामें सन्देह नहीं किया जाता, तब भारतीय आर्योंकी योग्यतामें संशय कैसे हो सकता है? यही नहीं, फ्रान्स और अमेरिकाके संयुक्त राज्य प्रजातंत्र राज्य हैं, परन्तु इसी कारण फ्रेंचों और अमेरिकनोंके शासन-कौशलकी अंगरेजोंसे अधिक

क्या प्रजातंत्र शासन कौशलका प्रमाण है?

---

१ राजा राष्ट्राणां पेशः। ऋग्वेद ४।२।
राजा हि कं भुवनानामभश्रीः। तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद) १।५।११

प्रशंसा नहीं है। और भी, जैसा अन्यत्र इसी ग्रंथमें बताया गया है, भारतमें राजतंत्रोंके साथ प्रजातंत्र भी रहे हैं और पीढ़ियों चले हैं।

महाभारतमें अराजक राज्यकी बड़ी निन्दा की गयी है। कहा गया है कि वहाँ धर्म नहीं ठहरता और लोग परस्परको खाते हैं। जिनके राज्यमें राजा नहीं होता, वे अपने धन और स्त्रीका भोग नहीं कर सकते। दुष्ट लोग दूसरेका धन हरण करके प्रसन्न होते हैं। पर जब इनका धन हरा जाता है, तब सोचते हैं कि राजा होता, तो अच्छा होता। इस प्रकार अराजक राज्यमें पापियोंको भी सुख नहीं होता। एकका माल दो छीनते हैं और दोका बहुतसे लोग छीनते हैं। वे स्वतंत्र मनुष्योंको दास बनाते हैं और बलपूर्वक स्त्रियोंका हरण करते हैं। इसीलिये देवताओंने प्रजापालककी सृष्टि की। यदि संसारमें दण्डधारी राजा न हों, तो जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं, वैसे ही बली मनुष्य दुर्बलोंको खा जायँ।[1]

महाभारतके मतसे राजाकी आवश्यकता

राजाकी आवश्यकता इसीलिये समझी जाती थी कि वह गदर रोके और मार-काट, चोरी, जारी इत्यादि न होने दे और जो राजा यह व्यवस्था ठीक रखता था, वह धार्मिक कहाता था और अव्यवस्था दूरकर सुव्यवस्था करनेके लिये लोग उसे पूजते थे। राजा धर्मके लिये होता है अपनी कामनाएँ सफल करनेके लिये नहीं। इसलिये इन्द्र मान्धातासे कहते हैं कि राजा धर्मका रक्षक होता है। जो राजा धर्मपूर्वक राज्य करता है, वह देवता माना जाता है और

धार्मिक राजाकी परिभाषा

---

१ अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥१२॥
प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके।
यदाऽस्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजनमिच्छति ॥१३॥
पापाह्यपि तदाक्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य च द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवो परे ॥१४॥
अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान् चक्रिरे ॥१५॥

जो राजा अधर्माचारी होता है, वह नरक जाता है। जिसमें धर्म रहता है, उसीको राजा कहते हैं।[1]

जिस धर्माचरणके लिये राजाकी नियुक्ति होती है, वह क्या है? एक शब्दमें कहा जाय तो वह 'प्रजाहित' है। गर्भिणी स्त्री जैसे अपने मनोऽनुकूल कार्य न करके सदा गर्भके हितका ध्यान रखती है, वैसे ही राजा अपने मनमाने कार्य न करके वे ही काम करे जिनसे प्रजाका हित हो।[2] श्वेतकेतुने बताया है कि राजाका सनातन धर्म प्रजारंजन, सत्यरक्षण और व्यवहारकी सत्यता (नीरक्षीरन्याय) है। वह दूसरेका धन हरण न करे, वरंच यथा समय आप दे और औरोंसे दिलावे। राजाको चाहिये कि वह पराक्रमी, क्षमावान्, सत्यवादी और सत्यपक्षसे अविचलित हो, चित्त और क्रोधको वशमें रखे, शास्त्रका मर्म जाने, चतुर्वर्गकी प्राप्ति और वेदाध्ययनमें नित्य यत्नशील रहे। मंत्रणा सदा गुप्त रखे। विचारपूर्वक चातुर्वर्ण्य और धर्मोंकी रक्षा करना चाहिये। धर्म-संकरतासे प्रजाकी रक्षा करना राजाका सनातन धर्म है।[3] राजा ही प्राणियों-

राजाका धर्म 'प्रजाहित'

राजाचेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥१६॥ शां० अ० ६७

१ धर्माय राजा भवति न काम करणायतु।
मान्धातारिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥२॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥३॥
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ॥१४॥ महा० शां० अ० ९०

२ यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥४५॥
वर्त्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्त्तिना।
स्वं प्रियं च परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥४६॥ शां० अ० ५६

३ लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यं च रक्षणञ्चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥११॥
न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत्।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥१२॥

का रक्षक होता है और वही विनाशक होता है। जो धर्मात्मा होता है, वह रक्षक है और जो अधर्मात्मा होता है, वह विनाशक है।[1]

वर्गके अनुसार राजकर्त्तव्य

वर्गके मतानुसार राजाका धर्म शिष्टोंका परिपालन और दुष्टोंको दंड देना है और जो इन दोनों श्रेणियोंमें नहीं आते, उनसे उदासीनताका व्यवहार करना है। उसका काम राज्यके षाड्गुण्यकी चिन्ता करना है, विलासितामें रहना ही नहीं। जो राजा कभी षाड्गुण्यकी चिन्ता नहीं करता और सदा विलासितामें ही डूबा रहता है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है, क्योंकि राज्य ही षाड्गुण्य है।[2]

महाभारतके मतसे राजधर्म

महाभारतके अनुसार दुर्गकी रक्षा, युद्ध, धर्मानुसार शासन, मंत्रचिन्ता और प्रजाका सुखवर्द्धन ये पांच काम यथासमय करनेसे राजाके अधिकारका विस्तार होता है। जो वध योग्य नहीं है, उसका वध करनेसे जो दोष होता है, वही वध्यका वध न करनेमें समझना चाहिये। निश्चय यही मर्यादा है जिसके विपरीत न करे। इससे राजा-प्रजाको अपने अपने धर्मोंमें ठीक रखे, नहीं तो

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥१३॥
त्रय्या संवृत्तमंत्रश्च राजा च भवितुमर्हति।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात्परम् ॥१४॥
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या समीक्षिता।
धर्मं संकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥१५॥ शां० अ० ५७

1 राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।
धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥६॥ शां० अ० ९१

2 विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनम्।
दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्त्तितः ॥
षाड्गुण्यचिन्तनं कर्मराज्यं यत्संप्रकथ्यते।
न केवलं विलासाद्यं तेन वाह्यं कथंचन ॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनः सदा।
षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं स चिरेण प्रणश्यति ॥

भेड़ियेकी तरह मनुष्य परस्परको खा जायंगे।[1]

जिस राजाका राष्ट्र प्रसन्न, सम्पन्न और राजभक्त होता है और जिसके सन्तुष्ट पुष्ट मंत्री होते हैं, उसकी जड़ मजबूत रहती है। जिसके सैनिक भली भांति सन्तुष्ट, वशीभूत और आज्ञापालनमें तत्पर होते हैं, वह राजा छोटीसी सेनासे ही पृथिवीको जीत लेता है। जिसके पौर और जानपद प्राणियोंपर दया करते हैं और धन धान्य सम्पन्न होते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत रहती है।[2] कलिंगके जैन सम्राट् खारवेलने अपने एक लेखमें, जो ईस्वी सन्‌से १६५ वर्ष पहलेका है, लिखा है कि मैंने अपनी २५ लाख प्रजाका रंजन किया है।

कैसा राजा स्थायी होता है?

प्रजाके साथ राजाका व्यवहार कैसा होना चाहिये इस विषयमें कामन्दकने बहुत मार्मिक उपदेश दिया है। उनका कहना है कि राज्यमें प्रजाको पांच प्रकारके भय लगे रहते हैं, राजकर्मचारियोंका, चोरोंका, शत्रुओंका, राजाके प्रिय लोगोंका और राजाके लोभका। राजाको चाहिये कि त्रिवर्गकी वृद्धिके लिये प्रजाका यह पांच प्रकारका भय दूर कर दे। पके हुए फोड़ेकी भांति राजा धनी अधिकारियोंका धन निचोड़ ले, नहीं तो ये आगकी तरह राजासे व्यव-

राजाको कामन्दकका उपदेश

---

१ रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मंत्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्द्धते मही ॥२४॥ शा० अ० ९२
यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥२७॥
तस्मात्तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्ततः।
अन्योन्यं भक्षयन्तोहि प्रचरेयुर्वृका इव ॥२८॥ शां० अ० १४२

२ यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नप्रियराजकः।
सन्तुष्टपुष्ट सचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥३॥
यस्य योधा सुसन्तुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥४॥
पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥५॥ शां० अ० ६४

हार करते हैं। त्रिवर्गकी वृद्धिके लिये अर्थशास्त्रमें कुशल तथा विश्वासी मनुष्योंके अधीन राजा अपना कोश रखे और यथासमय उससे व्यय करे। बृहस्पतिके नीतिशास्त्रका यह निश्चय है कि किसी मनुष्यका विश्वास न करना चाहिये, पर उसका उतना ही विश्वास करना चाहिये, जितनी विश्वासपात्रता वह दिखावे। जो विश्वासी न हो, उसको जनावे कि हम तुम्हारा विश्वास करते हैं, परन्तु अपने ऊपर विश्वास रखनेवालोंका भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजा जिसपर विश्वास रखता है, वह सेवक लक्ष्मीका पात्र बन जाता है।[1] राष्ट्रसे ही सब राज्यांग होते हैं, इसलिये राजा सब प्रयत्नोंसे राष्ट्रकी उन्नति करे। जैसे यज्ञमें ऋषियोंकी की हुई हिंसा हिंसा नहीं समझी जाती, वैसे ही ऋषि-समान राजा धर्म रक्षाके लिये असाधुओंकी हिंसा करे, तो उसे पाप नहीं होता। धर्मसंरक्षणपर राजा धर्मके लिये अर्थकी वृद्धि करे और इसमें प्रजाके जो जो लोग बाधा दें, उन उनको दण्ड दे। वेदशास्त्रज्ञ आर्य पुरुष जिस कार्यकी निन्दा करें, वह अधर्म और जिसकी प्रशंसा करें, वह धर्म कहाता है। धर्माधर्म जानता हुआ राजा सज्जन प्रजावर्गसे प्रीति रखे, प्रजाकी रक्षा करे और शत्रुओंको मार डाले।[2]

---

१ आयुक्तेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥८१॥
पञ्चप्रकारमप्येतदपोह्य नृपतिर्भयम्।
आददीत फलं काले त्रिवर्गं परिवृद्धये ॥८२॥
आस्वादयेदुपचितान् साधु दुष्टव्रणानिव।
आयुक्तास्ते च वर्त्तेरन् अग्नाविव महीपतौ ॥८४॥
संवर्द्धयेत् तथा कोशमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम्।
काले चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्गप्रतिपत्तये ॥८६॥
बृहस्पतेरविश्वास इति शास्त्रार्थनिश्चयः।
विश्वासी च तथा च स्याद् यथा संव्यवहारवान् ॥८८॥
विश्वासयेदविश्वस्तं विश्वस्तं नातिविश्वसेत्।
यस्मिन् विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः ॥८९॥ नीतिसार सर्ग ५

२ राज्यांगानां तु सर्वेषां राष्ट्राद् भवति सम्भवः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन राजा राष्ट्रं समुन्नयेत् ॥३॥

शुक्रनीतिसारमें भी राजाको कुछ व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है। कहा गया है कि राजा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति और सभासदोंके मतमें सदा स्थित रहे और अपने मतमें कभी न रहे। किसी कार्यके बहाने राजा प्रजाका धन हरण न करे, चाहे क्षुधासे पीड़ित वृक्षकी भांति स्थित रहे। राजाको चाहिये कि प्रजामें प्रचलित उत्सव जारी रखे और प्रजाके सुखमें सुखी तथा दुःखमें दुःखी हो। भूल जाना मनुष्यका स्वभाव होता है, इसलिये लेख ही परम निर्णायक है। जो राजा विना लिखे कोई आज्ञा देता है और जो अधिकारी विना लेखके कोई कार्य करता है, वे दोनो चोर हैं। राजाकी मुहरवाला लेख ही राजा है, राजा राजा नहीं है। राजा नगरों, ग्रामों और देशोंका प्रतिवर्ष स्वयं निरीक्षण करके जाने कि अधिकारियोंने किन्हें प्रसन्न किया और किन्हें दुःख दिया। उक्त प्रजाजनोंके साथ जैसा व्यवहार किया गया हो, उसीसे अधिकारियोंके आचरणका विचार करे। अधिकारीका पक्षपात न करके, प्रजा का पक्ष करे। जिस अधिकारीसे सौ आदमी घृणा करें या जिसे नापसन्द करें, राजा उसे निकाल दे और एक बार यदि अमात्यका अन्याय देखे, तो उसे भी एकान्तमें दण्ड दे और यदि उसका अभ्यास हो गया हो, तो उसे निकाल दे। अन्यायियोंका राज्य और सर्वस्व राजा हरण कर ले।[1]

राजकर्त्तव्योंपर शुक्रनीतिसार

धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा महीभुजः।
तस्मादसाधून धर्माय निघ्नन् दोषैर्न लिप्यते ॥५॥
धर्मसंरक्षणपरो धर्मायार्थं विवर्द्धयेत्।
ये ये प्रजाः प्रबाधेरन् तांस्तान् शिष्यान्महीपतिः ॥६॥
यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते ॥७॥
धर्माधर्मौ विजाजनन् हि शासनेऽभिरतः सताम्।
प्रजा रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ॥८॥ नीतिसार सर्ग ६

1 सभ्याधिकारि-प्रकृति-सभासत्सु मते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥३॥
न कर्षयेत् प्रजां कार्यमिषतश्च नृपः सदा।
अपि स्थाणुवदासीत् शुष्यन् परिगतः क्षुधा ॥२२६॥ अ० २

महाभारतमें राजनीतिका मूलमंत्र शुक्राचार्यके इन शब्दोंमें आ गया है कि राजधर्मका मूलसूत्र साधुकी रक्षा और असाधुका दमन है और यह काम राजाको करना ही चाहिये, चाहे वह आप भी आपद्में हो।[1] राजा राष्ट्रका सबसे बड़ा सेवक है। यही नहीं, वह चौबीसों घंटेका नौकर है। सब नौकरोंको कभी न कभी छुट्टी मिलती है, पर उसको कभी छुट्टी नहीं मिलती। सोते जागते उठते बैठते राष्ट्रहित चिन्तन करना उसका मुख्य कर्त्तव्य है। जहाँ कहीं लिखा है कि अमुक राजा वेदविधि से प्रजापालन करता था, वहाँ यही समझना चाहिये कि वह अपने काममें मुस्तैद था और पूरी नौकरी बजाता था। परन्तु ईश्वरने सर्वदा प्रजापालन करनेके कारण उसे स्वामी बनाया है।[2]

राजधर्म का मूल

भ्रान्ते पुरुष धर्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम्।
अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः ॥२८२॥
राज्यकृत्यमुभौचौरो तौ भृत्यनृपती सदा।
नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृपः ॥२८३॥
ग्रामान्पुराणि देशांश्च स्वयं वीक्ष्य च वत्सरे।
अधिकारिगणैः काश्च रञ्जिताः काश्च कर्षिताः ॥२७३॥
प्रजास्तासां तु भूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत्।
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥२७४॥
प्रजाशतेन संद्विष्टं सन्त्यजेदधिकारिणम्।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥२७५॥
एकान्ते दण्डयेत्स्पष्टमभ्यासगस्कृतं त्यजेत।
अन्यायवर्त्तिनां राज्यं सर्वस्वं च हरेन्नपः ॥२७६॥ अ० १ शुक्रनीतिसार

१ अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
एवं शुक्रोब्रवीद्धीमानापत्सु भरतर्षभ ॥३४॥ शां० ५० अ०

२ स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥

४ मन्त्रिपरिषत्

मंत्री परिषत्के विकास पर विचार

हिन्दू राज्यशास्त्रमें वेद समयमें लोकसत्ताकी जो प्रबलता थी, वह राजवंशोंकी स्थापनासे घट गयी और इसलिये राजा राज्यका वेतनभोगी प्रधान कर्मचारी न रहकर उसका स्वामी बन गया। वैसे तो कुमार्गगामियोंका शासन करनेके कारण वह स्वामी था ही, परन्तु जहाँ पहले वह प्रजाकी इच्छासे स्वामी था, वहाँ अब स्वेच्छासे स्वामी बन गया। पहले स्वामी नियंत्रित था और नियमोंसे ऐसा जकड़ा हुआ था कि उससे मत्त नहीं हो सकता था। परन्तु ज्यों-ज्यों राज्य बड़े होने लगे होंगे, त्यों-त्यों समिति वा राष्ट्रपरिषत्का प्रत्येक कार्यपर मत लेना असम्भव हो गया होगा और इसलिये प्रारम्भमें राजकर्त्ता राज्यके प्रतिनिधि रूपसे राजकार्यमें राजाको परामर्श देने लगे होंगे। उस समय इनकी स्थिति क्या थी यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये ही कालान्तरमें मंत्रिपरिषद्में परिणत हुए होंगे।

पुरोहितकी महिमा

प्राचीनकालमें मन्त्रियोंमें पुरोहित वा पुरोधा भी था, जिसका अर्थ नेता है और इस पुरोहितका राजापर बड़ा प्रभाव भी था। वह युद्ध और शान्तिमें सर्वदा राजाका मित्र, परामर्शदाता, मन्त्री और संगी था। वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों सुदास राजाके पुरोहित थे और अपने राजाके लिये देव-देवियोंकी स्तुति करनेके सिवा बहुतसे मार्केके काम भी करते थे। जब दस राजा पारुष्णी (वर्त्तमान रावी) नदी पारकर सुदासपर चढ़ आये थे, तब सुदास राजाकी जिस सेनाने उन्हें परास्त किया था, उसके साथ उनके पुरोहित वशिष्ठ भी थे। राजाको भी विपाशा (व्यास) और शतद्रू (सतलज) नदियाँ पार करनी पड़ी थीं। पुरोहित पद बड़े सम्मान और आयका था, इसीसे इक्ष्वाकु वंशके परम्परागत पौरोहित्यके लिये वशिष्ठ और विश्वामित्रमें लड़ाइयाँ हुई थीं। यह पुरोहित दीर्घकाल तक प्रजाका नेता, प्रतिनिधि और रक्षक बना रहा। निमि राजाके साथ वशिष्ठके झगड़ेकी जड़में भी यह पौरोहित्य ही था।

प्रकृतिका रञ्जन करनेके कारण राजा शब्दकी सृष्टि हुई है, पर यह प्रकृति

प्रकृति क्या है ?

क्या है ? प्रकृतिका साधारण अर्थ तो प्रजा है; इसलिये सच्चा राजा वही है जो प्रजाका रंजन—उसे सन्तुष्ट और प्रसन्न कर सके। राज्यके अंगोंको भी प्रकृति कहते हैं, जिनमें राजा भी एक है। इसलिये प्रकृतिका अर्थ राज्यप्रकृति वा राज्याङ्ग नहीं हो सकता। राज्यशास्त्रमें जैसे राज्य-प्रकृतियोंकी कल्पना की गयी है, वैसे ही कामन्दकने बताया है कि राज्यशास्त्रविदोंने अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्डको विजिगीषु-विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाकी प्रकृति बताया है।[1] शुक्रनीतिसारने प्रकृतिको प्रतिकृति वा रूप मानकर राजाकी दस प्रकृतियां पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमंत्र, अमात्य और दूत बतायी हैं। किसी किसीके मतसे पुरोहित और दूत प्रकृति नहीं हैं और कुल आठ ही प्रकृतियां हैं। इसलिये प्रकृतिका राजनीतिक अर्थ प्रजा-प्रतिनिधि वा मंत्रिपरिषत् समझना चाहिये।

पुरोहितका महत्त्व

जब किसी कारणसे किसी राज्यमें राजाका अभाव हो जाता है और क्रमके अनुसार राजा उपलब्ध नहीं होता, तब प्रकृति ही उपयुक्त मनुष्यको सिंहासनपर बैठाकर अभावकी पूर्ति करती है। वैदिक ही नहीं, ऐतिहासिक युगमें भी ऐसा ही हुआ है। यद्यपि राष्ट्रसभा प्रभाहीन हो चुकी थी और मंत्री भी राजाके उपकरण मात्र रह गये थे, तथापि पुरोहितके अधिकारोंमें कमी नहीं होने पायी थी। यह पुरोहित बहुत समयतक प्रजाके हितोंका रक्षक बना रहा और इसीलिये शुक्रनीतिसारने उसे राजा और राष्ट्रका रक्षक बताया है।[2] पुरोहितमें कौनसे गुण होने चाहिये इस विषयमें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है कि जो सत्‌की रक्षा करे और असत्‌से निवारण करे, उसीको राजपुरोहित बनाना चाहिये। जो विद्वान् और बहुश्रुत हो और धर्म तथा अर्थके गहन विषयोंको बहुत शीघ्र समझ सके, जो धर्मात्मा हो और मंत्र-नीतिका ज्ञाता हो, उसीको राजपुरोहित बनाना चाहिये, क्योंकि राष्ट्रका योगक्षेम तो राजाके

---

१ अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोशोदण्डश्च पञ्चमः।
एताः प्रकृतयस्तज्ज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृताः ॥४॥ नीतिसार सर्ग ८

२ पुरोधाः प्रथमं सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत् ॥७४॥ अ० २ शुक्रनीतिसार

अधीन है, परन्तु राजाका योगक्षेम पुरोहितके अधीन है।[1] शुक्रनीतिसारके अनुसार पुरोहित, मंत्र (परामर्श) और उसके अनुष्ठानमें कुशल, आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ताका ज्ञाता, कर्मतत्पर, जितेन्द्रिय और जितक्रोध, लोभ और मोहसे शून्य, षडङ्ग, साङ्ग धनुर्वेद, धर्म और अर्थ का ज्ञाता तथा ऐसा हो कि उसके कोपसे डरकर राजा भी धर्म और नीतिमें रत रहे और वह नीति, शस्त्रास्त्र प्रयोग तथा व्यूहरचनामें कुशल हो। जो पुरोहित हो, वही आचार्य हो तथा शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ हो।[2] शुक्राचार्यके मतसे दैव, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी सम्बन्धी उत्पातों तथा आपदाओंकी शान्तिके लिये राजाओंको पुरोहित नियुक्त करना चाहिये।[3] अर्थशास्त्रने इसीसे मिलता जुलता पुरोहितका लक्षण बताया है। कहा है कि जो अच्छे कुल और शीलका हो, षडङ्ग वेद, ज्योतिष शास्त्र, उत्पात देखने और दण्डनीतिमें कुशल हो और दैव तथा मानुषी आपदाओंका अथर्ववेदके उपायोंसे प्रतिकार कर सकता हो, उसे

---

१ य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राजा कर्त्तव्यो राजन् राजपुरोहितः॥ शां० अ० ७२
राजा पुरोहितः कार्यो भवेद्विद्वान् बहुश्रुतः।
उभौ समेत्य धर्मार्थौ वप्रमेयावनन्तरम्॥१॥
धर्मात्मा मंत्रविद्येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः।
राजा चैवं गुणो येषां कुशलं तेषु सर्वदा॥२॥ शां० अ० ७३
योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते॥१॥ शां० अ० ७४

२ मंत्रानुष्ठाने सम्पन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः॥७७॥
षडङ्गवित्साङ्ग धनुर्वेदविचार्यधर्मवित्।
यत्कोपभीत्या राजाऽपि धर्मनीतिरतो भवेत्॥७८॥
नीतिशस्त्रास्त्र व्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः।
सैवाचार्यः पुरोधा यः शापानुग्रहयोः क्षमः॥७९॥ अ० २

३ दिव्यान्तरिक्ष भौमानामुत्पातानां प्रशान्तये।
तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः॥

पुरोहित बनाना चाहिये।[1] बृहस्पतिका कहना है कि मंत्री और पुरोहित राजाके मातापिताके समान हैं, इसलिये राजा उनकी बात कभी न टाले। उस आचार्यका शिष्य उसी तरह उसका कहा माने, जैसे पुत्र पिताका और भृत्य स्वामीका मानता है। बृहस्पति[2] ही नहीं, साम्राज्यवादी कौटिल्य भी पुरोहितको राजाका पितृ-स्थानीय मानते हैं, इसीसे पुरोहितकी सामर्थ और उत्तरदायित्वका अनुमान किया जा सकता है। इस सम्बन्धमें जो सबसे महत्त्वकी बात है, वह यह है कि राज्यपर पुरोहितका इतना अधिक प्रभाव होना चाहिये कि राजा भी उसके डरसे कभी अन्याय करनेका साहस न करे। इसमें पुरोहितका इतना ही स्वार्थ था कि राजा धर्म और नीतिके मार्गपर दृढ़तापूर्वक चलता रहे। पुरोहित भी कोई साधारण पाठ वा जप करनेवाला ब्राह्मण नहीं होता था। वह धर्म, अर्थ, साङ्ग धनुर्वेद और व्यूहरचना भी जानता था, राष्ट्रकी नीतिके निर्द्धारणमें राजाको परामर्श दे सकता था और उसके अनुसार कार्य व्यवस्था भी कर सकता था। विश्वामित्र और द्रोणाचार्यकी भांति वह शाप और शर दोनोंसे मार सकता था।

राजकार्य सहायसाध्य है, क्योंकि राजाके कार्य तीन प्रकारके होते हैं, प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। अपना देखा हुआ प्रत्यक्ष, दूसरोंसे जाना हुआ परोक्ष और किये वा न किये कार्योंपर ध्यान देकर जो अनुमान किया जाय, वह अनुमेय कार्य होता है। कार्य बहुत होते हैं और सब एक ही समय और स्थानमें नहीं होते, इस कारण स्थान और समयका अतिक्रम न होने देनेके लिये परोक्ष कार्य दूसरोंसे कराया जाता है। ये दूसरे ही अमात्य कहाते हैं और इनका कार्य अमात्यकर्म है। यह कौटिल्यका मत है।[3] राज्यके विस्तारके

मंत्रियोंकी आवश्यकता क्यों?

१ पुरोहितमुदित कुलशीलं षडङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवीमानुषीणां च अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत ॥१५॥

अधि० १ अ० ६

२ समौ मातृपितृभ्यां राज्ञो मंत्रीपुरोहितौ।
अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैर्न कथंचिद्विस्तरयेत् ॥

३ प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः ॥११॥ स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षं, परोपदिष्टं परोक्षं ॥१२॥ कर्म सुकृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम् ॥१३॥ अयौगपद्यात्तु कर्मणा

अनुसार कार्य बहुत होते हैं, इसलिये मंत्रियोंके बिना काम नहीं चल सकता, क्योंकि राजा सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता, जो सब स्थानों और सब समयोंका काम अकेला कर सके।

मंत्रियोंका महत्त्व किसी समय बहुत बढ़ गया था, इसलिये राज्यशास्त्र-प्रणेताओंने जगह जगह इस बातपर जोर दिया है कि राजा कोई काम मंत्रियों-की सम्मतिके बिना न करे। शुक्रका कहना है कि जो राजा मंत्रियोंसे परामर्श किये बिना काम करता है, उसका काम क्लीबकी रतिके समान निष्फल होता है।[1] बृहस्पति कहते हैं कि जो राजा, मंत्री, पुरोहित आदिके हितकारी वचन नहीं मानता, वह दुर्योधन राजाकी भांति शीघ्र ही नाशको प्राप्त होता है।[2] द्रोण भारद्वाजका वचन है कि जो राजा हितैषी मंत्रियोंका कहना नहीं मानता, वह सिंहासनपर बहुत दिन नहीं रहता, चाहे उसके बाप-दादोंका ही राज्य क्यों न हो।[3] यदि राजा और मंत्रियोंमें बिगाड़ न रहेगा, तो सदा सुमंत्रित मंत्रकी सिद्धि होहीगी।[4] जिस हेतुसे मंत्री राजाका दूसरा हृदय है इसलिये राजाकी उन्नतिकी दृष्टिसे उसे औरोंसे न मिलना जुलना चाहिये, क्योंकि दूसरोंके संसर्गमें राज्यका मंत्र प्रकट हो जानेसे हानिकी सम्भावना अधिक रहती है।[5]

मंत्रियोंसे मंत्रणा-के महत्त्वपर आचार्योंके मत

-मनेकत्वादनेकस्थत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूदिति परोक्षमात्यैः कारयेदित्य-मात्यकर्म ॥१४॥ अधि० १ अ० ६

१ अमंत्रसचिवैः सार्धं यः कार्यं कुरुते नृपः ।
तस्य तन्निष्फलं भावि षण्डस्य सुरतं यथा ॥

२ यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः ।
स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥

३ यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणाम् ।
न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपि च ॥

४ सुमंत्रितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवती शाश्वती ।
यदि स्यान्नान्यथा भावो मंत्रिणासह पार्थिवः ॥

५ मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः ।
ततोऽन्येन न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये ॥

आजकल मंत्री, सचिव और अमात्य शब्दोंका व्यवहार पर्यायी शब्दोंकी भाँति किया जाता है, परन्तु राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे इनके कार्यों और गुणोंमें अन्तर है। यद्यपि महाभारतमें भी मंत्रियोंकी योग्यता और अधिकारोंका वर्णन है, तथापि शुक्रनीतिसारमें जिस विस्तार और स्पष्टतासे इस विषयका विवेचन किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इसके अनुसार प्रतिनिधि वह है, जो राजाको यह बताता रहे कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। जो सत्य, असत्य, हित और अहित कार्य हो, वह प्रतिनिधि राजाको बतावे और तुरत करनेका जो काम हो, वह करे या करावे और जो न करनेका हो, वह न करे और जो अहित हो, वह न बतावे। सब कामोंकी देखभाल करनेवाला प्रधान होता है। सभी राजकार्योंपर विचार करना उसका काम है। अश्वों, गजों, रथों, और पैदलों तथा सुदृढ़ उष्ट्रों, बाजेसे न भड़कनेवाले तथा बोली और संकेत जानने वाले बैलों, व्यूहरचनाके अभ्यासियों, पूर्व पश्चिम जानेवाले तथा शस्त्रास्त्र सेवकोंके अच्छे बुरे कामों, अस्त्रों और अस्त्रधारियों तथा घोड़ियों और इनमें कौन कामकी हैं और कौन नहीं, कौन पुरानी हैं और कौन नयी, गोलीबारूद सहित कितने हथियार हैं तथा युद्धोपयोगी कितनी सामग्री है इत्यादि बातें प्रधानके देखने और जाननेकी हैं। सेनाकी व्यवस्था करनेवाला सचिव है और इसे सेना सम्बन्धी सब बातें राजाको बतानी चाहिये। नीतिमें कुशल मंत्री कहाता है और उसे यह सब विचार कर राजाको बताना चाहिये कि किनके साथ कब साम, दाम, भेद और दण्डका प्रयोग करना चाहिये। यह मंत्री ही कालान्तरमें सान्धि-विग्रहक कहाने लगा था। लोक, शास्त्र और नीतिका ज्ञाता प्राड्विवाक होता है। इसका काम यह जानना है कि लिखा-पढ़ीपर साक्षियोंके हस्ताक्षर हैं वा वह छलसे तैयार की गयी है। मामला बनावटी है या सच्चा यह विचारकर तथा दिव्य (हलफ) आदि जो साधन हैं, उनसे और युक्ति, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानसे तथा सभामें बैठकर लोक और शास्त्रों द्वारा बहुमतसे निश्चय करके जो राजाको बताता है, वह प्राड्विवाक कहाता है। धर्मतत्त्वका ज्ञाता पण्डित कहाता है। इसका काम यह जानना और राजाको बताना है कि लोग जिन धर्मोंका अवलम्बन किये हुए हैं, उनमें कौन नवीन हैं और कौन प्राचीन तथा शास्त्रोंमें कौन माने गये हैं और किनका विरोध

शुक्रनीतिसारके अनुसार मंत्रियोंके नाम और कर्त्तव्य

किया गया है तथा लोक और शास्त्रके विरुद्ध कौन है तथा लोक और परलोक में सुख देनेवाले कौन हैं। आय-व्ययका बतानेवाला सुमंत्र है। इस वर्षमें तृणादि कितना द्रव्य संचित हुआ है और कितना व्यय हुआ है तथा स्थावर और जंगम कितना द्रव्य है यह राजाको बताना सुमंत्रका कर्त्तव्य है। देश-कालका ज्ञाता अमात्य होता है। राज्यमें कितने पुर, कितने ग्राम और कितने जंगल हैं तथा कितनी भूमि किसने जोती है और उससे कितना भाग मिला है तथा कितना शेष है, जोतनेको कितनी भूमि अब भी पड़ी हुई है; इस वर्ष शुल्क, दण्ड आदिसे कितना द्रव्य आया तथा बिना जोती भूमि और वनमें कितना अन्न हुआ; खानोंसे कितना धन मिला और निधिमें (खजानेमें) कितना है; कितना लावारिस माल मिला, कितना चोरी गया और कितना संचित है यह राजाको बताना अमात्यकर्म है। संकेत और चेष्टाका जानकार, अच्छी स्मृतिवाला और देशकाल तथा षाड्गुण्य विषयक मंत्रका ज्ञाता, वक्ता और निर्भय होना दूतका गुण है।[1]

---

१ कार्याकार्य प्रविज्ञाता स्मृतः प्रतिनिधिस्तु सः ॥८२॥
अहितं चापि यत्कार्यं सद्यः कर्त्तुं यदौचितम् ।
अकर्त्तुं यद्धितमपि कर्त्तुं राज्ञः प्रतिनिधः सदा ॥८७॥
बोधयेत् कारयेत् कुर्यान्न कुर्यान्न प्रबोधयेत् ।
सत्यं वा यदि वासत्यं कार्यजातं च यत्किल ॥८८॥
सर्वेषां राजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिन्तयेत् ।
गजानां च तथाश्वानां रथानां पद्गामिनां ॥८९॥
सुदृढानां तथोष्ट्राणां वृषाणां सद्य एव हि ।
वाद्यभाषा-सुसङ्केत-व्यूहाभ्यासशालिनां ॥९०॥
प्राक् प्रत्यग्गामिनां राजचिह्न शस्त्रास्त्रधारिणां ।
परिचारगणानां हि मध्यमोत्तमकर्मणाम् ॥९१॥
अस्त्राणामस्त्रपत्तीनां सद्यस्त्वं तुरगी गणः ।
कार्यक्षमश्च प्राचीनः साद्यस्कः कति विद्यते ॥९२॥
कार्यासमर्थः कत्यस्ति शस्त्रगोलाग्निचूर्णयुक् ।
सांग्रामिकश्च कत्यस्ति सम्भारस्तान्विचिन्त्य च ॥९३॥
....सेनाविस्सचिवस्तया ॥८३-२

इस प्रकृतियोंका जो वर्णन हुआ है, उससे जान पड़ता है कि प्राचीन-कालमें राज्य व्यवस्थाका भार मंत्रियोंपर ही था। प्रतिनिधि राजाका प्राइवेट सेक्रेटरी होता था। यों तो शिवाजी महाराजकी राज्य पद्धतिमें प्रत्येक मंत्री प्रधान कहाता था अथवा प्रधान शब्द मंत्रीका ही पर्यायवाची हो रहा था, परन्तु प्रधानके अधीन जो कार्य थे, उनसे जाना जाता है कि वह प्रधान मंत्री ही होता था। वह सेना, शस्त्रास्त्र तथा व्यूहादि और युद्ध सामग्रीका पूरा पता रखता था और जानता था कि युद्धके लिये कितनी तैयारी है। राज्यकी सभी बातोंसे वह अवगत होता था। वही अध्यक्ष होता था और सचिव सेना-सचिव वा समर-सचिव होता था। मंत्री परराष्ट्र-सचिव, प्राड्विवाक मुख्य न्यायाधीश, सुमंत्र अर्थ-सचिव, अमात्य राजस्व मंत्री, पण्डित धर्म व्यवस्थापक और दूत राजदूत होता था।

वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दोंसे मंत्रियोंके पुराने नामोंकी तुलना

सचिवश्चापि तत्कार्यं राज्ञे सम्यङ् निवेदयेत्।
मंत्री तु नीतिकुशलः पण्डितो धर्मतत्त्ववित्।
सामदानश्च भेदश्च दण्डः केषु कदा कथं ॥९४॥
कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहुमध्यं तथाल्पकम्।
एतत्सञ्चित्य निश्चित्य मंत्री सर्वं निवेदयेत् ॥९५॥
लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा।
साक्षिभिर्लिखितै भोगैश्छल भूतैश्च मानुषान्।
स्वानुत्पादित-सम्प्राप्त-व्यवहारान्विचिन्त्यच ॥९६॥
दिव्य संसाधनान्वापि केषु किं साधनं परम्।
युक्ति प्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोकशास्त्रतः ॥९७॥
बहुसम्मत संसिद्धान्विनिश्चित्य सभास्थितः।
स सभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं सम्बोधयेत्सदा ॥९८॥
पण्डितो धर्मतत्त्ववित्..........
वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥९९॥
लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान्विचिन्त्य च।
नृपं सम्बोधयेत्तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥१००॥

मंत्रियोंसे मंत्रणा करनेकी विधि और बहुमतसे कार्य

कौटिल्यकी राज्यव्यवस्था कई विषयोंमें विशेष प्रकारकी होनेपर भी मंत्रियोंके साथ राजाके मंत्रणा करनेके विषयमें प्राचीन आर्योंके अनुकूल ही थी। वे व्यावहारिक आचार्य थे, इसलिये उन्होंने मंत्रियोंकी संख्या निर्दिष्ट न करके इतना ही कहा कि आवश्यकता वा सामर्थ्यके अनुसार मंत्री रखने चाहिये। उन्होंने मंत्रियोंके कार्योंका समुच्चय इस प्रकार बताया है:—'वे राजाके स्वपक्ष और परपक्षका विचार करें। न किये हुए कार्यका अनुष्ठान और अनुष्ठित कार्यकी पूर्तिकी तैयारी करें।' जो निकट हों, उनके साथ बैठकर राजा कार्यको देखे और जो दूर हों, उनसे पत्रद्वारा परामर्श करे। आवश्यक कार्य मंत्रियों और मंत्रिपरिषद्का आवाहन करके उन्हें बतावे। फिर बहुमत जिस उपायको कार्यसिद्धि बतावे, वही करे।'[1] कौटिल्यने मंत्रके पांच अंग माने हैं, (१) कार्यारम्भका उपाय, (२) पुरुष और द्रव्यसम्पत्,

---

आयव्ययप्रविज्ञाता सुमंत्रः स च कीर्त्तितः ॥८४॥
इयच्च संचितं द्रव्यं वत्सरेऽस्मिंस्तृणादिकम्।
व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजङ्गमम् ॥१०१॥
इयदस्तीति वै राज्ञे सुमंत्रो विनिवेदयेत्।
देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते ॥८५॥
पुराणि च कति ग्रामा अरण्यानि च सन्ति ह ॥१०२॥
कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्तदा कति।
भागशेषं स्थितं तस्मिन् कत्यकृष्टा च भूमिका ॥१०३॥
भागद्रव्यं वत्सरेऽस्मिञ्छुल्कं दण्डादिजं कति।
अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसम्भवम् ॥१०४॥
कति चाकरसंजातं निधिप्राप्तं कतीति च।
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम् ॥१०५॥
सञ्चितन्तु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत्।
इङ्गिताकार चेष्टज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित्।
षाड्गुण्यमंत्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥८६॥

शुक्रनीतिसार अ० २

१ ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः ॥२७॥ अकृतारम्भमारब्धानुष्ठानमनु-

(३) देश और कालका विभाग, (४) आक्रमणका विचार और (५) कार्य-सिद्धि। उनका मत है कि राजा पहले सब मंत्रियोंसे अलग अलग पूछे और फिर सबसे एक साथ पूछे। हेतुकी दृष्टिसे निश्चय करे और जब निश्चय हो जाय, तब व्यर्थ समय नष्ट न करे। मंत्रियोंसे पूछे कि यह कार्य ऐसा या ऐसा हो तो क्या करना चाहिये और जैसा वे कहें, वैसा ही करे।[२] महाभारतके अनुसार राजा कमसे कम तीन मंत्रियोंसे परामर्श करके अपना मत प्रकट करे और जो सिद्धान्त हो, वह प्रजाके अनुकूल हो, तो उसके अनुसार कार्य करे।

कैसे मंत्री होने चाहिये?

जब साम्राज्यवादी कौटिल्यने मंत्रिमण्डलको इतना महत्त्व दिया है, तब अन्य आचार्य यदि कुछ विशेष कहें, तो क्या आश्चर्य? शुक्रनीतिसारमें कहा गया है कि राजा समझे कि प्रकृतिसे मंत्रणा किये बिना राज्यका नाश और मेरा निरोध होगा। यही नहीं, उसका तो कहना यह है कि जिन मंत्रियोंसे राजा नहीं डरता, उनसे क्या कभी राज्यकी बढ़ती होगी? क्योंकि जैसे स्त्रियोंके वस्त्राभूषण आदि होते हैं, वैसे ही ये भी हैं। उन मंत्रियोंसे क्या प्रयोजन जिनसे राज्य, प्रजा, बल, कोश और सुनृपत्वमें वृद्धि नहीं होती?[३] इस ग्रन्थने राजाको नियंत्रित करनेमें कुछ उठा नहीं रखा, क्योंकि इसका कहना है कि मंत्रियोंकी सम्मति बिना राजा अपने नौकर भी नहीं रख सकता

स्थित विशेषं नियोगसम्पदं च कर्मणां कुर्युः ॥२८॥ आसन्नैः सह कार्याणि पश्येत्। अनासन्नैस्सह पत्रसम्प्रेषणेन मंत्रयेत् ॥२९॥ ....आत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात् ॥६३॥ तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्य-सिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात् ॥६४॥

२ कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पद् देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पंचाङ्गो मंत्रः ॥४७॥ ताननेकशः पृच्छेत् समस्तांश्च ॥४८॥ हेतुभिश्चैषां मतिप्रविवेकान् विद्यात् ॥४९॥ अवाप्तार्थकालं नातिक्रामयेत् ॥५०॥ अधि० अ० १५। का°मिदमेवमासीदेवं वा यदि भवेत्तत्कथं कर्त्तव्यमिति ॥ २७॥ ते यथा ब्रूयुः तत्कुर्यात् ॥२८॥ अधि० १

३ न बिभेति नृपो येभ्यस्तैः किं स्याद्राज्यवर्द्धनम्।
यथालङ्कारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथा हि ते ॥८१॥

और इसे बृहस्पतिका मत बताया है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू राज्यशास्त्र-प्रणेताओंके अनुसार राज्य राजतन्त्री नहीं मन्त्रितन्त्री होता था, जैसा इंग्लैण्डमें है। परन्तु दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि यहां राजाओंको नियंत्रित रखनेके जो उपाय बताये गये थे, उनका अवलम्बन प्रायः नहीं होता था।

मंत्रणाके पात्र कौन नहीं होते ?

मंत्रणा किन लोगोंसे न करनी चाहिये इस विषयमें जैमिनिका कहना है कि क्षत्रियोंको मंत्री न बनावे, क्योंकि उन्हें केवल युद्ध ही सूझता है।[2] तात्पर्य यह कि दण्डके अतिरिक्त राजनीतिके और भी तीन अंग होते हैं। राजाको उन तीनोंका भी ध्यान रखना चाहिये। परन्तु क्षत्रियोंका मन इनमें नहीं लगता, इसलिये क्षत्रियों वा सैनिकोंको मंत्री न बनाना चाहिये। शुक्रका मत है कि राजा अपने जिन विरोधियोंको वध आदिका दण्ड दे, उनके सम्बन्धियोंके साथ मंत्रणा न करे। नारदका कहना है कि जिनका पराभव हुआ है और जिन्होंने पराभव किया है, उन्नतिके आकांक्षीको उनसे गोष्ठी न करनी चाहिये। शुक्र तो यहाँ तक कहते हैं कि जैसे घरमें रहे हुए सर्पसे सदा भय बना रहता है, वैसे ही घर आये हुए दोषियोंसे भी रहता है।[3] अर्थात् दोषियोंसे राजा मंत्रणा तो करे ही नहीं, उन्हें घरमें भी न आने दे, कारण कि कहीं कोई भेदकी बात न जान सकें।

राज्यं प्रजाबलं कोशः सुनृपत्वं न वर्द्धितम्।
यन्मंत्रोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥८२॥

१ भूपतेस्सेवका ये स्युस्ते स्युः सचिवसम्मताः।

२ मंत्रस्थाने न कर्त्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा।
यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपश्यन्ति रणोद्भवम् ॥

३ येषां वधादिकं कुर्यात्पार्थिवश्च विरोधिनाम्।
तेषां सम्बन्धिभिस्सार्द्धं मंत्रः कार्यो न कर्हिचित् ॥
परिभूता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः।
न तैस्सह क्रियाद् गोष्ठीं यदिच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ नारदः
यथाहिर्मन्दिराविष्टः करोति सततं भयं।
अपराध्याः सरोपाश्च तथा तेऽपि गृहागतः ॥ शुक्रः

मंत्रणा करनेके स्थानोंपर भी राज्यशास्त्रके आचार्योंने विचार किया है। शुक्रनीतिसारका मत है कि रातको मकानके अन्दर और दिनको निर्जन वनमें राजा भावी कार्यके विषयमें मंत्रियोंके साथ विचार करे।[1]

कहाँ मन्त्रणा न करे ?

बृहस्पतिका मत इससे कुछ भिन्न है। इनका कहना है कि मैदानमें और जहाँ शब्दकी प्रतिध्वनि होती हो, वहाँ सिद्धिका चाहनेवाला मंत्रणा न करे।[2] महाभारतमें बताया गया है कि जहाँ मंत्रणा हो, वहाँ बौने, कुबड़े, अन्धे, लंगड़े, हिजड़े और तिर्यक् योनिवाले जीव न रहने पावें। इसका कारण मंत्र फूट जानेकी आशंकाके सिवा और क्या हो सकता है ?

मंत्र न फूटे इसके लिये बड़ी सावधानी रखी जाती थी। वल्लभदेवने यह बताया है कि किन कारणोंसे मंत्रका भेद खुल जाता है। आकार, इंगित, गति, चेष्टा, भाषण और आँख तथा मुंहकी विकृतिसे लोग मनकी बात ताड़ लेते हैं।[3] नीतिवाक्यामृतमें बताया गया है कि इंगित, आकार, मद, प्रमाद और निद्रा मंत्र भेदके पाँच कारण होते हैं। संकेत या इशारेको इंगित कहते हैं और क्रोध वा प्रसन्नतासे शरीरमें जो विकार होता है, वह आकार कहाता है। मद्यपान वा स्त्रीसंगसे उत्पन्न हर्ष मद और अचेतनता प्रमाद है। निद्रित मनुष्यके हृदयकी गतिसे भी मंत्रभेद होता है।[4] इसलिये कहा है कि मंत्रणा-के विषयमें सिद्धान्त होते ही मंत्रका अनुष्ठान करना चाहिये। शुक्रके मतसे मंत्रणा करके ही मंत्रका अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि जो ऐसा नहीं करता, उसका मंत्र उसी क्षण फूट जाता है। वह उसी प्रकार व्यर्थ होता है, जैसे प्रमादी शिष्यका मंत्र व्यर्थ हो जाता है।

मंत्र कैसे फूटता है ?

---

१ अन्तर्वेश्मनि रात्रौ वा दिवारण्ये विशोधिते।
मंत्रयेन्मंत्रिभिः सार्द्धं भावि कृत्यन्तु निर्जने ॥१२०॥ अ० १

२ निराश्रयप्रदेशे तु मंत्रं कार्यो न भूभुजा।
प्रतिशब्दो न यत्रस्यान्मंत्रसिद्धिप्रवाञ्छता ॥

३ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यन्तेऽन्तर्गतं मनः ॥

४ इङ्गिताकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥ इङ्गितमन्यथा-वृत्तिः ॥३६॥ कोपप्रसादजनिता शारीरी विकृताकारः ॥३७॥ पानस्त्रीसङ्गादि

दक्षिण भारतके मंत्री राजाको अपने नियंत्रणमें रखते थे अथवा अपने अधिकारोंका पूर्ण रूपसे उपयोग करते थे यह कहना तो कठिन है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि वहाँकी व्यवस्था मंत्रियोंके हाथ मजबूत रखती थी। चोल सम्राट् राजराज और राजेन्द्रकी आज्ञाएं ओलाय नायकम् वा प्रधान मंत्री और दूसरे अधिकारीकी स्वीकृतिके बिना कार्यान्वित नहीं हो सकती थीं और राज-प्रतिनिधि तथा ग्राम सभाओंकी स्वीकृतिसे ही चोल राजाज्ञाएँ लिखी और संरक्षित की जाती थीं। सभाकी स्वीकृतिसे ही सिंहलके राजा लोगोंको माफी (जमीन) देते और राजाज्ञाएं जारी करते थे। ह्यूनत्सांगके लिखित वर्णनसे जाना जाता है कि सम्राट् अशोककी शाहखर्ची मंत्री राधगुप्तने बहुत कम करा दी थी। इसी प्रकार श्रावस्तीके राजा विक्रमादित्यको एक मंत्रीने अत्यन्त दान-शीलतासे यह कहकर रोका था, 'महाराज, इस दानके कारण श्रीमान्की तो प्रशंसा ही होगी, परन्तु आपके मंत्रीकी प्रतिष्ठा न रहेगी; क्योंकि उसे नये कर लगाने पड़ेंगे, तब उसकी निन्दा होगी।'[1] कहीं कहीं तो सभा और मंत्री इतने प्रबल थे कि गवर्नरतककी कोई परवाह नहीं करते थे। कुशान साम्राज्यके गवर्नर रुद्रदामाको उन्होंने काठियावाड़के गिरनारकी सुदर्शन झीलकी मर-म्मतका खर्च अपने पाससे देनेके लिये लाचार किया था।

मन्त्रियोंकी प्रबलतासे प्रजाहित

कौटिल्यने मंत्रि-परिषद्की संख्या नहीं बतायी है, केवल यही कहा है कि आवश्यकतानुसार मंत्री रखने चाहिये, क्योंकि ये ही राजाकी आँखें हैं। इन्द्रकी मंत्रिपरिषद्में हजार ऋषि हैं, इसीलिये दो आँखों वाले इन्द्र सहस्राक्ष कहाते हैं।[2] मंत्रीके गुणोंके सम्बन्धमें

मंत्रीके गुण

जनितो हर्षोमदः ॥३८॥ प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥३९॥ अन्यथा चिकी-र्षितोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥४०॥ निद्रान्तरितः ॥४१॥ मंत्रिसमुद्देशः ॥

१ यो मंत्र मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
तत्क्षणात्तस्य मंत्रस्य जायते नात्र संशयः॥
यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
स तस्य व्यर्थतां यातिच्छात्रस्येव प्रमादिनः॥

२ इन्द्रस्य मंत्रिपरिषदृषीणां सहस्रम् ॥६०॥ स तच्चक्षुः ॥६१॥ तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥६२॥ अ० १ अ० १५

कौटिल्यका कहना है कि वह स्वदेशी, कुलीन, शिल्पज्ञ, आँखवाला, बुद्धिमान्, स्मृतिमान्, निपुण, वाक्पटु, प्रगल्भ, प्रतिकार और प्रतिवाद करनेमें समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेशसहिष्णु, पवित्रहृदय, मित्र-भाववाला, दृढ़ राजभक्त, शील, बल, आरोग्य तथा धैर्यशाली, निराभिमान, स्थिर स्वभाववाला, सौम्य आकृतिवाला, तथा भूमि और स्त्री आदिके विषयमें शत्रुता न रखनेवाला अमात्य होना चाहिये।[1]

पारिभाषिक शब्दोंमें अन्तर

मंत्रियोंके जो नाम और कार्य शुक्रनीतिसारसे ऊपर दिये गये हैं, उनके सिवा भी अनेक नाम प्रयुक्त होते थे। मनुस्मृतिमें अमात्यके बदले सचिव शब्द मिलता है। रामायणमें अमात्यका व्यवहार साधारण अर्थमें किया गया है और सचिव और मंत्रीमें भेद माना गया है। कौटिल्यने प्रधान मंत्रीको मंत्री कहा है और जहां वेतन निर्द्धारित किया है, वहाँ यद्यपि पुरोहितके समान ही उसका वेतन रखा है, पर उसका उल्लेख पुरोहितसे पहले किया है। अशोकका प्रधान मंत्री राधगुप्त अमात्य कहाता था, परन्तु अजातशत्रुके प्रधान मंत्रीकी पदवी पाली ग्रंथोंके अनुसार 'अग्र महामात्र' थी। गुप्तकालके प्रधान मंत्री महादण्डनायक कहाते थे।



१ जानपदोऽभिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान् प्राज्ञो धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिर्मैत्रो दृढभक्तिः शीलबलारोग्य सत्वसंयुक्तः स्तम्भचापल्यवर्जितः संप्रियो वैराणामकर्त्तेत्य-मात्यसम्पत् ॥१॥ अधि० १ अ० ६

५ अधार्मिक वा स्वतंत्र राजा

वेदोंमें जिस प्रकार धार्मिक वा नीतिमान् राजाके गीत गाये गये हैं, उसी प्रकार अनीतिमान् वा अधार्मिक राजाकी निन्दा भी की गयी है। कहा गया है कि व्यभिचारी वा अनियंत्रित राजाके राज्यमें वर्षा नहीं होती, उसे समिति योग्य नहीं समझती और न वह मित्रको ही वशमें कर सकता है।[1] अथर्ववेदके इस मंत्रमें ही नहीं, वाजसनेयी संहिता वा शुक्ल यजुर्वेदमें तो अनियंत्रित राजा की इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दोंमें निन्दा की गयी है। कहा गया है कि बड़ी चिड़ियाके सामने शकुन्तिका जैसी छोटी चिड़िया जिस प्रकार दबी रहती है, उसी प्रकार अनियंत्रित राजशक्तिसे प्रजा दबी रहती है। फिर जैसे छोटी दरार-में मोटी वस्तु घुसेड़नेसे वह छिन्न-भिन्न हो जाती है, वैसे ही अनियंत्रित राज-शक्तिके दबावसे प्रजाकी दशा होती है। अनियंत्रित राजा प्रजाको मारता है, इसलिये वह प्रजाका घातक है।[2] अनन्तर प्रजाकी उपमा यवसे और राजशक्ति की हरिणसे दी गयी है। जैसे हरिण यवको खाता है, वैसे ही अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है। इसके उपरान्त अनियंत्रित राजा शिकारी और प्रजा पुष्ट पशु बतायी गयी है। जैसे शिकारी पुष्ट पशुको देख बिना मारे नहीं छोड़ता, वैसे ही अनियंत्रित राजा प्रजापर दया नहीं करता। जिस आर्यकी रक्षिता (रखनी)

स्वतंत्र राजाकी निन्दा

---

१ नवर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥१२॥ अथर्व० ५।१९

२ यकासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥२२॥ शु० यजुर्वेद अ० २३
यकासकौ शकुन्तिकेति। विड्वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्रायवञ्चत्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥
शतपथ ब्राह्मण कांड १३ अ० २ ब्रा० ९ कं० ७

शूद्रा हो, उसके पुत्रको राजा न बनावे, क्योंकि उसका पति अर्थोपार्जनकी चिन्ता नहीं करता।[1]

राजा यदि न्याय मार्गपर चलता है, तो कामन्दकके अनुसार वह धर्म, अर्थ और काममें अपनी और अपनी प्रजाकी उन्नति करता है और विपरीत आचरण करता है, तो निश्चय ही उनका नाश करता है।[2] महाभारतमें भीष्मने इस प्रश्नका बहुत ही उचित उत्तर दिया है कि कैसे राजाको राजा कहना चाहिये। उनका मत है कि बुद्धिमान्, त्यागशील, शत्रुके दोष ढूँढ़नेमें तत्पर, स्वरूपवान्, तथा सब वर्णोंके नय और अपनय जाननेवाला, क्रियावान्, निरहंकार, शीघ्र कार्य करनेवाला, स्वभावसे ही क्रोध न करनेवाला और कार्यारम्भ करके समाप्त करनेवाला ये गुण जिस राजामें हों, वही वास्तविक राजा है। पुत्र जिस प्रकार पिताके घरमें निर्भय घूमते हैं, उसी प्रकार जिसके राज्यमें प्रजा निर्भय विचरे, वही राजा है। जिस राजाके पुरवासी और राष्ट्रवासी अपनी सम्पत्ति छिपाते न हों और नीति तथा अनीतिके ज्ञाता हों, वही राजा है। जिस राजाकी प्रजा विधिवत् पालित होकर अपने धर्ममें तत्पर रहती है और शत्रुसे संघर्षकी चिन्ता नहीं करती, दानशील है और आपसमें नहीं लड़ती, वही राजा है। जिस राजामें मिथ्या और छल तथा माया और ईर्ष्या नहीं होती, उसीको सनातन धर्मका लाभ होता है।[3]

किस राजाको राजा कहना चाहिये?

---

१ यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशुमन्यते।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनाय च ॥३०॥ शु० यजुर्वेद अ० ३०
यद्धरिणो यवमत्ति। विड्वै यवो राष्ट्रंहरिणो विशमेव राष्ट्राद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशुमन्यते तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्यजारा न पोषायधनायति। तस्माद्वैशी पुत्रं नाभिषिञ्चति॥ शतपथ ब्राह्मण कांड० १३ अ० २ ब्रा० ३ कं० ८
राष्ट्रं अस्यास्तीति राष्ट्री=मेरे लिये राष्ट्र है यह समझनेवाला।
फ्रान्सके बादशाह १४ वें लुईकी भाँति I am the state कहनेवाला।

२ न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमथ च प्रजाम्।
त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा ॥१२॥ नीतिसार सर्ग १

३ प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।

राजा ही कालका कारण है ।

कुछ लोगोंकी यह भ्रान्त धारणा देखनेमें आती है कि जैसी प्रजा होती है, वैसा ही राजा उसको मिलता है। जहांतक राजाके अत्याचारोंके सहनेका सम्बन्ध है, वहां तक तो प्रजाका दोष अवश्य माना जा सकता है। परन्तु दण्डनीतिमें तो 'यथा राजा तथा प्रजा' ही सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। महाभारतमें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है कि तुम्हें इस बातमें संशय न होना चाहिये कि समय राजाको बनाता है वा राजा समयको बनाता है, क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है। कैसे? जैसा-जैसा आचरण राजा करता है, वैसा ही वैसा प्रजा भी करती है, क्योंकि इसे वही अच्छा लगता है।[1] इसलिये जब राजा पूर्ण रूपसे दण्डनीतिका अवलम्बन करता है, तब कृतयुगकी सृष्टि होती है। कृतयुगमें धर्म ही रहता है, तनिक भी अधर्म नहीं रहता। किसी वर्णका मन अधर्ममें नहीं टिकता। निःसंशय अपूर्व अर्थकी प्राप्ति और प्राप्त अर्थकी रक्षा होती है। सब वैदिक कर्म गुणयुक्त होते हैं, ऋतुएँ सबके लिये सुखमय और नीरोग होती हैं। मनुष्योंकी वाणी, रंग और मन निर्मल होते हैं। रोग नहीं होते और न मनुष्य अल्पायु ही होते हैं। विधवाएँ नहीं होतीं और कंजूस पैदा नहीं होते। बिना जोते ही पृथ्वीसे अन्न और औषधियां उत्पन्न होती हैं तथा छाल, पत्ते, फलमूल पुष्ट होते हैं। अधर्म नहीं रहता, केवल धर्म ही रहता है। परन्तु जब राजा दण्डनीतिके तीन अंशोंका अवलम्बन करता और चौथेको छोड़ देता है, तब त्रेता युग

सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित्तया ॥२०॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनः ।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥२१॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च ।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तम ॥२२॥
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तम ॥२३॥
अगूढविभवा यस्य पौराः राष्ट्रनिवासिनः ।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तम ॥२४॥

१ यद्यदाचरते राजा तत्प्रजानांस्म रोचते ।४। शां० अ० ७५

होता है। अशुभका चतुर्थांश और शुभका तीन चतुर्थ अंश वर्त्तमान रहता है। जोतनेसे पृथ्वीसे धान्य और औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु जब राजा दण्डनीतिके अनुसार आधे ही काम करता है, तब द्वापर होता है। उस समय जोतनेसे भी पृथ्वीसे आधा ही अन्न उत्पन्न होता है। और जब राजा दण्ड-नीतिका सर्वथा-त्याग कर देता है और अपूर्वार्थ प्राप्तिके बिना प्रजा कष्ट पाती है, तब कलियुग होता है। कलियुगमें अधर्म ही रहता है। धर्म कहीं रहता ही नहीं! सब वर्णोंका मन धर्मसे हट जाता है। शूद्र भिक्षा माँगकर और ब्राह्मण सेवा करके खाते हैं। न नये अर्थका आगम होता है और न पुरानेकी रक्षा होती है। लोग वर्णसंकर हो जाते हैं। वैदिक कर्म गुणरहित होते हैं। ऋतुएँ सुखदायक नहीं होतीं और लोग रोगी रहते हैं। मनुष्योंकी वाणी, वर्ण और मनका ह्रास होता है। विधवाएँ होतीं हैं और प्रजा निष्ठुर हो जाती है। राजा जब रक्षा नहीं करता, तब रसोंका क्षय होता है। राजा ही कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगको उत्पन्न करता है।[1]

इसलिये जो राजा कृतयुगका प्रवर्त्तन करता है, वास्तवमें वही राजा कहानेयोग्य है। जो धर्मशील नहीं है, वह राजा नहीं है। इसी कारण राजा दो प्रकारके बताये गये हैं एक धर्मशील वा नीतिमान् और दूसरा अधर्मशील वा अनीतिमान्। नीतिमान् राजा तो भली-भाँति आराधना योग्य है, परन्तु अनीतिमान् दुराराध्य—कठिनाईसे आराधना योग्य होता है। जहाँ नीति और बल दोनो होते हैं, वहाँ तो सर्वतोमुखी लक्ष्मी रहती है। अनीति राजाका बड़ा भारी दोष है, जो नित्य ही भयावह है। वह शत्रुका बढ़ानेवाला और बलका नाश करनेवाला होता है। जो राजा नीतिका त्याग कर स्वतन्त्र हो जाता है, वह

नीतिमान् राजा ही सच्चा राजा है

---

1 कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम् ॥७९॥
दण्डनीत्या यथा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते।
तदा कृत युगं नाम काल सृष्टं प्रवर्त्तते ॥८०॥
ततः कृत् युगे धर्मो नधार्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मो रमते मनः ॥८१॥
योगक्षेमः प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नाल संशयः।

दुःखका भागी होता है। स्वतन्त्र राजाकी सेवा करना तलवारकी धार चाटनेके समान है।[1]

वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्युत गुणान्युत ॥८२॥
ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः।
प्रसीदन्ति नराणां स्वरवर्णमनांसि च ॥८३॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥८४॥
अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥८५॥
नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम्।
इतिकार्त्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥८६॥
दण्डनीत्या यथा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ॥८७॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥८८॥
अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीतिधर्ममनुवर्त्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते ॥८९॥
अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशाननुवर्त्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्यर्द्धफला तथा ॥९०॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजा क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः ॥९१॥
कलावधर्मो भूयिष्टं धर्मो भवति न क्वचित्।
सर्वेषामेव धर्माणां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥९२॥
शूद्रा भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया।
योगक्षेमश्च नाशश्च वर्त्तते वर्णसङ्करः ॥९३॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत।
ऋतवो न सुखास्सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥९४॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥९५॥

[1] स्वाराध्यो नीतिमान् राजा दुराराध्यो त्वनीतिमान्।

धार्मिक राजाको ही यथार्थ वा देवांश राजा कहते हैं। महाभारतमें कहा गया है कि जिसमें धर्म विराजता है, वही राजा कहाता है।[1] परन्तु शुक्रनीतिसार स्पष्ट ही कहता है कि जो धार्मिक राजा है, वही देवांश राजा है और जो अधार्मिक राजा होता है, वह राक्षसांश राजा माना जाता है। वह धर्मलोपी और प्रजा-पीड़क होता है। जो राजा दमनशील, शूर तथा शस्त्रास्त्रके व्यवहारमें कुशल, शत्रुका नाश करनेवाला, अस्वतंत्र, बुद्धिमान्, ज्ञानविज्ञान-युक्त, नीचोंसे रहित, दीर्घदर्शी, वृद्धसेवी, नीतिनिपुण और गुणियोंसे युक्त हो, वही राजा देवांश है। इसके विपरीत बातें जिसमें पायी जायं, वह राक्षसांश राजा नरकगामी होता है।[2]

देवांश और राक्षांश राजा

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके आधारपर भी शुक्रनीतिसारने राजाओंके उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन और भेद किये हैं। जो राजा स्वधर्मनिष्ठ, प्रजाका परिपालक, सब यज्ञोंका कर्त्ता, विषयोंमें अनासक्त, शत्रु दलका जीतनेवाला, दानवीर, क्षमाशील, शूर और निर्लोभ होता है, वह सात्विक राजा देहान्त होनेपर मोक्ष पाता है। इसके विपरीत तामस राजा होता है। वह निर्दय, हिंसाप्रिय, मदोन्मत्त तथा सत्यशून्य होता है और

गुणानुसार राजाओंके भेद शुक्रनीतिसारके मतसे

यत्र नीतिबले चोभे तत्र श्रीस्सर्वतोमुखी ॥१७॥
अनीतिरेव संछिद्रं राज्ञो नित्यं भयावहम्।
शत्रुसंवर्द्धनं प्रोक्तं बलह्रासकरम्महत् ॥१५॥
नीतिं त्यक्त्वा वर्त्तते यः स्वतंत्रः स हि दुःखभाक्।
स्वतंत्र प्रभुसेवा तु ह्यसिधारावलेहनम् ॥१६॥ शुक्रनीतिसार अ० १

१ यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते ॥१४॥ शां० अ० ६०

२ यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत् ॥७०॥ अ० १
दान्तः शूरश्च शस्त्रास्त्रकुशलो ऽरिपूदनः।
अस्वतंत्रश्चमेधावी ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥८४॥
नीचहीनो दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक्।
गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः ॥८५॥
विपरीतस्तु रक्षोंशः स वै नरकभाजनः।अ० १

अन्तमें नरक जाता है। जो पाखंडी, लोभी, विषयी, ठग, शठ, भीतर कुछ और बाहर कुछ, कलहप्रिय, नीचसंगी, स्वेच्छाचारी, नीतिहीन और पेटका कपटी होता है, वह रजोगुणी वा राजस राजा होता है। और भी, स्वधर्माचरण-त्यागी, निर्दय, परपीड़क, प्रचण्ड, नित्यहिंसक और अविवेकी राजा म्लेच्छ होता है। जो राजा झूठे गुप्तचरको दण्ड नहीं देता, वह प्रजाका धन और प्राण हरण करता है।[१]

स्वतंत्र राजा राजा नहीं है।

जो मनमाना होता है और मंत्रियोंकी सम्मतिसे कार्य नहीं करता, वह स्वतंत्र राजा कहाता है। यह स्वतंत्रता बड़े अनर्थका कारण होती है, क्योंकि शीघ्र ही राष्ट्र फूट जाता है और प्रकृति भी राजाका साथ छोड़ देती है। इस प्रकार वह महापापी राजा समझा जाने लगता है। महापापी राजाके राज्यमें लोग अधर्मी हो जाते हैं। समयपर न तो वर्षा होती है और न भूमि बहुत फल-वाली रह जाती है।[२] नारदका वचन है कि जो राजा स्वतंत्र हो जाता है और

---

१ यो हि स्वधर्मनिरतः प्रजानां परिपालकः ।
यष्टा च सर्व यज्ञानां जेता शत्रुगणस्य च ॥२०॥
दानशौण्डः क्षमी शूरो निःस्पृहो विषयेष्वपि ।
विरक्तः सात्विको सो हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात् ॥२१॥
विपरीतस्तु तामसः स्यात् सोऽन्ते नरकभाजनः ।
निर्घृणश्च मदोन्मत्तो हिंसकः सत्यवर्जितः ॥२२॥
राजसो दाम्भिको लोभी विषयी वञ्चकश्शठः ।
मनसान्यच्चवचसा कर्मणा कलहप्रियः ॥२३॥
नीचप्रियः स्वतंत्रश्च नीतिहीनश्छलान्तरः ।
त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीड़काः ॥२४॥
चण्डाश्च हिंसका नित्यं म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः ।
असत्यवादिनं गूढ़चारं नैव च शास्ति यः ।
स नृपो म्लेच्छ इत्युक्तः प्रजाप्राणधनापहः ॥२२६॥ अ० १

२ प्रभुः स्वातंत्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते ।
भिन्नराष्ट्रः भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च ॥४॥ अ० २
महापापी यत्र राजा तत्राधर्मपरो जनः ।

मंत्रियोंसे परामर्श किये बिना आपही काम करता है, वह निश्चय ही राज्यका नाश करता है।[1] परन्तु शुक्रनीतिसारने तो यहांतक कह दिया है कि जो राजा मंत्रियोंके मुँहसे हिताहित नहीं सुनता, वह प्रजाका धन हरण करनेवाला राजाके रूपमें डाकू है।[2] इसलिये जबतक राजा धर्मशील रहता है, नीति धर्मके अनुसार प्रजाके साथ व्यवहार करता है, तभीतक वह राजा है; अन्यथा नहीं। इससे विपरीत व्यवहार होनेसे प्रजा, राष्ट्र और राजा तीनो नष्ट होते हैं।[3]

सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस मात्स्यन्यायको नष्ट करनेके लिये राजाकी नियुक्ति होती है, वह यदि बना ही रहा, तो फिर उसका प्रयोजन ही क्या? परन्तु जब राजा दण्डनीयको दण्ड नहीं देता अथवा उसे आवश्यकसे अधिक दण्ड देता है,[4] वहां मात्स्यन्याय होता है। इसलिये महाभारतमें राजाको बताया गया है कि जो राजा बराबर क्षमा ही किया करता है, उसके सिरपर लोग हाथीके महावतकी तरह चढ़ते हैं। इससे राजाको चाहिये कि वह नित्य न तो मृदु हो और न तीक्ष्ण हो, वरञ्च वसन्त ऋतुके सूर्यकी भांति आचरण रखे, जो न शीत करता है और न पसीना ही निकालता है।[5]

राजाका व्यवहार प्रजाके साथ कैसा हो?

न कालवर्षी पर्जन्यस्तत्र भूमिर्महाफला ॥
जायते राष्ट्रहासश्च शत्रुवृद्धिर्धनक्षयः। शु० नी० अ० ४

१ यः स्वतंत्रो भवेद्राजा सचिवान्नैव पृच्छति।
स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राजा नाशयेद् ध्रुवम् ॥

२ हिताहितं न शृणोति राजा मंत्रिमुखाच्च यः ॥२४७॥
स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः। अ० २

३ यावत्तु धर्मशीलः स्यात्स नृपस्तावदेव हि।
अन्यथा नश्यते लोको राड् नृपोऽपि विनश्यति ॥११०॥ अ० ४

४ दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्त्तितः ॥गुरुः

५ क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्येव शिरं एवारुरुक्षति ॥३९॥
तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वसन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ॥४०॥ शां० अ० ५६

और भी कुछ कारण हैं जिनसे राजा और प्रजामें अनबन हो जाती है और प्रजा राजाको त्याग देती है। ये हैं राजाकी कृपणता, उसके द्वारा प्रजाका अपमान, प्रजासे उसका छल, परुषवचन और प्रबल दण्ड।[1] इस स्थितिमें मंत्रियोंका विशेष कर्त्तव्य है। वह यह कि वे राजाको डांट दें कि नित्य अनुचित और प्रबल दण्ड देनेसे राजाकी रक्षा नहीं हो सकती और राजा-प्रजाका हित जिन कामोंसे हो, वे करावें और जिनसे न हो, वे न करावें। परन्तु यदि राजा इसपर भी न माने और अधर्मशील बना ही रहे, तो प्रजा उसके अतिबली धर्मशील शत्रुके आश्रयसे उसे डरावे।[2]

राजा प्रजामें अनबनके कारण

राजा राज्यकार्यके सिवा अदण्ड्य नहीं है। वह तभीतक अदण्ड्य है, जबतक धर्मशील है। परन्तु जब अधर्मशील होकर अपराध करता है, तब अधिक दण्डका भागी होता है। मनुस्मृतिमें कहा गया है जिस अपराधके लिये साधारण प्रजापर एक कार्षापण दण्ड लगाया जाता है, उसके लिये राजापर एक सहस्र कार्षापण लगाना चाहिये।[3]

अधर्मशील राजा ही दण्ड्य है।

रामायणमें वाल्मीकि मुनिने राजाको प्रजाकी अकाल मृत्युके लिये भी दोषी ठहराया है। कहा है कि यथारीति पालित न होनेसे प्रजा राजाके दोषसे विपत्तिमें फँसती है और राजाके अनुचित आचरणसे प्रजा-

---

१ अदानेनापमानेन छलाच्च कटुवाक्यतः।
राज्ञः प्रबलदण्डेन नृपं मुञ्चति वै प्रजा॥१२६॥अ० १

२ अन्यथादण्डकं भूपं नित्यं प्रबलदण्डकम्॥२६२॥
निगृह्य बोधयेत्सम्यगेकान्ते राज्यगुप्तये।
हितं राज्ञश्च लोकानां यदहितं तन्न कारयेत्॥२६३॥ अ० २
अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः।
धर्मशीलाति बलवद्रिपोराश्रयतः सदा॥१०६॥ शु० नीतिसार अ० ४

३ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यो प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥३३६॥ अ० ८

की अकाल मृत्यु होती है।[1] इसमें अनुचित कुछ भी नहीं है, क्योंकि जब प्रजाका स्वास्थ्य ठीक नहीं होता, तभी मृत्यु-संख्या बढ़ती है और प्रजा अकालमें जवानीमें ही मर जाती है। राजाको प्रजा जिन कामोंके लिये चुनती है, उनमें स्वास्थ्यरक्षा भी एक है, इसलिये अकाल मृत्युके लिये राजाको उत्तरदायी ठहराना ठीक ही है। याज्ञवल्क्य एक और कामके लिये भी राजाको उत्तरदाता ठहराते हैं। वह यह कि जब राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता और अरक्षित प्रजा जब पाप करती है, तब उस पापका आधा भाग राजाका होता है, क्योंकि उससे वह कर लेता है।[2] प्रजा राजाको इसीलिये कर देती है कि वह उसकी रक्षा करेगा और जब वह रक्षा नहीं करता, तब वेतन लेकर भी काम न करनेवालेकीसी उसकी स्थिति हो जाती है। इसके साथ ही यदि वह राजा बिना आगा-पीछा सोचे मोह वा अज्ञानके कारण अपने राष्ट्रका कर्षण वा उत्पीड़न करता है, तो वह शीघ्र राज्यसे ही नहीं भ्रष्ट हो जाता, प्रत्युत् जीवन और बान्धवोंसे भी चला जाता है।[3] ऐसा ही अधार्मिक राजा गुणियों, नीति और बल वा सेनाका द्वेषी होता है। ऐसे राष्ट्र-विनाशक राजाको प्रजा त्याग दे और उसकी जगह पुरोहित उसीके कुलके गुणयुक्त मनुष्यको प्रकृति-से परामर्श करके राज्य रक्षाके लिये सिंहासनपर बैठा दे।[4] कौटिल्य

प्रजाकी अकाल-मृत्यु और उसके पापोंका उत्तरदाता राजा है।

---

१ राजदोषै र्विपद्यन्ते प्रजाह्यविधिपालिताः।
असद्वृत्ते हि नृपतौ अकाले म्रियते जनः ॥१६॥ सर्ग ८६ उत्तरकाण्ड

२ अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्बिषं प्रजाः।
तस्मात्तु नृपतेरर्द्धं यस्मात् गृह्णात्यसौ करान् ॥१॥

३ मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥ मनुस्मृति अ० ७

४ गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोप्यधार्मिकः ॥२६४॥
नृपो यदि भवेत्तन्तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्।
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः ॥२६५॥
प्रकृत्यनुमतिं कृत्वा स्थापयेद् राज्यगुप्तये। शु० नीतिसार अ० २

जैसे साम्राज्यवादीको भी यह अवस्था सह्य न थी, इसलिये उन्होंने कहा कि प्रकृतिका कोप सब कोपोंसे बड़ा है।[1]

अधार्मिक राजा के लिए दण्ड-व्यवस्था

परन्तु महाभारतको इतनेसे ही सन्तोष नहीं हुआ। उसकी दृष्टिमें राजाका प्रजाकी रक्षा न करना, उत्पीड़न द्वारा उसे मारना, धर्मका लोप करना और नेतृत्व न करना ऐसे अपराध हैं, जिनके लिये भीष्म राजाको कठोरसे कठोर दण्ड देनेको कहते हैं। उनका कहना है कि ऐसे उत्पीड़क राजाको प्रजा सन्नद्ध होकर मार डाले। यही नहीं, वे और भी कहते हैं कि जो राजा यह कहकर कि मैं रक्षा करूँगा, प्रजाकी रक्षा नहीं करता, प्रजाको चाहिये कि एकत्र होकर उसे पागल कुत्तेकी तरह मार डाले।[2]

ऐतिहासिक राजाओं को दण्ड

महाभारतके इस उपदेशके अनुसार प्रायः काम नहीं हुआ, क्योंकि प्रजा दण्डनीतिकी उपेक्षा करती थी। प्राचीन कालमें वेन, नहुष, सुदास, यावनि, सुमुख और निमि राजा अविनयके कारण नष्ट हुए थे सही, परन्तु ऐतिहासिक युगमें अधार्मिक राजाओंको इस रूपमें अपने पापोंका प्रायश्चित्त करना पड़ा। ईस्वी सन्से ६०२ वर्ष पहले मगधके अधार्मिक राजा नागदशकको प्रजाने ही निकाल बाहर किया था, क्योंकि इसने अपने पिताको मार डाला था। प्रजाने नागदशकके वंशको पितृघाती ठहराया था, क्योंकि इसी वंशके राजा अजातशत्रुके पुत्र उदयभट्टकोने (उदयभद्रकने) विश्वासघातपूर्वक अपने पिताका वध किया था। उदयभद्रककी जगह प्रजाने ही शिशुनागको मगधकी गद्दीपर बैठाया था। ईस्वी सन्से पहले १९१ से १८५ वर्ष तक अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथने राज्य किया था, परन्तु प्रतिज्ञादुर्बल होनेके कारण मार डाला गया था।

१　प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्।

२　अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥३२॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥३३॥
अनुशासन पर्व अ० ६१

राजाओंके अधार्मिक हो जाने और प्रजाके अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों अथवा दण्डनीतिका विस्मरण हो जानेके कारण प्रजा उनके अत्याचारोंका बहुत प्रतिकार न कर सकी। राजा और प्रजा दोनोंने समझ लिया कि राज्यका स्वामी राजा है, इसलिये राजा मनमानी करने लगा और प्रजा अपनी भ्रान्त धारणाके कारण उसे सहती रही। यदि वह याद रखती कि राज्य प्रजाका होता है, राजा उसका रक्षक-मात्र रहता है और इस रक्षाके लिये करके रूपमें वेतन पाता है, तो यह दशा न होने पाती और सम्भवतः देश भी परतंत्र न होता, क्योंकि उस समय देशकी रक्षा करना राजा और उसकी सेनाका ही कर्त्तव्य न रहता, प्रत्युत् प्रजाका भी होता और इससे किसी आक्रमणकारीको हमारे ऊपर चढ़ाई करनेका साहस ही न होता।

राजा की मनमानीका कुफल

---

६ मंत्रियोंकी शासन-व्यवस्था

हिन्दू राजनीतिके किसी आचार्यने राजाको स्वतंत्र नहीं माना और सभी-ने उसे मंत्रियोंके अनुसार चलनेको कहा है। शुक्रनीतिसारका तो कहना है कि राजा चाहे सब विद्याओंमें कुशल और सुमंत्रका ज्ञाता ही क्यों न हो, परंतु मंत्रियोंके बिना अकेले कभी अर्थका चिंता वा विचार न करे। सदा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति और सभासदोंके मतानुसार कार्य करे; परन्तु बुद्धिमान् राजा कभी अपनी ही बुद्धिसे कार्य न करे। कारण यह कि जब राजा मनमानी करने लगता है, तब अनर्थ कर डालता है।[1] यही मत नारदका भी है। महाभारतमें भी राजाकी परतंत्रता ही घोषित की गयी है। कहा गया है कि राजा सदा पर-तंत्र है; सन्धि विग्रहमें उसकी स्वतंत्रता कहाँ है? मंत्रणा अमात्योंके साथ होती है, उसकी स्वतंत्रता कहाँ है?[2]

राजा सदा परतंत्र ही होता है

कौटिल्यने अमात्य और मंत्रीमें भेद माना है। उनका मत है कि कार्य करनेकी शक्ति और बुद्धि आदि गुण देखकर तथा देशकालका विचार करके राजा सहाध्यायीको अमात्य तो बनावे, पर मंत्री न नियुक्त करे।[3] अवश्य ही मंत्रीसे प्रधान मंत्री ही समझना चाहिये, जो बहुधा सान्धिविग्रहिक भी होता था। परन्तु क्या अमात्य से मंत्रणा नहीं की जाती थी? क्या वह मंत्रिपरिषद्का अंग

मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद्में भेद

---

१ सर्वं विद्यासुकुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित्
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥२॥
सभ्याधिकारि-प्रकृति-सभासत्सुमते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥३॥
प्रभु स्वातंत्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नाप्रकृतिरेवच ॥४॥ अ० २

२ परतंत्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते।
सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतंत्रता? ॥१२८॥
मंत्रे चामात्य सहितो कुतस्तस्य स्वतंत्रता? ॥१२९॥ शां० अ० ३२०

३ विभज्यमात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मंत्रिणः ॥२२॥ अधि० १ अ० ८

नहीं होता था ? वास्तवमें मंत्रणाके दो प्रकार थे, एक अंतरङ्ग मंत्रणा और दूसरी बहिरङ्ग मंत्रणा। मंत्रिपरिषद्‌में राज्यके संबंधके सभी विषयोंपर विचार होता था, परन्तु गुप्त मंत्रणाके लिये अलग व्यवस्था थी। जैसे इंगलैंडके सभी मंत्री कैबिनेटके मेम्बर नहीं होते, वैसे ही मंत्रिपरिषद्‌के सभी सदस्योंसे अंतरङ्ग परामर्श वा मंत्रणा नहीं होती थी। अमात्य मंत्रि-परिषद्‌का सदस्य तो होता था, पर अन्तरङ्ग सभामें नहीं जा सकता था यही कौटिल्यकी व्यवस्थासे सिद्ध होता है। अथवा मंत्रिपरिषद्‌में मंत्री आपसमें राजकार्यपर विचार करते होंगे और मंत्रिमण्डलमें राजा मंत्रियोंके साथ मंत्रणा करता होगा। अर्थात् मंत्रि-मंडल कैबिनेट और मंत्रिपरिषद् कौंसिल ऑव मिनिस्टर्स समझी जाती होगी।

मनुस्मृतिमें पुरोहितका विशेष उल्लेख नहीं है। परन्तु जातकों और धर्म सूत्रोंमें बताया गया है कि वह धर्म और नीतिका ज्ञाता होता था। दूतको
मनुस्मृतिमें आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया गया है,
युवराज भी मंत्री क्योंकि उसके अनुसार इसके अधीन सन्धि और विग्रह
ही होता था। होता था। परन्तु 'दूत और चर व्यवस्था' शीर्षक अध्यायसे
जाना जायगा कि दूतकी शक्तिके बाहरकी यह बात थी।
दूतकी सूचनापर राजा सन्धि वा विग्रहका बहुत कुछ निश्चय करता होगा सही, पर उसका वास्तविक निर्णायक सान्धि-विग्रहिक वा परराष्ट्रसचिव ही होता होगा। मनुस्मृतिकी बात यदि मान लें, तो दूतको दूत नहीं, परराष्ट्रसचिव समझना होगा। शुक्रनीतिसारमें अर्थमंत्रीका नाम सुमंत्र बताया गया है, परंतु गोविन्दराज उसे 'अर्थसंचयकृत' कहते हैं। अर्थशास्त्रमें यह काम समाहर्त्ता और सन्निधाताके अधीन रखा गया है। सेनापति अवश्य युद्धमंत्री होगा। शुक्रनीतिसारमें वह सचिव बताया गया है। युवराजकी गिनती यद्यपि मंत्रियों-में नहीं होती, तथापि चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें शासक-मंडलमें उसका चौथा स्थान था। वैदिक साहित्यमें युवराज शब्द नहीं मिलता, क्योंकि उस समय-तक तो वंशानुक्रमके अनुसार राजघरानोंकी स्थापना ही नहीं हुई थी। परन्तु वाल्मीकिने रामायणमें और कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें उसको महत्त्व दिया है और शुक्रनीतिसार तो इस प्रकार युवराज बनानेको कहता है, मानो उसके बिना काम ही न चलता हो। वह कहता है कि राजा अपने औरस पुत्र, छोटे भाई, चाचा वा बड़े भाईके बेटे, पुत्र वा पुत्र बनाये हुए दत्तकको युवराज बनावे। इनके अभावमें नाती वा दौहित्र वा अपने किसी प्रियको युवराजपद दे, क्योंकि युव-

राज और मंत्रियोंके बिना राजा बाहु, कानों और नेत्रोंसे हीन होता है।[1] अशोकका पुत्र कुणाल तो तक्षशिलाका शासक था, परन्तु पौत्र सम्प्रदि युवराज था। इससे जान पड़ता है कि मौर्योंके समयमें युवराजका अभिषेक आवश्यक समझा जाने लगा था। मंत्री प्रधान मंत्री ही था, क्योंकि जहाँ कौटिल्यने अधिकारियोंका वेतन निश्चित किया है, वहाँ मन्त्री, पुरोहित, राजमहिषी और राजमाताको एकसा वेतन पानेवालोंमें रखा है तथा मन्त्रिपरिषद्‌का वेतन मन्त्रीके वेतनसे बहुत कम निर्धारित किया है। इससे भी मन्त्री और मंत्रिपरिषद्‌के सदस्योंमें अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

केवल मंत्रियोंसे ही राजकार्य नहीं चल सकता, इसलिये उनसे नीचे कई अन्य कर्मचारी रखे जाते थे। ये दो प्रकारके होते थे, एक उपयुक्त और दूसरे युक्त। उपयुक्त तो राज्यके बड़े अधिकारी (official) उपयुक्त और युक्त होते थे और छोटे अधिकारी युक्त वा अफिसर कहाते थे। इन्हीको पिछले समयमें कदाचित् तीर्थ कहने लगे हों। उपयुक्त ही विभागोंके अध्यक्ष भी होते थे।

मंत्रणाके दो प्रकार थे। जो मंत्री राजधानी वा पुरमें उपस्थित रहते थे, उनसे तो साथ बैठकर मंत्रणा कर ली जाती थी और बहुमतसे जो सिद्धान्त होता था, उसीके अनुसार काम होता था। परन्तु राजाका काम मंत्रियोंका निर्णय स्वीकार करना भर था। जो मंत्री पुरमें नहीं होते थे, बाहर होते थे अथवा आ नहीं सकते थे, उनसे पत्रद्वारा मंत्रणा की जाती थी। इसके सिवा नित्यके शासन कार्यके लिये मंत्रिपरिषद्‌का अधिवेशन नहीं होता था। किसी विभागके मंत्रीके सामने कोई

---

१ बाहुकर्णाक्षहीनः स्याद्विना ताभ्यामतो नृपः।
योजयेच्चिन्तयित्वा तौ महानाशाय चान्यथा ॥१३॥
मुद्रां विनाखिलं राजकृत्यकर्तुं क्षमे सदा।
कल्पयेद्युवराजार्थमौरसं धर्मपत्निजम् ॥१४॥
स्वकनिष्ठं पितृव्यं वानुजं वाग्रजसम्भवम्।
पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ॥१५॥
क्रमादभावे दौहित्रं स्वस्त्रीयं वा नियोजयेत्।
स्वहितायापि मनसा नैतान्सङ्कर्षयेत्क्वचित् ॥१६॥ अ० २

प्रश्न आता था, तो वह अन्य मंत्रियोंको अपना मत लिखकर भेज देता था और वे भी उस विषयपर अपना मत लिख दिया करते थे। अंतमें जब वह राजाके हाथमें पहुँचता था, तब उसपर सबके अनुकूल मत देखकर वह उसे स्वीकार कर लेता था और उस पर 'स्वीकृत' लिख देता था। इस प्रकार वह राजा और मंत्रिपरिषद् दोनोका निर्णय समझा जाता था। शुक्रनीतिसारमें विशद रूप से इस व्यवस्थाका जो वर्णन मिलता है, उससे जाना जाता है कि पहले मंत्री वा प्रधानमंत्री, प्राड्विवाक, पण्डित और दूत लेख वा प्रस्तावको देखकर यदि अनुकूल समझते तो उसपर लिखते 'स्वाविरुद्ध लेख्यं' अर्थात् जो लेख्य वा प्रस्ताव है, वह हमारे प्रतिकूल नहीं है। अनन्तर अमात्यके सामने जाता, तो यह लिखता 'साधु लिखितम्' (बहुत ठीक) और फिर सुमन्त्र लिखता 'सम्यग् विचारितं' (भलीभाँति विचार किया)। तत्पश्चात् प्रधान लिखता 'सत्यं' (यथार्थ) और प्रतिनिधि लिखता 'अङ्गीकर्त्तुं योग्यं' (अङ्गीकार करने योग्य है), युवराज स्वयं लिखता 'अङ्गीकर्त्तव्यम्' (अंगीकार करने योग्य है)। इसके पश्चात् जब पुरोहित देखता, तो वह लिखता 'लेख्यं स्वाभिमतं चैतत्' (यह प्रस्ताव मुझे पसन्द है)। मतके नीचे हस्ताक्षर भरकर देना यथेष्ट नहीं समझा जाता था, क्योंकि यह भी लिखा है कि सब अपने अपने लेख वा मतके अंतमें अपनी अपनी मुद्रा वा मुहर लगा दें। इसके बाद वह राजाके पास जाय और वह उसपर 'अङ्गीकृतं' लिखकर अपनी मुहर लगा दे। यदि अन्य कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण राजा भलीभाँति न देख सके, तो युवराजादि उसका मत लिख दें। तदुपरान्त सब मंत्री मिलकर अपनी-अपनी मुहर लगाकर लिखें और राजा भलीभाँति देखनेमें अक्षम हो तो लिख दे 'दृष्टम्' (देखा)।[1] इससे स्पष्ट होता है कि मंत्रियोंका मत स्वीकार करने के सिवा राजाके लिये कोई गति ही नहीं थी। इसमें कोई भूलचूक न हो

मन्त्रणा कैसे की जाती थी?

---

१ लेखानुरूपे कुर्याद्धि दृष्ट्वा लेख्यं विचार्य च ॥३५४॥
मंत्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूत संज्ञकः।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥३५५॥
अमात्यः साधु लिखितमस्त्येतत्प्राग् लिखेदयम्।
सम्यग् विचारितमिति सुमंत्रो विलिखेत्ततः ॥३५६॥

और किसीको शिकायत न रहे कि मैंने ध्यान नहीं दिया और जल्दीमें सही कर दी, इसलिये मंत्री और राजाके सामने दुबारा वह प्रस्ताव रखा जाता था और जब वह दूसरी बार भी पास हो जाता था, तब उसके अनुसार कार्य होता था।

जिसमें मंत्रियोंके जाने बिना कोई काम न हो इसलिये शुक्रनीतिसारमें कहा गया है कि राजा बिना लिखे किसी कार्यके करनेकी आज्ञा न दे और जो राजा बिना लिखे आज्ञा देता है और जो कर्मचारी बिना लिखी आज्ञा पाये काम करता है, वे दोनो चोर हैं। यही नहीं, राजा स्वतन्त्र नहीं, मन्त्रितन्त्र है यह दिखानेको शुक्रनीतिसारमें यह भी लिखा है कि राजाके सेवक भी मंत्रीकी मर्जीसे ही रखे जायँ। यह सिद्धान्त पुराना है, क्योंकि आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें लिखा है कि यदि मंत्री विरोध करें तो राजा ब्राह्मणोंको भी दान न दे। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदानसे जाना जाता है कि मंत्रियोंने सचमुच राजाको स्वेच्छासे दान करनेसे रोक दिया था। जब सम्राट् अशोकने बौद्ध सङ्घ-कुक्कुटाराम विहारको फिर दान देना चाहा, तब अशोकके सुमंत्र राधगुप्तने उसे रोका। इसने अशोकके युवराज सम्पदिसे कहा कि महाराज अशोक स्वल्पकालके लिये राजा हैं। वे कुक्कुटाराममें धन भेज रहे हैं। कोश ही राजशक्ति है। इसलिये उन्हें रोकना चाहिये।

मन्त्रियोंके अधिकारोंसे राजाके अधिकार मर्यादित हुए।

सत्यं यथार्थमितिच प्रधानश्च लिखेत्स्वयम्।
अङ्गीकर्त्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधि र्लिखेत् ॥२५७॥
अङ्गीकर्त्तव्यमिति च युवराजो विलिखेत्स्वयम्।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतद्विलिखेच्च पुरोहितः ॥२५८
स्वस्व मुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि।
अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥२५९
कार्यान्तरस्याकुलत्वात्सम्यग् द्रष्टुं न शक्यते।
युवराजादिभिर्लेख्यं तदानेन च दर्शितम् ॥२६०॥
समुद्रं विलिखेयुर्वै सर्वे मंत्रिगणास्ततः।
राजा दृष्टमिति लिखेद्द्राक् सम्यग्दर्शनाक्षमः ॥२६१॥ अ० २

1 भृत्यानामनुपरोधेन क्षेत्रं वित्तञ्च ददद्ब्राह्मणेभ्यो यथार्हमनन्ताँल्लोकानभिजयति। २।१०।२६।१

सम्पदिने भांडागारिक वा कोशाध्यक्षको धन देनेसे रोक दिया। इसपर अशोकने बहुत घबराकर पौरों और मंत्रियोंकी सभा बुलायी और पूछा कि इस समय कौन पृथिवीपति है। इसपर प्रधान मंत्रीने राजाके आसनके पास जाकर उसे प्रणाम करके कहा, 'महाराज, श्रीमान् ही पृथिवीपति हैं।' यह सुन आंसू बहाते हुए महाराज अशोकने कहा कि 'दाक्षिण्य-शिष्टाचारके कारण झूठ क्यों कहते हो? हम तो भ्रष्टाधिराज्य हैं।'[1] इससे सिद्ध होता है कि अशोकके समयतक मंत्रियोंकी इच्छाके विरूद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता था।

इसी प्रसङ्गमें एक बात और ध्यान देने योग्य है और वह यह कि राजा कभी राज्यका स्वामी नहीं माना जाता था। इसीलिये मंत्रियोंकी अनुमतिके बिना वह भूमि, धन आदिका दान नहीं कर सकता था।

राजा स्वामी किस बातका ?

प्रश्न किया गया है कि यदि राज चक्रवर्त्ती हो, क्या तो भी दान नहीं कर सकता? इसका उत्तर यह मिला कि चक्रवर्त्तित्वसे उसका उत्तरदायित्व बढ़ता है, पर दानकी शक्ति नहीं बढ़ती। मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) नामक बौद्ध ग्रन्थमें कहा गया है कि राजाके अधिकार सङ्कुचित हैं। एकपण जातकमें लिखा है कि जब वहांके राजाकी यक्षिणी रानीने राजासे कहा कि समस्त राज्यके ऊपर मुझे स्वामित्व दे दीजिये, तो उसने उत्तर दिया, 'भद्रे ये सकल राष्ट्रवासी मेरे कुछ नहीं होते और न मैं उनका स्वामी ही हूँ। परन्तु जो कोपसे अकर्त्तव्य करते हैं, मैं उनको दण्ड देने भरके लिये स्वामी हूँ। इसलिये तुम्हें समस्त राष्ट्रका ईश्वरत्व नहीं दे सकता।'[2]

---

१ तस्मिन्समये कुनालस्य सम्पदि नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्। कुमार, अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुक्कुटारामं प्रेष्यते, कोशबलिनश्च राजानो, निवारितव्यः। यावत् कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः। अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च सन्निपात्य कथयति। कः साम्प्रं पृथिव्यामीश्वरः? ततो अमात्य उत्थायासनाद्येन राजाशोकस्तेनांजलिं प्रणम्योवाच। देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजा शोकः साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच, 'दाक्षिण्यादनृतं हि किं कथयथ, भ्रष्टाधिराज्यावयम्।' दिव्यावदान पृ० ४३०

२ भद्दे मय्ह सकल रट्ठवासिनो न किञ्चि होन्ति नाहं तेसं सामिको ये पन

दिव्यावदानके उल्लिखित वर्णनका समर्थन अशोकके शिलालेखसे भी होता है। अशोकने एक बार अपने 'सावकं' (घोषणा वा उपदेश) और 'दायकं'के (दानके) विषयमें आज्ञा प्रचारित की, परन्तु 'परिसा' वा मंत्रिपरिषद्ने विचारकर इसे एक कोने रख दिया। इसपर राजाने आज्ञा दी कि जब मेरी मौखिक आज्ञा रद्द कर दी जाय, तब मुझे उसकी सूचना दे दी जाय।'[1] इससे स्पष्ट होता है कि मंत्री उस समय राजासे प्रबल थे। कदाचित् मंत्रियोंका महत्त्व समझकर ही भारद्वाज द्रोणने राजासे बढ़कर मंत्रियोंको बताया है। एक प्रश्न था कि राजा और मंत्रीमें किसका व्यसन अधिक हानिकारक है। गुणोंका विपरीत भाव वा अभाव व्यसन कहाता है। कामन्दकका कहना है कि मनुष्य जिस बड़े इष्ट अर्थसे भ्रष्ट हो जाता है, वह व्यसन कहाता है।[2] दुर्गुणोंके कारण अथवा गुणोंके अभावसे मनुष्यका इष्ट अर्थसे भ्रष्ट होना स्वाभाविक है। प्रश्न हुआ कि यदि राजामें गुणोंका अभाव और दुर्गुणोंका सद्भाव हो, तो उससे राष्ट्रकी अधिक हानि होती है या मंत्रियोंमें होनेसे? भारद्वाजने मंत्रीका व्यसन इसलिये गर्हित बताया है कि उसके अधिकारमें (अ) मंत्र, (आ) मंत्रफलकी प्राप्ति, (इ) कार्यका अनुष्ठान, (ई) आय-व्ययका कार्य, (उ) सेना और उसका सञ्चालन, (ऊ) शत्रु और वनस्थ जातियों से रक्षाको व्यवस्था, (ए) राज्यरक्षा, (ऐ) दोषोंका प्रतिकार तथा (ओ) राजकुमारोंकी रक्षा और पदोंपर उनकी नियुक्ति है।[3] कौटिल्यने राजाका व्यसन इसलिये गरीय ठहराया है कि राजाका जैसा शील होता है, प्रकृतिका भी वैसा

राजाका व्यसन अधिक गरीय है वा मंत्रीका?

राजानं कोपेत्वा अकत्तब्बं करोन्ति ते सञ्जेत्वाहं सामिको ति इमना कारणेन सक्का तुम्हं सकलं रट्ठे इस्सरियञ्च आणञ्च दातुंति। जातक फासबायलका संस्करण प्रथम खंड पृ० २६८

१ इंडियन ऐंटिक्वेरी सन् १९१२ पृ० २८२

२ यस्मात् तद्व्यस्यति श्रेयस्तस्माद् व्यसनमुच्यते।
व्यसन्त्यधो वा व्रजति तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥१२॥ सर्ग १४

३ स्वाम्यामात्य व्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीय इति ॥७॥ मंत्रो, मंत्रफलवाप्तिः, कर्मानुष्ठानमायव्यय-कर्मदण्डप्रणयनममित्राटवीप्रतिषेधो राज्यरक्षणं व्यसनप्रतीकारः कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणामायत्तममात्येषु ॥ अधि० ८ अ० १

ही हो जाता है। इसलिये मुख्य राजा ही है। यह बात माननेकी है, परन्तु फिर भी मंत्रीका व्यसन बहुत गरीय है इसमें सन्देह नहीं।

कौटिल्यने वेतनकी जो व्यवस्था बतायी है, उसके अनुसार राज्यमें बड़ेसे बड़े योग्य कर्मचारीको जितना वेतन मिलता है, उससे तिगुना राजाको मिलना चाहिये, यदि विद्या और गुणोंमें यह उसके समान हो।[1]

राजाका वेतन मंत्रीसे तिगुना

इसके बाद मंत्री, ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, युवराज, राजमाता और राजमहिषी प्रत्येकका वेतन ४८।४८ हजार पण वार्षिक रखा है। मंत्रिपरिषद्के प्रत्येक सदस्यका वेतन १२।१२ हजार पण है, जिससे जाना जाता है कि इनसे चौगुनी योग्यताका मनुष्य प्रधान मंत्री होता था। परन्तु दौवारिक, अन्तर्वंशिक, समाहर्त्ता और सन्निधाताका वेतन मंत्रिपरिषद्के सदस्यसे दूना रखा है। इससे यही जाना जाता है कि मंत्रिपरिषद्के सदस्योंका शासनकार्यसे सम्बन्ध न था। होता तो क्या उन्हें दौवारिक आदिसे भी कम वेतन देनेकी व्यवस्था कौटिल्य करते? दौवारिक नगरके मुख्य द्वारका रक्षक और अंतर्वंशिक अन्तःपुर वा रनवासका रक्षक था, परन्तु आयुधाध्यक्ष, समाहर्त्ता और सन्निधाता राज्यशकटके मुख्य सञ्चालक थे। समाहर्त्ता आदि तो अध्यक्ष कहाते ही थे और कभी कभी उनकी अधीनतामें कार्य करनेवाले युक्त भी अध्यक्ष कहे जाते थे। शुक्रनीति-सारके अनुसार प्रत्येक अधिकार वा विभागपर तीन पुरुष वा मंत्री नियुक्त होते थे, जिनमें एक मुख्य और दो सहायक होते थे।[2] मुख्य मंत्री महामात्र कहाता था। दो उपमंत्री वर्त्तमान भाषामें अंडर सेक्रेटरी थे। गुप्तकालमें ये ही मंत्री महा प्रधान, महा दण्डनायक, और महासान्धि-विग्रहिक कहाते थे। इनके सहकारी कदाचित् प्रधान, दण्डनायक वा दण्डनायक कुमारामात्य, सान्धिविग्रहिक आदि नामोंसे प्रसिद्ध होते थे। कुमारामात्य, जूनियर मिनिस्टर वा सेक्रेटरी होता था, जैसा उसके नामसे जाना जाता है।

कौटिल्यकी व्यवस्थामें मंत्री वा प्रधान मंत्रीके बाद सबसे बड़ा अधिकारी

---

१ समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा...॥२३॥ अधि ५ प्र० ९१ अ० २

२ एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै ॥१०९॥ अ० २

सन्निधाता प्रतीत होता है। इसीकी जोड़का दूसरा अधिकारी समाहर्त्ता है।

उपयुक्तोंके कार्य

सन्निधाता राज्यका प्रधान कोशाध्यक्ष और समाहर्त्ता कर-संग्रहकर्त्ता था। सन्निधाताको जानना चाहिये कि राष्ट्रसे कितनी और किस किस रूपमें आय होती है और राजधानी वा दुर्गसे किस किस रूपमें। कोशगृह (ट्रेजरी) पण्यगृह (स्टोर्स), कोष्ठागार (खाद्य पदार्थोंका संग्रहालय), कुप्यगृह (जंगली वस्तुओंका संग्रहालय), आयुधागार और बन्धनागार वा जेलकी व्यवस्था इसीके अधीन थी। जहाँ सन्निधाता कोश और उसके आनुषङ्गिक विभागोंका रक्षक, निरीक्षक और व्यवस्थापक था, वहाँ समाहर्त्ता कर-संग्रह द्वारा इसके कोशकी वृद्धि किया करता था। इसे बोर्ड ऑव रेवेन्यूका मुख्य अधिकारी वा सीनियर मेम्बर समझना चाहिये। इनका तथा शास्ताका पद मंत्रीसे निम्न कोटिका था। प्रशास्ता किसी प्रदेशका शासक वा गवर्नर था।

कौटिल्यने 'उपयुक्त परीक्षा' प्रकरणमें बताया है कि अमात्यकी योग्यताके ही अध्यक्ष नियुक्त करने चाहिये। इससे उपयुक्त अध्यक्ष ही ठहरते हैं। सन्नि-

उपयुक्तोंके अधिकार

धाताके अधीन कई विभाग होनेके कारण इन सबके अलग अलग अध्यक्ष वा विभागके मुखिये थे, जैसे कोशाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, आकराध्यक्ष (खानोंके अध्यक्ष) तथा बन्धनागाराध्यक्ष थे। इसी प्रकार समाहर्त्ताके अधीन शुल्काध्यक्ष (customs officer) लक्षणाध्यक्ष (survey officer) मुद्राध्यक्ष (passport officer) सुराध्यक्ष (excise officer), सूनाध्यक्ष (master of the slaughter-house) सूत्राध्यक्ष (yarn officer), गणिकाध्यक्ष (controller of prostitutes), सीताध्यक्ष (director of agriculture), आकराध्यक्ष (director of mines), नावध्यक्ष (port officer). विवीताध्यक्ष (controller of pasture lands), नगराध्यक्ष (city officer), पौतवाध्यक्ष (officer of weights and measures), सुवर्णाध्यक्ष (gold officer), गोऽध्यक्ष (master of cattle), देवताध्यक्ष (director of temples). सेनापतिका वेतन मंत्रीके समान बताया गया है। इसका कारण यह है कि सेनापति यथेष्ट वेतन पावेगा, तो काम अच्छा करेगा। कौटिल्यका बड़ा जोर इस बातपर था कि जैसा काम हो, उसी

के अनुकूल कर्मकर्त्ता भी हों। इसी कारण इसको मंत्रीके बराबर वेतन देने को कहा है। इसके अधीन हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और पत्त्यध्यक्ष थे। आयुधागाराध्यक्ष खर्च वर्चके मामलेमें तो सन्निधाताके अधीन और हथियार, कवच आदि देनेके मामलेमें सेनापतिके अधीन था। एक अधिकारी अक्ष पटलाध्यक्ष था और बहुत करके यह एकाउंटैंट जेनरल था और इसकी शाला वा आफिस अक्षपटल प्रसिद्ध थी। इसके अधीन बहुतसे गाणनिक्य वा एकाउंटेंट रहा करते थे। प्रदेष्टा कण्टक-शोधन संस्थाका मुख्याधिकारी था और राजकीय अथवा गुरुतर अपराधोंका विचार करता था। महत्त्वपूर्ण कार्य होनेपर भी इसे हस्तध्यक्ष आदिके समान ८००० पण वेतन मिलता था। मंत्रियोंके अधीन इस प्रकार ३२ अधिकारी वा उपयुक्त थे। इनके सिवा और बहुतसे उपयुक्त और युक्त शासनकार्य चलाते थे।

---

७ सङ्घराज्य और राष्ट्रसभा

राज्यांगके साथ पौरोंकी श्रेणी भी।

सप्ताङ्ग राज्यकी कल्पना कितनी पुरानी है यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जिन राज्योंमें राजा नहीं होता था, उनमें राजा वा स्वामी राज्यका अंग अवश्य ही न माना जाता होगा। उनमें राज्यके कितने अंग माने जाते थे और इनमें किनका समावेश होता था इसका निर्णय कठिन है, क्योंकि इसकी चर्चा कहीं देखनेमें नहीं आयी, यद्यपि महाभारत, स्मृतियों और कौटिलीय अर्थ-शास्त्रमें ऐसे राज्योंका वर्णन है, जिनमें राजा नहीं होता था। अमरकोशमें सप्ताङ्ग राज्यकी चर्चामें राज्यांग और प्रकृतिका उल्लेख कर 'पौरोंकी श्रेणियां' भी कह दिया है।[1] संभव है कि जिन राज्योंमें राजा नहीं होता था, उनमें राजकार्यमें सहायता देनेके लिये पौरों वा पुरवासियोंकी श्रेणियां-समूह वा संस्थाएं होती हों। संघराज्योंमें तो, जैसा आगेके वर्णनसे जाना जायगा, राज-कार्य चलानेके लिये सभाएं वा संघ होते थे। बहुत करके पौरोंकी श्रेणियां ही संघमें एकत्र होती होंगी, इसलिये अमरसिंहको उनको राज्यांगका-पूरक बताना पड़ा है।

कई पारिभाषिक शब्द।

इस विषयको भलीभांति समझनेके लिये समूह, संघ, पूग, गण ग्राम, पौर जानपद, श्रेणी, नैगम, श्रेष्ठि और कुल शब्दोंके पारिभाषिक अर्थ जान लेना आवश्यक है। समूहका साधारण अर्थ वृन्द वा दल है, परन्तु यह अनियंत्रित दल नहीं होता था। इसे एक संस्था वा पार्टीका रूप प्राप्त था। समूह भी कई प्रकारके थे और उनकी संज्ञाएं भी उतने ही प्रकार की थीं। जैसे जैनों और बौद्धोंके समूह संघ कहाते थे; वैश्यों आदिके समूहकी संज्ञा पूग थी, कुलोंके समूहकी गण और पुरवासियोंके समूहकी संज्ञा पौर थी।[2] इसी प्रकारकी संस्था

---

१ स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश-राष्ट्रदुर्गबलानिच।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपिच॥

२ आर्हत सौगतानां तु समूहः सङ्घ उच्यते। कात्यायन विवादरत्नाकर पृ० ६६६

ग्राम वा राजधानीसे इतर नगर वा ग्राम कहाती थी।[1] जनपदकी संस्था जानपद कहाती थी। नैगम व्यापारियोंकी सभा होती थी। पौर जानपदोंके साथ नैगम भी हाथ जोड़े श्रीरामके अभिषेककी प्रतीक्षा करते थे। श्रेणी उन कारीगरोंकी संस्था होती थी, जो एक ही प्रकारकी वस्तुएँ बनाते और बेंचते थे। कौटिल्यने 'सङ्घवृत्तम्' अधिकरणमें काम्बोज-सुराष्ट्र क्षत्रिय श्रेणी आदिको वार्त्ताशस्त्रोपजीवी कहा है अर्थात् इनका जीवन निर्वाह वार्त्ता और शस्त्रद्वारा होता था।[2] इससे जाना जाता है कि श्रेणी भी कोई संस्था होती थी। श्रेष्ठि नगरसेठ होता था और कदाचित् पौरका प्रेसिडेंट वा अध्यक्ष होनेके कारण उसकी संज्ञा श्रेष्ठि थी।

प्राचीनकालमें जिन राज्योंमें राजा नहीं होता था, वे संघराज्य कहाते थे। ये सङ्घ दो प्रकारके थे एक कुलसङ्घ और दूसरे गणसङ्घ। कुलसंघ शाक्यों और ऐसे ही अन्य कुलोंके थे। गणसङ्घमें एकाधिक कुलोंके लोग कुलसङ्घ और गण भी होते थे। जिस समय कुलोंके राज्य होते थे, उस समय

सङ्घ तथा इनका समय।

कुलवृद्ध उनका राजा होता होगा और उसका प्रभुत्व सारे कुलपर रहता होगा। भरत, पाञ्चाल, वैदेह, ऐक्ष्वाकु आदि ऐसे ही कुलराज्य थे। ये जान-राज्य थे अर्थात् इनके राजा का प्रभुत्व स्वजनोंपर ही रहता था। कालान्तरमें पृथिवीपर राजाका प्रभुत्व प्रस्थापित हुआ, जिससे स्वकुलके अतिरिक्त अन्य कुलोंका भी वह राजा हुआ। महाभारतके समयसे बृहद्रथके समय तक अर्थात् ईस्वी सन्से पूर्व ७०० वर्षों तक भारतमें कुल-राज्य ही अधिक थे। अनन्तर दो वा अधिक राज्योंके मेलसे

समूहः वणिजादीनां पूगः परिकीर्त्तितः। विवादरत्नाकर ६६६

कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्प्रकीर्त्तितः। वीरमित्रोदय पृ० ४२६

पौरः पुरवासिनां समूहः। वीरमित्रोदय पृ० ११

१ पुर वा नगर राजधानीकी संज्ञा थी। राज्यके इतर नगर ग्राम कहाते थे। शाकल जो किसी समय मद्रकी राजधानी वा पुर था और जिसके नामपर ऋग्वेदकी शाकल संहिता प्रसिद्ध है, पुष्यमित्रके समयमें वाहीक वा पंजाबका साधारण ग्राम रह गया था। वाहीकमें पंजाब और सिन्धु दोनोंका समावेश होता था।

२ काम्बोज-सुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः ॥४॥ अधि० ११ अ० १

अथवा प्रभुत्व विस्तारकी लालसासे नये और बड़े राज्योंकी उत्पत्ति हुई। जो ऐक्ष्वाकु कुल-राज्य था, वही आगे चलकर दो राज्योंके मेल से एक हो जानेसे काशी-कोशल राज्य कहाने लगा। मगध राज्यमें मगध और अङ्ग मिल गये। इस प्रकार बड़े-बड़े राज्यों वा साम्राज्योंकी नींव पड़ी। बुद्धदेव यद्यपि जन-सत्तावादी थे, तथापि धर्मकी दृष्टिसे वे 'सकल जम्बूद्वीपको' एक राज्य बनाना चाहते थे।

पहले यद्यपि कुलोंका समूह गण कहाता था, तथापि कालान्तरमें अराजक राज्यके लिये गण शब्दका प्रयोग होने लगा। अवदानशतक नामक बौद्ध ग्रन्थसे जाना जाता है कि जब उत्तरके व्यापारी दक्षिण राजाओंके राज्यों गये, तब दक्षिणके राजाके पूछनेपर कि उत्तरमें कौन राजा के साथ ही गण है, उन्होंने कहा कि कुछ देश गणाधीन हैं और कुछ राज्य भी थे। राजाधीन हैं। महाभारतमें गणराज्य सभातंत्र राज्य अर्थमें आया है और अमरकोशमें गणका अर्थ सहवासियोंकी सभा बताया गया है। पाणिनिने भी सङ्घको गण अर्थवाची बताया है। इसलिये सङ्घ और गण पर्यायवाची हैं। परन्तु गण कुलसे बड़ा और दो वा अधिक कुलोंका भी होता था, जैसे अन्धक-वृष्णी सङ्घ अन्धकों और वृष्णियोंका था। वृष्णियोंमें राजा नहीं था, जैसा सभापर्वके ५वें अध्यायसे जाना जाता है और उनका सङ्घराज्य था यह कौटिल्यकी इस बातसे सिद्ध है कि प्राचीन कालमें द्वैपायनको असन्तुष्ट करनेके कारण वृष्णि सङ्घका नाश हुआ था।[1] महाभारतसे[2] जाना जाता है कि अन्धक-वृष्णि सङ्घमें दो दल वा वर्ग थे। वृष्णियोंका नेता आहुक और अन्धकोंका अक्रूर था तथा बभ्रु उग्रसेन और श्रीकृष्ण दोनो निर्वाचित सङ्घमुख्य थे। राजाओंकी सभा तो राजक कहाती थी, पर क्षत्रियोंकी राजन्यक प्रसिद्ध थी।

पाणिनि और महाभारतकार दोनोंने गणोंकी चर्चा की है। महाभारतमें कहा गया है कि उत्सव-संकेत आदि सात पर्वतवासी दस्यु गणोंको पाण्डव अर्जुनने

---

१ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमत्यासादयन् वृष्णिसङ्घश्च द्वैपायनमिति ॥१२॥
अधि १ अ० ६

२ शान्तिपर्व अध्याय ८१

जीता ।[1] वास्तवमें ये गण चोरों वा डाकुओंके नहीं जान पड़ते, वरञ्च पहाड़ियों, यथा मोहमन्दों, वजीरियों आदिके पूर्व पुरुषोंके थे। वे युद्धप्रिय और युद्धजीवी थे और जैसे ब्रिटिश सरकार आजकल सीमान्तके पठान कबीलोंको अपनी सेनामें भर्ती कर लेती है, वैसे ही उस समय भी ये पर्वतवासी वेतन लेकर किसीकी ओरसे लड़नेमें संकोच नहीं करते थे। महाभारतमें कुरुक्षेत्र युद्धका जो वर्णन है, उससे जाना जाता है कि यद्यपि श्रीकृष्ण उस युद्धमें पाण्डवोंकी ओर थे, तथापि उनकी नारायणी सेना कौरवोंकी ओरसे लड़ती थी। कौरव धनी थे, इसलिये वेतन दे सकते थे।

महाभारतमें गणों-की चर्चा।

गणोंकी विशेषता महाभारतमें यह बतायी गयी है कि इनमें मंत्रणा नहीं हो सकती, क्योंकि बहुत लोग होते हैं और इसीलिये भेदसे इनका विनाश होता है। ये सब एक जाति और कुलके होते हैं, इसलिये दान और भेदसे ये फूट जाते हैं। ये धनी, शूर तथा शास्त्र और शस्त्र विद्याओंमें पारंगत होते हैं।[2] भेदसे सङ्घके नष्ट होनेके विषयमें वज्जीसङ्घका ऐतिहासिक प्रमाण है। कौटिल्यको भी इनकी इस दुर्बलताका ज्ञान अवश्य होगा, नहीं तो सङ्घका लाभ, मित्र और सेनाके लाभसे अधिक मानकर भी वे न कहते कि यदि सङ्घ प्रतिकूल हो, तो भेद और दण्डद्वारा उनका उपयोग करे।[3]

गण दण्ड और भेदसे नष्ट होते थे

जब मगधके सिंहासनपर अजात शत्रु था, तब उसने गौतम बुद्धसे पूछा

---

१ गणान् उत्सव संकेतान् दस्यून् पर्वत वासिनः। अजयत सप्त पाण्डवः।

२ भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥८॥
न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥२४॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम्।
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥३०॥
न चोद्योगेनबुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः।
भेदाच्चैव प्रदानच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥३१॥
शान्ति पर्व अ० १०७

३ताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम् ॥३॥ विगुणान्भेददण्डाभ्याम् ॥४॥
अधि० ११ अ० १

था कि वज्जी संघको हम अपने अधीन कैसे करें? इसपर उसके ब्राह्मण मंत्री वस्सकार वा वर्षकारके सामने बुद्धदेवने अपने अग्रश्रावक आनन्दसे पूछा, 'आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जी समय समयपर पूरी सभाएँ करते हैं?' आनन्दने उत्तर दिया 'भगवन्, मैंने ऐसा ही सुना है।' इसपर बुद्धने कहा 'आनन्द, जबतक वज्जी समय समयपर पूरी सभाएँ करते रहेंगे, मेलसे मिलेंगे और मेलसे ही उठें-बैठेंगे तथा मेलसे ही अपने उत्तरदायित्वका निर्वाह करते रहेंगे, जबतक वे ऐसा नया काम न करेंगे, जो पहलेसे नहीं चला आता और जो चला आता है, उसे बन्द न करेंगे और पुराकालमें संस्थापित वज्जियोंकी संस्थाओंके अनुसार कार्य करते रहेंगे, जबतक वे बड़े बूढ़े वज्जियोंकी प्रतिष्ठा और आदर करते रहेंगे, तबतक वज्जियोंकी अवनतिकी अपेक्षा उन्नतिकी ही आशा है।' यह सुनकर अजात शत्रुने वज्जी संघपर चढ़ाई करनेका विचार छोड़ दिया। परन्तु इसी प्रसंगमें बुद्धने यह भविष्यद्वाणी भी की थी कि 'भविष्यमें लिच्छिवि सुकुमार होंगे, उनके हाथ पैर नरम होंगे, वे बड़े गुलगुले बिछौनोंपर रुईके मुलायम तकिये रखकर सूर्योदयतक सोया करेंगे। किसी और उपायसे वज्जी जीते न जायँगे, केवल धनसे संतुष्ट किये जा सकेंगे और भेदसे उनका संघ नष्ट किया जा सकेगा।'

बुद्धद्वारा गणोंकी प्रशंसा तथा उनके पतनके विषयमें भविष्य कथन।

वर्षकारने भेदनीतिसे ही वज्जी संघ तोड़ना निश्चय किया। इसने अजात शत्रुसे कहा कि मंत्रियोंकी सभा बुलाइये और जब मैं सभाके बीचसे यह कहकर उठ जाऊँ कि 'महाराज' आप उनसे क्या चाहते हैं? उन्हें अपने राज्यके कृषि-वाणिज्यकी व्यवस्थामें लगे रहने दीजिये, तब मुझे मारे बांधे बिना मुझपर अभियोग लगाइये कि इसने मंत्रणामें हस्तक्षेप किया है। आपकी राजधानीकी खाइयां और बुर्ज मैंने ही बनवाये हैं और मैं जानता हूँ कि आपकी किलेबन्दी कहां कमजोर और कहां मजबूत है। इसलिये वज्जियोंसे कह सकूँगा कि आप जो बाधा खड़ी करेंगे, उसे मैं दूर कर सकूँगा।' निदान अजातशत्रुने वर्षकारके बताये उपायसे कार्य करना निश्चय किया। जब वज्जियोंने अजातशत्रुके यहांसे वस्सकारके प्रस्थानका समाचार सुना, तब कुछने तो कहा कि इसे नदी पार न करने दो, परन्तु औरोंने कहा

वज्जी संघ तोड़नेमें वर्षकारकी चतुरता।

कि इसने हमारा पक्ष ग्रहण किया है, इससे इसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया है। इसलिये नदीमार्गके रक्षकोंसे कहा कि इसे नदी पार करने दो। इस प्रकार वह वज्जियोंके देशमें प्रवेश करने पाया। वर्षकारने अपने बहिष्कारका सारा ब्योरा बताकर कहा कि मैं अजातशत्रुके यहां प्रधान धर्माधिकारी था, इसलिये वज्जियोंने भी इसे धर्माधिकारीके पदपर प्रतिष्ठित किया। इसने इतनी सुन्दरन्याय-व्यवस्थाकी कि वज्जी राजकुमार इससे शिक्षा ग्रहण करने लगे।

वर्षकारकी भेद नीति काम कर गयी।

इस प्रकार वर्षकार जब वज्जियोंका विश्वासपात्र बन गया, तब भेद-नीति का प्रयोग उसने प्रारम्भ किया। एक दिन उसने एक लिच्छिवी राजासे पूछा कि 'क्या लोग खेत जोतते हैं?' उत्तर मिला, 'हां, दो बैलोंसे जोतते हैं।' दूसरी बार एक और लिच्छिवीसे पूछा कि तुम किस तरकारीके साथ खाते हो और उत्तर पाकर तीसरे लिच्छिवीको बता दिया। तीसरी बार एक और लिच्छिवीको किनारे ले जाकर पूछा 'क्या तू बिल्कुल भिख-मंगा है?' इसने जब पूछा कि किसने कहा, तो किसी और लिच्छिवीका नाम बता दिया। इस प्रकार इधर उधर बेसिर-पैरकी बातें फैलाकर वर्षकारने लिच्छिवियोंमें फूट डाल दी। जब भेदनीति सफल हो गयी, तब उसने नियमा-नुसार भयध्वनि दी। लिच्छिवी राजाओंने कहा कि धनियों और वीरोंको एकत्र होने दो; हम तो ग्वाले और भिखमंगे हैं। इसपर वर्षकारने अजातशत्रुको कहला भेजा 'यही समय है; शीघ्र आइये।' फिर क्या था? अजातशत्रुने डौंडी पिटवाकर सेना इकट्ठीकर धावा बोल दिया। उसका आना सुनकर वज्जियों ने भयध्वनि की और कहा 'हमें राजाको नदी पार न करने देना चाहिये।' परन्तु इसपर भी किसीने ध्यान न दिया। वज्जी एकत्र न हुए और बोले, 'वीर राजा जायँ।' फिर भयध्वनि की गयी और कहा गया, 'हमें राजाको नगरमें प्रवेश न करने देना चाहिये। हमें नगरद्वार बन्द कर आत्मरक्षा करनी चाहिये।' परन्तु सबने सुनी-अनसुनी कर दी। अजातशत्रु खुले हुए द्वारसे घुस गया और वज्जियोंपर बड़ी मुसीबत ढाकर उसी प्रकार अपनी राजधानी राजगृहको लौट आया।

परन्तु अजातशत्रुके देहावसानके २०० वर्ष उपरान्त भी कौटिल्यने लिच्छिवी, वृजी, मद्र, कुकुर, कुरु, पाञ्चालको राजशब्दोपजीवी नामसे प्रसिद्ध

कहा है।[1] इससे जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्तके साम्राज्यके प्रभातकालमें भी उक्त जातियोंके सङ्घ थे, चाहे उनका प्राचीन गौरव भले ही नष्ट हो गया हो। यद्यपि इन सङ्घोंकी शासनपद्धतिका कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता यह खेदकी बात है, तथापि ग्रीकों वा यूनानियोंके लिखे भारत-सम्बन्धी वर्णनोंसे जाना जाता है कि सिकन्दरकी चढ़ाईके पहले और बाद भी भारतमें अनेक गण राज्य थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके दरबारमें यवन दूत मेगस्थनीज कुछ समय तक रहा था। इसने 'एरियन' नामक अपने ग्रंथमें लिखा है:—

यवन ग्रन्थोंमें भारतीय प्रजातंत्रकी चर्चा।

'भारतके लोग डायोनिसाससे सैंड्रकोटसतक १५३ राजाओं और ६०४२ वर्षोंका समय मानते हैं, पर इसी बीचमें ३ बार प्रजातंत्र स्थापित हुआ था। ....दूसरी बार ३०० वर्षोंतक और एक बार १२० वर्षों तक रहा था। भारतवासी कहते हैं कि डायोनिसास हिरेकेल्ससे १५ पीढ़ियों पहले हुआ था।' डायोनिसास कौन था? कोई कोई इसे इक्ष्वाकु कहते हैं, पर स्व० चिन्तामण विनायक वैद्यका मत था कि वह 'दक्ष' था। डायोनिसासको यूनानियोंने 'बक्स' लिखा भी है। जब चन्द्रगुप्त सैंड्रकोटस हो सकता है, तब 'दक्ष' का 'बक्स' बन जाना कौन आश्चर्य है? हिरेकेल्स-हरिकुलेश वा श्री कृष्णका नाम माना जाता है। महाभारत अनुशासन पर्वमें दी हुई वंशावलीसे वैद्य महाशयने श्रीकृष्णको दक्षसे १६ वां पुरुष ठहराया भी है। यदि २५ वर्षोंकी एक पीढ़ी मान ली जाय तो दक्षसे ३७५ वर्षों बाद श्रीकृष्ण हुए थे। अर्थात् दक्षसे ४०० वर्ष बाद श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण द्वापरके अन्तमें हुए थे और चन्द्रगुप्त कलि संवत् २७८० में हुआ था। इसलिये दक्षसे चन्द्रगुप्त तक ३२०० वर्ष ही होते हैं। कलि संवत् ईस्वी सन् से ३१०२ वर्ष पहले चला था और चन्द्रगुप्तके अभिषेकका समय ईस्वी सन् ३२२ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस हिसाबसे चन्द्रगुप्त तक २८०० वर्ष ही होते हैं। यद्यपि इस हिसाबमें कुछ भूल जान पड़ती है, तथापि इस प्रसंगकी मुख्य बातमें कोई भूल नहीं है अर्थात् यहां प्रजातंत्र थे यह स्वदेशी और विदेशी सभी लेखकोंके लेखोंसे जाना जाता है।

---

[1] लिच्छिविवृजिक-मद्र-कुकुर-कुरु-पांचालादयो राजशब्दोपजीविनः ॥६॥
अधि० ११ अ० १

अध्यापक विनयकुमार सरकारने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि गणतंत्रों वा प्रजातंत्रोंके तीन युग थे एक ईसासे ६०० से ४५० वर्ष पूर्व, दूसरा ईसासे ३५० से ३०० वर्ष पूर्व और तीसरा ईसा-

संघोंके तीन युग से पूर्व १५० वर्षोंसे ईस्वी सन् ३५० तक। इस प्रकार

१६८वें पृष्ठ की ८वीं पंक्तिमें "इसने 'एरियन' नामक" के वदले "इसने और 'एरियन' नामक लेखकने" होना चाहिये। जिस अंगरेजी उद्धरणका वहां उल्था दिया गया है, वह इस प्रकार है :—

From the time of Dionysos to Sandrakottos the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established....................and another to 300 years, and another to 120 years.

Ancient India as described by Megasthenes and Arrian p. 208

(प्राचीन भारत जैसा मेगस्थनीज़ और एरियन ने वर्णित किया)

ग्रीक वा यूनानी भाषासे अंगरेजोंमें इन लेखकोंके लेखोंका उल्था पटना कालेजके प्रिन्सिपल मैक्रिंडेल साहबने किया है। इस अंशपर आपने यह टिप्पणी दी है :—

It is not known from what sources Megasthenes derived these figures which are extremely modest when compared with those of Indian chronology.

प्रथम युगके सङ्घ मुखिया शुद्धोदनके पुत्र थे। ये गणपति वा राष्ट्रपति थे और राजा कहाते थे। शाक्योंकी संख्या १० लाख थी और

---

१ पावा पटने और राजगिरके बीच नालन्दाके पास है।

२ कपिलवस्तु नेपालकी तराईमें है और आज बस्ती जिलेमें भूरला गांव नामसे प्रसिद्ध है। फैजाबादसे २९ मील उत्तर पूर्व, बस्तीसे १२ मील

उनका राज्य पूर्वसे पश्चिम तक ५० मील लम्बा और हिमालयकी तराईसे ३०।४० मील चौड़ा था। राजधानी कपिलवस्तुमें उनका सन्थागार था, जहाँ राजकाज होता था।

गणोंकी शासनपद्धतिका कोई विवरण प्राप्य नहीं है। परन्तु अनुमान है कि लिच्छिवी वा वज्जी सङ्घका संगठन बौद्धसङ्घके आदर्शपर हुआ था। इसका कारण यह है कि बुद्ध लिच्छिवी वा वज्जी सङ्घकी बड़ी प्रशंसा करते थे और 'महापरिनिब्बाण सुतन्त' से जाना जाता है कि लिच्छिवी सङ्घकी प्रशंसा करके उन्होंने राजगृहके प्रार्थना मन्दिरमें उस नगरके पासके सब बौद्धोंको एकत्र करके समझाया था कि जिन गुणोंकी हमने प्रशंसा की है, वे योगक्षेमकी अभिलाषा रखनेवाले प्रत्येक सङ्गठित सङ्घके लिये अनिवार्य हैं। विनयपिटक के 'पातिमोक्ख' प्रकरणमें उपसम्पदा संस्कारका जो वर्णन है, उससे लिच्छिवी सङ्घके सङ्घटनका कुछ आभास मिलता है। बौद्ध सङ्घमें पहले एक कर्मचारी निर्वाचित किया जाता था, जो 'आसनपञ्ञापक' (आसनप्रज्ञापक) कहाता था। सबको यथास्थान बैठाना इसका काम था। लिच्छिवी सङ्घमें भी बड़े बूढ़ोंकी प्रतिष्ठा की जाती थी, इसीलिये वहाँ भी आसनपञ्ञापककी नियुक्ति होती होगी। सब लोगोंके यथास्थान बैठ जानेपर जिसे जो प्रस्ताव करना होता था, वह इसकी सूचना देता था। यह सूचना 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहाती थी। नत्ति के उपरान्त प्रस्तावक उपस्थित भिक्खुओंसे पूछता था, 'क्या आप यह प्रस्ताव पसन्द करते हैं?' यह प्रश्न एक वा तीन बार किया जाता था। एक बारका प्रश्न 'नत्ति दुतीय कम्म' (ज्ञप्ति द्वितीय कर्म) और तीन बारका 'नत्ति चतुत्थ कम्म' (ज्ञप्ति चतुर्थकर्म) कहाता था। बुद्धदेवने नत्तिका प्रकार भी बताया था। वह यह था कि एक विद्वान् योग्य भिक्खु संघके सामने निम्न-लिखित घोषणा करे:—'आदरणीय सज्जनो, संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूज-नीय यज्ञदत्तसे (अर्थात् पूजनीय यज्ञदत्तको उपज्झाय वा उपाध्याय बनाकर) उपसम्पदा लेना चहता है। यदि संघ प्रस्तुत हो तो वह देवदत्तको यज्ञदत्तसे उपज्झाय रूपसे उपसम्पदा दिला दे, यही नत्ति है।' आदरणीय

सङ्घमें प्रस्ताव कैसे होता था?

उत्तर पश्चिम और काशीसे १२० मील उत्तर है। राजगृहसे २५० मील, वैशालीसे २७५ मील और श्रावस्तीसे ५०-६० मील है।

सज्जनो, संघ सुने। यह पुरुष देवदत्त पूजनीय यज्ञदत्तसे उपसम्पदा लेना चाहता है। संघ देवदत्तको यज्ञदत्त उपज्झाय द्वारा उपसम्पदा देता है। पूजनीय भाइयोंमें जो देवदत्तको यज्ञदत्त उपज्झायसे उपसम्पदा मिलनेके पक्षमें हो, वह मौन रहे और जो पक्षमें न हो, वह बोले।' दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार सूचना देकर अन्तमें कहे, 'देवदत्तने संघसे यज्ञदत्त उपज्झाय द्वारा उपसम्पदा प्राप्त की है। संघ इसके पक्षमें है, इसलिये वह मौन है यह मैं समझता हूँ।'

वादग्रस्त विषयोंमें सन्थागार या सभाभवनमें बड़े झगड़े होते थे और इनका निर्णय करनेके लिये उभयपक्षके मत लिये जाते थे। मतदाताओंको वोटिंगपेपरके बदले लकड़ीकी रंगी हुई शलाका दी जाती थी और शलाका संग्रह करनेके लिये एक सच्चा निरपेक्ष मनुष्य समस्त संघ द्वारा चुना जाता था। यह 'शलाका-गाहक' (शलाकाग्राहक) कहाता था। शलाकागाहकमें जिन विशेष गुणोंकी आवश्यकता होती थी, वे बुद्धदेवके मतानुसार ये थे:—वह (अ) निरपेक्ष हो, (आ) द्वेषरहित हो, (इ) मूर्ख न हो, (ई) भीत न हो, और (उ) जानता हो कि कौन मत लिये गये हैं और कौन नहीं।' संघके अनुपस्थित सदस्यका मत भी लिया जाता था। इस प्रकारका मत ग्रहण 'खण्ड' कहाता था। मत संग्रह करनेकी तीन रीतियाँ भी बुद्धने बतायी थीं, एक गुप्तरीति, दूसरी कानाफूसीकी और तीसरी खुल्लम-खुल्ला। गुप्तरीति यह थी कि मत देनेवाला जब मत संग्राहकके पास जाता था, तब यह भिन्न-भिन्न रंगोंकी शलाकाएँ दिखाकर बताता था कि 'अमुक मतके मनुष्यके लिये यह शलाका है और अमुकके लिये वह। आप जो चाहें ले लें।' जब वह ले लेता था, तब उससे कहा जाता था कि इसे किसीको न दिखाना। कोरमकी भी व्यवस्था थी, जिसका विशेष ब्योरा अज्ञात है। कोरम है या नहीं यह देखनेवाला 'गणपूरक' कहाता था।

वोटिंगकी व्यवस्था

---

८ राज्यों और राजाओंके भेद

सप्ताङ्ग राज्यमें राजाका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजाकी महिमा बतानेके लिये महाभारतमें कहा भी गया है कि राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृप शब्दोंसे जिसकी स्तुतिकी जाती है, उसकी पूजा कौन न करेगा ?[1] इससे जाना जाता है कि ये शब्द पर्यायवाची हैं और राजाका महत्त्व बढ़ाने के लिये इनका प्रयोग किया जाता है। परन्तु क्या इन शब्दोंका वास्तवमें कोई अर्थ नहीं है ? हम जानते हैं कि युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था, जिससे उन्हें सम्राट् पदकी प्राप्ति हुई थी। मत्स्य देशके राजा विराट् कहाते थे, जो युधिष्ठिरकी अपेक्षा प्रतिपत्तिमें केवल बहुत कम ही न थे, वरंच सुशर्मा जैसे छोटे राजासे भी डरा करते थे। महाभारतसे ही यह भी जाना जाता है कि विदर्भके (बरार और सौराष्ट्र वा काठियावाड़के) राजा भोज कहाते थे। इससे स्पष्ट है कि महाभारतके समयमें इन नामोंसे स्थान विशेषके राजाओंका बोध होता था, जैसे रोमके सम्राट् सीजर, जर्मनीके कैसर, तुर्कीके सुलतान और रूसके जार कहाते थे और जैसे आज जापानके सम्राट् मिकाडो, इंग्लैंडके बादशाह किंग, ईरानके शाह शाह कहाते हैं।

राजाके विविध नामोंका प्रयोजन

सम्राट्का महत्त्व जाननेके लिये हमारे पास बहुतसे साधन हैं। राजासे सम्राट् बड़ा होता है, इसलिये सम्राट् पदवी प्राप्त करनेको राजाको राजसूय, अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ करने चाहिये। परन्तु शतपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि राजसूय करनेसे राजा और वाजपेय करनेसे सम्राट् होता है।[2] राजा छोटा होता है, इसलिये यह सम्राट् बननेकी इच्छा कर सकता है। परन्तु सम्राट् राजा बननेकी इच्छा नहीं कर सकता।

राजसूय और वाजपेय यज्ञोंकी महत्ता

---

१ राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपति नृ॑पः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितु मर्हति ॥२४॥ शां० अ० ६८

२ राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राट् वाजपेयेनावरं हि राज्यं परं साम्राज्यं कामयेत् वै राजा सम्राट् भवितुमवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् ॥५।१।१

लाट्यायन श्रौत सूत्र भी वाजपेयको ही महत्त्व देता है। कहता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसे अपना मुखिया बनावें, वह वाजपेय करे।[1] परन्तु तैत्तिरीय संहितामें कहा गया है कि वाजपेय सम्राट्सव है और राजसूय वरुणसव है। वरुण समस्त संसारके अधिपति हैं, इससे राजसूय वाजपेयसे बड़ा है। यह बहुत सम्भव है कि शतपथके समयमें राजसूयका महत्त्व घट और वाजपेयका बढ़ गया हो। इसलिये वाजपेय करके लोग सम्राट् हुआ करते थे और इसीसे उनकी संज्ञा स्वराट् भी होती थी। अश्वमेध यज्ञ दिग्विजय करके किया जाता था, पर इसका फल वाजपेयके समान ही होता था। तैत्तिरेय ब्राह्मणमें कहा गया है कि जो बुद्धिमान् वाजपेय यज्ञ करता है, वह स्वाराज्य प्राप्त करता है, अपने बराबरवालोंसे बढ़ जाता है और ज्यैष्ठ्य वा बड़प्पन पाता है।[2]

शुक्रनीतिसारका मत है भूसम्पत्ति, अधिकार अथवा शक्तिके आधार पर राजा सामन्त, माण्डलिक, राजा, स्वराट्, सम्राट्, विराट् अथवा सार्वभौम जैसी उपाधियोंसे विभूषित होता है। सामन्त और माण्डलिक तो राजाके अधीन होते हैं। सामन्तको तो वर्त्तमान समयका ठिकानेदार वा ठाकुर समझना चाहिये, जिसकी पदवी बहुधा 'राव' होती है। माण्डलिक इससे बड़ा होता है, पर इसका अधिकार प्रायः राजाके बराबर होता है। राजाके अधीन सामन्त होते हैं, पर माण्डलिकके अधीन कोई नहीं होता। सम्राट् चक्रवर्त्ती अथवा मण्डलेश्वर भी कहाता है, क्योंकि चक्र वा मण्डलका मुखिया होता है। प्रजाके उत्पीड़नके बिना भूमिसे जिसकी वार्षिक आय एकसे ३ लाखतक अथवा जिसका प्रभुत्व सौ गाँवोंपर हो, वह सामन्त है। जिसकी आय ४से

शुक्रनीतिसारके अनुसार राजाओंकी पदवियाँ

---

१ यं ब्राह्मणा राजानश्च पुरस्कुर्वीरन् स वाजपेयेन यजेत ॥८।११।१
राजसूयं यदेते ग्रहाः सवोऽग्निर्वरुणो राजसूयमग्निसवाश्चित्यस्ताभ्यामेव सूयते ऽथो उभावेव लोकानवभिजयति यश्च राजसूयेने जानस्य यश्चाग्नि चितः ॥५।६।२।१ इसपर टीका है कि कदाचित् वरुण ही राजसूय करके पहले अभिषिक्त हुआ हो, इससे राजसूय वरुणसव है और जो चित्य है, वह अग्निसव है।

२ य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजति। गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रं समानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्या ॥१।३।२।२

१० लाखतक हो, वह माण्डलिक, जिसकी १०से २० लाख तक हो, वह राजा, जिसकी २०से ५० लाखतक हो वह महाराज, ५० लाखसे १ करोड़तक हो, वह सम्राट्, ५० करोड़ हो, वह विराट् है और जो सप्तद्वीपा वसुन्धराका अधिपति हो, वह सार्वभौम है। सौ ग्रामोंका अधिकारी वा कर-संग्राहक अनुसामन्त, १० ग्रामोंका अधिकारी नायक, १० हजार ग्रामोंके भागका भागी आशापाल कहाता है। जिस एक कोसके भूभागमें राजाका भाग एक हजार रुपये हो, वह ग्राम कहाता है। ग्रामका आधा पल्ली और पल्लीका आधा कुम्भ है।[1]

नारदका मत

नारदका कहना है कि राजा तीन प्रकारका होता है सम्राट्, सकर और अकर। जो सब राजाओंसे नित्य कर लिया करता है, वह सम्राट् और वही चक्रवर्ती कहाता है। जो महीने महीने वा वर्ष वर्षपर कर लिया करता है और राजलक्षणसे युक्त होता है, वह सकर और जो नजर वा दर्शनीके बहाने स्वेच्छासे कर देता है, वह अधीश्वर वा महाराज कहाता है।

---

१ लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते।
वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडिनैः ॥१८२॥
सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि।
तदूर्ध्वं दशलक्षान्तो नृपो माण्डलिकः स्मृतः ॥१८३॥
तदूर्ध्वन्तु भवेद्राजा यावद्विंशतिलक्षकः।
पञ्चाशल्लक्षपर्यन्तो महाराजः प्रकीर्त्तितः ॥१८४॥
ततस्तु कोटिपर्यन्तः स्वराट् सम्राट् ततः परम्।
दशकोटिमितो यावद्विराट् तु तदनन्तरम् ॥१८५॥
पञ्चाशत्कोटि पर्यन्तं सार्वभौमस्ततः परम्।
सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्याभवेत्सदा ॥१८६॥
शतग्रामाधिपो यस्तु सोऽपि सामन्त संज्ञकः।
शतग्रामे चाधिकृतोऽनुसामन्तो नृपेण सः ॥१९०॥
अधिकृतो दशग्रामे नायकः स च कीर्त्तितः।
आशापालो युतग्राम भागभाक् च स्वराडपि ॥१९१॥
भवेत्क्रोशात्मको ग्रामो रूप्य कर्ष सहस्रकः।
ग्रामार्धकं पल्लिसंज्ञं पल्ल्यर्धं कुम्भ संज्ञकम् ॥१९२॥ अ० १

शुक्रनीतिसारकी अपेक्षा नारदका मत कुछ समीचीन प्रतीत होता है, पर यह भी सन्तोषजनक नहीं है। धन वा वार्षिक आय महत्त्वकी होनेपर भी राजाका विशेषत्व उसकी ईश्वरताके कारण होता है। वर्त्तमान समयमें हमारे देशमें कितने ही राजाओंकी आय एक लाख वार्षिक भी नहीं है और कई ऐसे जमीन्दार हैं जिनकी वार्षिक आय एक करोड़तक पहुँच जाती है; परन्तु न ये वास्तविक राजा हैं, यद्यपि इनकी पदवी 'महाराजाधिराज' तक देखी जाती है, क्योंकि ये राजलक्षण युक्त नहीं हैं और और न वे राजा कम आय होनेके कारण जमीन्दार ही कहे जा सकते हैं। जिस राजाको अन्य राजा अपना प्रभु वा नेता मानें, वही सम्राट् वा चक्रवर्ती कहानेका अधिकारी है, दूसरा नहीं। इसी सिद्धान्तके अनुसार इंग्लैंडके बादशाह भारतके सम्राट् हैं, क्योंकि यहाँका राजन्यवर्ग उन्हें अपना अधीश्वर मानता है।

नारदका मत शुक्रनीतिसारसे समीचीन है।

ऐतेरेय ब्राह्मणके ऐन्द्रमहाभिषेककी प्रतिज्ञासे जाना जाता है कि राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य, आधिपत्य और सार्वभौमत्व विविध प्रकारके राज्य थे। इसपर कुछ प्रकाश वाजसनेयी संहिता वा शुक्ल यजुर्वेदसे पड़ता है। वहाँ इष्टकाकी स्तुतिमें पांच मन्त्र हैं जिनसे जाना जाता है कि इष्टका पूर्व दिशामें राज्ञी है, जहाँ वसुदेवता अधिपति हैं, दक्षिण दिशामें विराट् है, जहाँ रुद्र देवता अधिपति हैं, पश्चिम दिशामें सम्राट् है, जहाँ आदित्यदेवता अधिपति हैं तथा उर्ध्व दिशामें अधिपत्नी है, जहाँ विश्वेदेवा देवता अधिपति हैं।[1] इससे क्या जाना जाता है? यही न कि पूर्वके राजा राजा, दक्षिणके विराट्, पश्चिमके सम्राट्, उत्तरके स्वराट् और उर्द्धके अधिपति होते थे?

ऐतेरेय ब्राह्मण और शु० यजुर्वेदमें राज्योंके प्रकारोंका उल्लेख

---

१ राज्ञ्यसि प्राचीदिग्वसवस्ते देवा अधिपतयो........॥१०॥
विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतयो........॥११॥
सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो........॥१२॥
स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा अधिपतयो........॥१३॥
अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो........॥१४॥

ऐतरेय ब्राह्मणसे पता लगता है कि पूर्वियोंके राजाओंका अभिषेक साम्राज्यके लिये, दक्षिणयोंके राजाओंका भौज्यके लिये, हिमालयके उत्तरके उत्तर कुरु और उत्तर मद्रके राजाओंका वैराज्यके लिये तथा मध्यदेशके कुरु पांचाल और उशीनरके राजाओंका अभिषेक राज्यके लिये होता है।[1] अथर्ववेदके गोपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि प्रजापति राजसूय करके राजा, वाजपेय करके सम्राट्, अश्वमेध करके विराट्, पुरुषमेध करके विराट् और सर्वमेध करके सर्वराट् हुआ।

सायणाचार्यने ऐतरेय ब्राह्मणकी इन पदवियोंके सम्बन्धमें कहा है कि कोशका आधिपत्य राज्य, धर्मसे पालित साम्राज्य, अपराधीनत्व स्वाराज्य,

सायणाचार्य और श्रीधर स्वामीद्वारा राज्यके प्रकारोंकी व्याख्या

अन्य राजाओंसे वैशिष्ठ्य वैराज्य है। इन सबका इसी लोकसे सम्बन्ध है। इसके उपरान्त उनका मत है कि अन्य पदवियोंका सम्बन्ध परलोकसे है। इनमें पारमेष्ठ्यका अर्थ प्रजापति लोककी प्राप्ति, राज्यका अर्थ वहाँ राज्य पाना, महाराज्यका अर्थ बड़ा राज्य, स्ववश्यका स्वाधीनता और आतिष्ठत्वका बहुकालपर्यन्त निवास है। श्रीधर स्वामीने भागवत पुराणके दशमस्कन्धके एक प्रसंगकी टीकामें इन पदवियोंका आध्यात्मिक अर्थ किया है। कहा है कि साम्राज्य सार्वभौम पद, स्वाराज्य इन्द्रपद, भौज्य सार्वभौमपद समेत इन्द्रपद तथा पारमेष्ठ्य ब्रह्मपद है। अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्तिसे विराट् होता है।

सायणाचार्य और श्रीधर स्वामीकी टीकाओंसे राज्यके प्रकारोंका महत्त्व प्रकट नहीं होता, वरञ्च जो कुछ हम ऐतरेय ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेदमें

---

१ साम्राज्याय तस्मादेतस्यां प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। तस्मादेतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां येऽपाच्यानां स्वाराज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते। तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्येन तेऽभिषिच्यंते। तस्मादेतस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपांचालानां राजानः स वशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते राज्येते नानभिषिक्ता नाचक्षते। ८।१४।२।३

उनके उल्लेखसे जान भी पाते हैं, वह भी टीकाएँ देखकर भूल जाते हैं।

साम्राज्यके लिये मगधके राजा अभिषिक्त होते थे।

इसलिये टीकाकारोंके विषयमें हमें यही समझ लेना चाहिये कि उन्होंने जिस दृष्टिसे इन पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ किये हैं, उस दृष्टिसे हम इनका विचार नहीं कर रहे हैं। इसलिये हमें मूलमें ही तत्त्व टटोलना चाहिये। परन्तु वहाँ यह कठिनाई है कि यजुर्वेद और ऐतरेय ब्राह्मणके वर्णनोंमें कुछ असामञ्जस्यसा जान पड़ता है, क्योंकि जहाँ यजुर्वेदमें पश्चिमी लोगोंके राजाकी संज्ञा सम्राट् बतायी गयी है, वहाँ ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि वह पूर्वियोंके राजाकी है। इसे हम इस प्रकार हल करते हैं कि यजुर्वेदके इन मंत्रोंको जिस ऋषिने देखा था, वह या तो मगधसे पूर्व रहता था या देखनेके समय वह पूर्वमें था। कारण यह है कि मगधमें ही पहले पहल साम्राज्यकी स्थापना हुई थी और मगधके राजा ही सम्राट् कहाये थे यह सर्ववादिसम्मत है। इसलिये यजुर्वेदमें पश्चिमी लोगोंके राजाका अभिषेक जहाँ साम्राज्यके लिये लिखा है, वहाँ ऐतरेय ब्राह्मणमें पूर्वियोंके राजाके लिये लिखा है। दोनोका अभिप्राय मगधके साम्राज्यसे ही है। जरासन्धका घराना बृहद्रथका घराना कहाता था। पुराणों और महाभारतके अनुसार जरासन्ध सम्राट् था। जिसे हम आज सम्राट् कहते हैं, जरासन्ध वैसा सम्राट् न था, वरञ्च कई राज्योंके समूहका अध्यक्ष था। ये राज्य एक प्रकारके Confederacy वा संघ रूपमें थे। चेदिराज शिशुपाल इस संघका सेनानायक था। महाभारतसे जाना जाता है कि सम्राट्को अन्य राजा निर्वाचित करते थे और इस सम्राट्निर्वाचनका उद्देश आत्मरक्षण था। जरासन्ध इन राज्योंका रक्षक होनेके बदले भक्षक निकला, क्योंकि इसने अपने संघके अन्य राजाओंको, अवश्यही शिशुपालको छोड़ अपना दास ही बना डाला था। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि यजुर्वेद और ऐतरेय ब्राह्मणके वर्णनोंमें कोई विषमता नहीं है। शुक्ल यजुषोंको प्रकट करनेवाले याज्ञवल्क्य मिथिलामें रहते थे और मगधसे पूर्व थे, इसलिये यजुर्वेदमें सम्राटोंका स्थान पश्चिम बताया गया है और ऐतरेय ब्राह्मणका लेखक मगधसे पश्चिममें था, इसलिये उसे स्वभावतः साम्राज्यके लिये अभिषिक्त राजाओंका राज्य पूर्वमें समझ पड़ना ही चाहिये।

अन्य देशोंके राजाओंकी भी ये पदवियाँ थीं यह इससे भी जानना चाहिये कि विदर्भ वा बरारके राजा महाभारतके समयमें कुन्तिभोज कहाते थे।

मालवेकी धारा नगरीके राजा भी भोज ही प्रसिद्ध थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि भोज दक्षिण देशके राजाओंकी उपाधि थी और राज्य भौज्य कहाता था। कच्छके पास भुज है और इसलिये वहाँके राजा भोज और राज्य भौज्य कहा जा सकता है। सम्भवतः दक्षिणसे ही राजा भुज गये हों और वहाँ उसे भौज्य नाम दिया हो, जो आज भुज ही रह गया हो। पश्चिममें सौराष्ट्र है, जो सम्भवतः पहले सुराष्ट्र वा स्वराट् कहाता होगा, जिससे बिगड़ कर सुराट् वा सूरत बन गया हो। स्वराट्का अर्थ स्वयं प्रकाशमान् वा स्वयं शासन करनेवाला है। यह वहाँके राजाकी पदवी थी और राज्य स्वराज्य वा स्वाराज्य कहाता था। स्वराज्यके विषयमें हमें ऋग्वेदमें एक मंत्र और अथर्ववेद में एक मंत्र मिलता है जिनमें पहलेका अर्थ है, 'हे मित्रो, जिनकी दृष्टि विशाल हुई है तुम और हम सब विद्वान् मिलकर अनेकोंकी सहायतासे पालन होनेवाले स्वराज्यमें भलीभाँति यत्न करें।'[1] दूसरे का अर्थ है, 'जो अज वा नेता पहले उत्पन्न हुआ, उसीने उस स्वराज्यको प्राप्त किया जिससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है।'[2] इन दोनों मंत्रोंसे हम जान गये कि स्वराज्य पद्धतिके लिये बहुत कुशल मनुष्योंकी अपेक्षा होती है जिनकी दृष्टि विशाल हुई हो और स्वराज्य शासनपद्धतिसे बढ़कर कोई पद्धति नहीं है। स्वाराज्य पद्धति नीचों और अपाच्योंमें प्रचलित थी।[3] हिमालय पारके उत्तर कुरु और उत्तर मद्र राज्य वैराज्य कहाते थे यह ऐतरेय ब्राह्मणसे स्पष्ट है। कदाचित् नेपालका विराट नगर इनमें किसीकी राजधानी हो और यहींसे मत्स्य देशके विराट् राजा गये हों। हिमालयकी तराई और उत्तर विहारके संघ राज्योंके रूपमें जो वैराज्य राज्य थे, वे विराट् (बिना राजाके) थे, इसलिये जिन राज्योंमें राजा न हो, वे ही वैराज्य

भौज्य और स्वाराज्य आदि

---

१ आयद् वामीय चक्षसा मित्रं वयं सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥५।६६।६

२ यदजः प्रथमं संबभूव।
सहतत् स्वराज्यमियाय।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥१०।७।३१

३ जायसवालके मतानुसार सिन्धु नदके मुहानेके आसपास नीच्य और उससे ऊपर अपाच्य बसते थे।

समझने चाहिये। वैराज्यकी एक विशेषता जो ऐतरेय ब्राह्मणमें बतायी गयी है, वह यह है कि समाजके सभी पुरुष अभिषिक्त होते थे। कौटिल्यने लिच्छिवी आदि जातियोंको जो राजशब्दोपजीवी कहा है, उसका अभिप्राय भी तो यही है कि उनमें सभी राजा कहाते थे। बौद्धग्रन्थ महावस्तु वा महावस्तुमें कहा भी गया है कि वैशालीमें ८४ हजारसे दूने राजा रहते थे अर्थात् वैशालीके सभी लिच्छिवी राजा थे। एकपण्ण जातकमें वैशाली के ७७०७ राजाओंकी चर्चा है। उत्तर मद्र और उत्तरकुरु हिमालयके पार कहाँ थे यह हमें विचारना नहीं है, परन्तु हमारा काम इसीसे हो जाता है कि उत्तर मद्रों और उत्तर कुरुओंमें जैसी विशेषता थी, जब वही हमें लिच्छिवियों वा वज्जियोंमें मिलती है, तब यह माननेमें कोई बाधा नहीं है कि यह संघ भी वैराज्य था। महाराज्य, आधिपत्य, पारमेष्ठ्य राज्य और सार्वभौमत्व भी विशिष्ट पद्धतियोंके राज्य होते होंगे। जायसवालजीने अपने ग्रंथमें[१] पाणिनिके आधार पर मद्र, वृजी, राजन्य, अन्धक-वृष्णी और महाराज इन छ जातियोंके सङ्घ बताये हैं। परन्तु यह महाराज सङ्घ कहाँ था और इसकी शासनपद्धतिकी क्या विशेषता थी यह नहीं लिखा। जैन राजा खारवेलका अभिषेक महाराज्यके लिये हुआ था, इससे सम्भव है कि वहीं महाराज्य देश हो। यजुर्वेदके उल्लिखित १४वें मंत्रसे जाना जाता है कि इष्टका ऊर्ध्व दिशामें अधिपत्नी है। इससे समझा जाता है कि आधिपत्यका सम्बन्ध ऊर्ध्व दिशासे है। ऊर्ध्वका अर्थ उत्तुंग वा ऊँचा है। सम्भवतः इस आधिपत्यका सम्बन्ध भी किसी पार्वत्य देश से ही हो। खारवेलने विजय और राजसूय किये थे, इसलिये यह अधिपति और चक्रवर्ती दोनो था। पारमेष्ठ्य पद्धति कहाँ प्रचलित थी यह अज्ञात है, परन्तु अनुमान है कि इस पद्धतिमें परमेष्ठी वा राजा कुलपतिके समान होता होगा और उसे लोग अपना पिता वा पितामह समझकर उसके अनुवर्त्ती रहते होंगे। राज्य पद्धतिका प्रचलन कुरु पांचालों और उशीनर वा गान्धारके राज्योंमें था। यहाँके राजा राजा कहाते थे। सार्वभौम राज्यकी परिधि प्राकृतिक सीमाओं तक होती है, समस्त भूमि नहीं। कौटिल्यके मतसे[२] सार्वभौम राजाके राज्य-

---

१ Hindu Polity Pt. I p. 39

२ देशः पृथिवी ॥१७॥ तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचनं योजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् ॥१८॥ अधि० ९ अ० १

की सीमा हिमालयसे कन्याकुमारीतक है। शतपथ ब्राह्मणमें एक शब्द राज्य सम्बन्धी और आया है और यह है जानराज्य। इसके विषयमें यह भ्रम हो सकता है कि यह जनों वा सर्वसाधारणका राज्य था, परन्तु उस समय जनसत्तात्मक राज्योंका पता नहीं लगता; बहुत सम्भव है कि 'जन' शब्द कुल वा कुटुम्ब अर्थमें प्रयुक्त हुआ हो। अर्थात् वह जन विशेषका राज्य था, जैसे, भरतोंका राज्य, ऐक्ष्वाकुओंका राज्य आदि।

और भी राज्य पद्धतियाँ थीं।

कौटिल्यने वैराज्यके साथ द्वैराज्यकी भी चर्चा की है। उनके मतसे वैराज्य तो वह है जिसका कोई राजा न हो और द्वैराज्य वह है जिसमें दो राजा हों। पूर्वाचार्योंके मतसे द्वैराज्यसे वैराज्य अच्छा होता है, क्योंकि दोनो पक्षोंके द्वेष और अनुरागके कारण द्वैराज्य नष्ट हो जाता है, परन्तु वैराज्य प्रजाके विचारोंके अनुसार चलनेके कारण भोगा जा सकता है। इसके विपरीत कौटिल्यका कहना है कि द्वैराज्य पिता और पुत्रका अथवा दो भाइयोंका ही हो सकता है और उनका योगक्षेम समान ही होता है, इसलिये मंत्रियों द्वारा दोनोंका झगड़ा निपटाया जा सकता है। परन्तु वैराज्यमें जीवित शत्रुका उच्छेद करके भी कोई उसे अपना नहीं मानता, राजनीतिक संस्थाका भाव ही नहीं रहता, चाहे जो देशको बेंच सकता है, कोई अपनेको उत्तरदायी नहीं मानता और विरक्त होकर राज्यसे चला जाता है।[1] जैन आचारांग सूत्रमें दोरज्जाणि (द्वैराज्य) और वेरज्जाणि (वैराज्य) वा विरुद्ध रज्जाणिके सिवा अरायाणि (अराजक राज्य) गण रायाणि (गण राज्य) जुवरायाणि (यौवराज्य) का भी उल्लेख है।[2] उग्रकुल, भोजकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल और इक्ष्वाकुकुलके नाम भी पाये जाते हैं।

---

१ द्वैराज्यवैराज्ययोर्द्वैराज्यमन्यपक्षे द्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति ॥६॥ वैराज्यन्तु प्रकृतिचित्तग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यै-र्भुज्यत इत्याचार्याः ॥७॥ नेति कौटिल्यः ॥८॥ पितापुत्रयोर्भ्रात्रोर्वा द्वैराज्यं तुल्य योगक्षेमममात्यवग्रहं वर्त्तयेतेति ॥९॥ वैराज्ये तु जीवितः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति ॥१०॥ पण्यं वा करोति ॥११॥ विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति ॥१२॥ अधि० ८ अ० २.

२ आचारांगसूत्र दूसरा भाग २।१०।१०

अराजक राज्यका उल्लेख महाभारतमें भी है। वहां वह मात्स्य न्याय रूपमें ही दिखाया गया है, परतु वास्तवमें जब लोग मेलसे न चलने लगे और बली दुर्बलोंका पीड़न करने लगे, तब मात्स्यन्याय उत्पन्न हो गया और फिर राजक राज्यकी स्थापना की गयी। द्वैराज्य शासनपद्धति किसी समय अवन्तीमें थी जहां विन्दु और अनुविन्द राज्य करते थे। इन्हें दिग्विजय करते हुए सहदेवने हराया था।[1] छठी और सातवीं ईस्वी शताब्दीमें नैपालमें भी ऐसी शासनपद्धतिका प्रशस्तियोंसे पता लगता है। काठमांडूमें लिच्छिवी और ठाकुरी वंशोंके लेख भी मिले हैं। ये एक राजधानीके दो स्थानोंसे प्रचारित आज्ञाएं हैं, जिनकी तारीखोंसे जाना जाता है कि दोनों घराने एक साथ शासन करते थे। आश्चर्यकी बात तो यह है कि दोनो घरानोंमें कोई रक्त सम्बन्ध न था और फिर भी दोनो एक ही राज्यके राजा थे! यौवराज्य वह शासनपद्धति है जिसमें राजा अभिषिक्त होनेके पहले युवराज रूपसे शासन करता है। खार-वेलने ऐसे ही युवराज रूपसे शासन किया था और राज्य 'योवराजम् प्रसा-सितम्' था। विरुद्ध राज्यका अर्थ वह शासनपद्धति माना जाता है जिसमें बारी बारीसे पार्टियों वा दलोंका शासन होता था। ऐसा राज्य अन्धकवृष्णी संघका था। गण राज्योंमें तो कई कुलोंके लोग राज्य करते थे, पर कुलराज्योंमें कुल विशेष ही शासक होते थे। सम्भव है कुल राज्योंकी पद्धति ही पारमेष्ठ्य हो।

द्वैराज्योंके दो ऐतिहासिक उदाहरण

सारांश, राजाओंकी जिन पदवियोंकी चर्चा ऊपर हुई है, वे स्थान विशेषके राजाओंकी पदवियां ही न थीं, प्रत्युत् उन पदवियोंमें राज्य पद्धतिका वैशिष्ट्य भी था। राज्य एकतंत्री शासन, स्वराज्य प्रातिनिधिक शासन, साम्राज्य अधीन राजाओंपर शासन, वैराज्य प्रजातंत्र शासन, पारमेष्ठ्य कुलपतिप्रमुत्वमूलक शासन, समन्त-पर्यायी सार्वभौम शासन अंगरेजोंद्वारा भारतके शासन सदृश था। साम्राज्य चक्रवर्तित्व है। चक्रवर्ती, परमेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, अखण्ड भूमिप, राजराज, विश्वराज और

राजाओंकी ये उपाधियां सार्थक थीं।

---

१ ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महतावृतौ॥

चतुरन्तेश इत्यादि अन्य पदवियां भी राजाओंकी मिलती हैं। चक्रवर्त्ती वा चक्रवर्त्तीका प्रयोग बौद्ध साहित्यमें भी देखा जाता है और वहाँ अभिप्राय सार्वभौम राजासे है। संस्कृतमें चक्रवर्त्तीके दो अर्थ बताये जाते हैं। पहला अर्थ तो यह है कि जिस राजाके रथके चक्र वा पहिये बेरोक टोक सर्वत्र घूमते रहें, वह चक्रवर्त्ती अर्थात् संसारका अधिपति, चक्रका शासक, इस समुद्रसे उस समुद्रतक जिसके राज्यका विस्तार हो। दूसरा अर्थ यह है कि जिस राजाके हाथमें चक्रका चिह्न हो और जिसका पराक्रम देवता भी न सह सकें, वह चक्रवर्ती है। परमभट्टारक, परमेश्वर और महाराजाधिराजका प्रयोग चक्रवर्त्ती अर्थमें ही होता है। डा० फ्लीटका कहना है कि चक्रवर्त्तीका अर्थ 'प्रभुराजा' है, पर यह प्रभु अपने राज्यमें प्रभु रहता है। यह आवश्यक नहीं कि समग्र भारतपर उसका शासन हो। इससे जान पड़ता है कि पिछले दिनों इन पदवियोंमें वास्तविकताकी अपेक्षा कवित्व अधिक रह गया था।

———

पौर और जानपद

पुरमें रहनेवाला पौर और जनपदमें रहनेवाला जानपद कहाता है, जैसे नगरमें रहनेवाला नागर कहा जाता है। परन्तु इन सबके पारिभाषिक अर्थ भी हैं। राजनीतिक अर्थसे पौर और जानपद संगठित राजनीतिक और म्युनिसिपल संस्थाएँ सिद्ध होती हैं।

पौरके दो रूप तथा पौरके सदस्यका सम्मान

रामायणमें पौरका जो वर्णन मिलता है, उससे जाना जाता है कि उसके दो रूप थे एक अन्तरङ्ग सभा और दूसरा बहिरंग सभा। अन्तरंग सभामें बहुधा नगरवृद्ध होते थे। कदाचित् इसी लिये व्यास स्मृतिमें कहा गया है कि वह सभा सभा ही नहीं है जिसमें वृद्ध न हों और वे वृद्ध वृद्ध ही नहीं हैं, जो धर्म न कहें तथा वह धर्म धर्म ही नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य सत्य ही नहीं, जिसमें छल मिला हो।[1] पौरके सदस्यके तो अधिकार थे ही, भूतपूर्व सदस्यके भी थे चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो। गौतम सूत्रमें बताया गया है कि जब पौरका भूतपूर्व शूद्र सदस्य आवे, जो चाहे ८० वर्षसे न्यून वयका ही क्यों न हो, तो भी ब्राह्मणको उसके सम्मानार्थ खड़े हो जाना चाहिये। इससे जान पड़ता है कि पौरमें शूद्र भी होते थे और सभी वर्णोंकी वह प्रतिनिधि संस्था होती थी। पौरका लेखक कदाचित् पुर-कायस्थ[2] कहाता था। तथा पौरके लेखोंकी संज्ञा लौकिक लेख्य थी, जिससे राजकीय लेख्योंसे इनकी भिन्नता जानी जाती है।

ईस्वी सन् ४८८ वा गुप्त संवत् १६९ का जो ताम्रपत्र मिला है, उससे उस समयकी पौर संस्थाके संगठनपर भी प्रकाश पड़ता है। उससे जाना जाता है कि उस समय पौरमें अयुक्त वा नागरक और

पौरके संगठनके विषयमें एक ताम्रपत्र

नगरश्रेष्ठ, कारीगरोंका मुखिया वा प्रथम कुलिक, प्रथम सार्थवाह, बारबरदार, काफिलेका सरदार और प्रथम कायस्थ होते थे। और कौन होता था मालूम नहीं। जब कोई किसी ब्राह्मण वा मन्दिरके लिये कुछ भूमि दान करना चाहता

---

१ न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

२ आज भी बंगालमें पुरकायस्थ उपाधिधारी लोग पाये जाते हैं।

था, तब पौर सभा उसकी इच्छा पुस्तपाल वा मुहाफिज दफ्तरको बताती थी और इस प्रकारके दानसे राज्यको जो धन और राजाको जो पुण्य मिलता था, उसका विचार कर वह सम्मति दे दिया करता था।

पौरके कार्योंके तीन भाग किये जा सकते हैं शान्तिक, पौष्टिक और धार्मिक। शान्तिक कर्मका सम्बन्ध पुरकी रक्षासे था। जान पड़ता है कि जैसे

पौरके कार्य और अधिकार

पहले अंगरेजी भारतमें नगरमें शान्ति सुव्यवस्थाके लिये म्यूनिसिपल पुलिस थी, वैसी ही पौर पुलिस होती थी, जिसका काम शान्तिरक्षा था। पौष्टिक कर्म (productive work) वह था जिससे पुरकी आर्थिक उन्नति होती थी। धार्मिक वा न्यायकर्मका सम्बन्ध म्यूनिसिपल व्यवस्थासे तो था ही, पर लेन देन जमीन जायदादके दीवानी मामलोंका विचार भी पौर सभा कर सकती थी। पौर न्यायालयका अधिकारी (Municipal Magistrate) कुलिक कहाता था जिसका निर्णय राजा स्वीकार करता था। सभागृह, प्रपा (पौंसला), तटाक (तालाब), आराम (पान्थशाला वा उपवन) और देवगृहकी मरम्मत कराने और सुव्यवस्था रखनेका काम पौरके हाथमें था। पौरको राजकीय टकसालसे अपने नामके सुवर्ण नाणक वा सोनेके सिक्के ढलवा लेने का भी अधिकार था। उल्लिखित कार्योंके सिवा पौरको राजकार्यमें सहायता और सम्मति देनेका सम्मानपूर्ण अधिकार प्राप्त था।

पौरके साथ ही नैगम शब्द भी आता है। यह व्यापारियोंकी संस्थाका वाचक है। सम्भवतः आजकलकी चेम्बर ऑव कॉमर्सकी भांति यह नैगम संस्था हो। इसे भी नाणक ढलवा लेनेका अधिकार था। पौरमें नैगमका

नैगमका महत्त्व

प्रभाव वैसा ही था जैसा आज म्यूनिसिपल कार्पोरेशन वा ऐसम्बलीमें चेम्बर ऑव कॉमर्सका है। यही कारण है कि उस समय नगरश्रेष्ठ पौरमुख्य वा प्रेसिडेंट बनाया जाता था। वीर मित्रोदयमें पौर, ग्राम और गण वर्गों वा संगठित दल बताये गये हैं, पर यह नहीं जान पड़ता कि पौरमें एकाधिक वर्ग वा पार्टी थी। नैगमकी बैठकें उसके सभा भवनमें हुआ करती थीं।

पौरके साथ ही एक दूसरा शब्दभी है जिससे इसका चोली दामनका साथ देखा जाता है। यह है जानपद। जानपद यद्यपि जनपदभरकी संस्था थी, तथापि वह पौरसे मिलकर ही काम करती थी, इसलिये इसका कार्यालय भी पुरमें

ही रहता था। पौर जानपदके संयुक्त अधिवेशन महत्त्वपूर्ण कार्योंपर विचार करनेको हुआ करते थे। पौरजानपद संस्थाएं जैसे किसी कुमारके यौवराज्यका समर्थन करती थीं, वैसे ही किसीके अभिषेकका विरोध कर उसमें बाधा भी डाल सकती थीं। महाभारतसे[1] जाना जाता है कि प्रतीपने अपने ज्येष्ठ कुमार देवापिका अभिषेक करनेकी पूरी तैयारी कर ली थी, परन्तु ब्राह्मणों, वृद्धों और पौर-जानपदने यह कहकर इसका विरोध किया कि हीनाङ्ग राजाका अभिनन्दन देवता नहीं करते, क्योंकि देवापि कोढ़ी था। इसपर देवापिका अभिषेक नहीं हुआ और मंझले भाई बाह्लीककी अनुमतिसे छोटे शान्तनुका अभिषेक हुआ। मृच्छकटिक नाटकसे[2] पौरजानपदकी एक और शक्तिका पता लगता है और वह यह कि पदच्युत राजाके स्थानपर दूसरेको सिंहासनपर बैठा देने की क्षमता भी इनमें थी। राजा सिंहासनच्युत कर दिया गया था, क्योंकि सार्थवाह विनयदत्तके नाती सागरदत्तके पुत्र चारुदत्तके साथ उसने अन्याय किया था। पौरको जब पदच्युत राजाके भाईने आश्वासन दिया कि मैं न्याय-व्यवहार करूँगा, तब इसे राज्य मिल गया। इसके बाद जनपदसमवाय वा सभाशालामें इस क्रान्ति वा विवर्त्तनका सन्देश लेकर जब मनुष्य पहुँचा, तब उसने पौर रूपसे उसे सम्बोधन करके कहा कि संस्थानकको दण्ड दीजिये। सिंहलके पुराण महावंशके[3] अनुसार भारतके पौर अधार्मिक कार्योंके लिये राजा-को पदच्युत कर सकते थे और अपनी सभामें लोकहितकी दृष्टिसे राजवंशके बाहरके भी किसी मनुष्यको सिंहासनपर बैठानेका निश्चय कर सकते थे। दशकुमार चरितकी इस बातसे भी पौर-जानपदकी शक्तिका पता लगता है कि राजाके भाइयोंका पौर-जानपदसे मेल है, इसलिये वक्ताको आशंका है कि यदि राजा मर जाय, तो उसके भाइयोंको ही सिंहासन मिलेगा।[4] महा-भारतमें लिखा है कि जिस मंत्रीपर पौर-जानपदका विश्वास हो, राजा उसी

पौरजानपदका महत्त्व राजकार्यमें

---

१ उद्योगपर्व अ० १४९ श्लोक १३ से २८।

२ चारुदत्तका विचार अंक ९।१०

३ महावंश ४ (५-६)

४ तीसरा परिच्छेद

को मंत्र और दण्डका अधिकारी बनावे।[1] इसके दो अध्यायोंके बाद बताया गया है कि राज्य सम्बन्धी जिस मंत्रपर राजाने मंत्रि-परिषदमें विचार किया हो, उसे राष्ट्रीय वा जानपदके अध्यक्षको दिखावे और राष्ट्रमें भेजे।[2] सम्भवतः यह असाधारण करके विषयमें है जिसे लगानेके लिये पौरजानपदकी अनुकूलता की आवश्यकता होती थी। पौरजानपदके विश्वास और सदिच्छापरही बहुत अधिक मात्रामें मंत्रियोंका कार्यकाल अवलम्बित रहता था। स्कन्दगुप्तके काठिया-वाडके शासक मंत्री चक्रपालितके शासनपत्रमें लिखा है कि पौरोंने मुझपर विश्वास किया और कुछ ही समयमें मैंने पौरवर्गको सन्तुष्ट कर लिया। अन्त में उसने प्रार्थना की है कि नगरकी समृद्धि हो और वह पौरवर्गके अनुकूल हो।[3]

साम्राज्योंमें प्रादेशिक पुर भी होते थे और उनमें स्वतंत्र पौर संस्था भी होती थी। दिव्यावदानसे जाना जाता है कि एक बार तक्षशिलाके पौर वहांके मंत्रियोंके दुर्व्यवहारसे विरुद्ध हो गये थे। यह सुनकर राजा अशोक आप वहां जानेको तैयार हुआ। इसपर मंत्रियोंने कहा, 'महाराज, कुमारको भेजिये।' राजाने कुनालको बुलाकर कहा, 'बेटा कुनाल, लोगोंको शान्त करने तक्षशिला जाओ।' कुनाल तक्षशिला पहुँचा। उसका आग-मन सुन तक्षशिलाके पौर आगेसे पहुँचकर मार्गशोभा (जुलूस) बनाकर और शोभा (नगर सजाकर) पूर्णकुम्भ लेकर पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले, 'न हम कुमारके विरुद्ध हैं और न राजा अशोकके। दुष्ट अमात्य आकर हमारा अपमान करते हैं।'[4] कदाचित् इसीपर अशोकने अपने शिलालेखमें आज्ञा दी थी कि तक्षशिलाके मंत्री प्रति तीसरे वर्ष बदल दिये जाया करें। ....

पौरोंके विरोधका ऐतिहासिक उदाहरण

---

१ तस्मै मंत्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥२५॥
पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासो धर्मतोगताः ॥शां० अ० ८३

२ अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥११॥
ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्। शां० अ० ८५

३ विश्रम्भमल्पेन शशाम योऽस्मिन् कालेन लोकेषु स नागरेषु।
यो लालयामास च पौरवर्गान्........॥
जूनागढ़ शिलालेख ४५७-८ ई०
नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौरजुष्टम्। p. 6

४ राज्ञोऽशोकस्योत्तरापथे तक्षशिला नगरं विरुद्धम्। श्रुत्वा च राजा स्वय-

पौर जो प्रस्ताव पास करते थे, वे कानून समझे जाते थे। उनकी संज्ञा 'समय' थी। मनु और याज्ञवल्क्यने इन समयोंको धर्म (क़ानून) माना भी है। 'समय', 'स्थिति' और संविद्' वा 'देशस्थिति' भी मन्तव्योंको कहते थे। स्थितिका अर्थ दृढ़ वा अटूट था। इसका प्रयोग देशके प्रत्येक मनुष्यपर हो सकता था। जानपदके समयकी संज्ञा 'संविद्' थी। ये राजाके हितके विरुद्ध भी होते थे, इसलिये कई स्मृतिकारोंका कहना है कि उन्हीं संविदोंका प्रयोग किया जाय जो राजाके विरुद्ध न हों।

पौर-जानपदमें नित्य काम होता था और राजा भी उनके कार्योंका निरीक्षण किया करता था। पौरजानपद अपने अपने कार्योंका विचार अपनी अपनी सभाशालाओंमें किया करते थे। उनके चत्वर वा चौतरे भी थे, जिनमें कदाचित् सार्वजनिक सभाएं होती थीं। इस प्रकार

निष्कर्ष

अ— पौरजानपद किसीको राज्यका उत्तराधिकारी मनोनीत कर सकते थे।

आ—राजपरिवारके किसी मनुष्यपर पौरजानपदका कृपाभाव रहनेसे वह गद्दी पा सकता था।

इ—पौरजानपद किसी राजाको पदच्युत कर सकते थे।

ई—मंत्रिपरिषद्में राज्यकी जो नीति स्थिर होती थी, उसकी सूचना पौरजानपदको देना राजाका कर्त्तव्य होता था।

उ—नये कर लगानेके लिये राजा पौरजानपदकी अनुकूलता और अनुग्रह प्राप्त करनेका प्रयत्न करता था।

ऊ—किसी मंत्रीपर पौरजानपदका विश्वास होना उसके प्रधानमंत्री होनेकी योग्यता थी।

मेवाभिप्रस्थितः। ततोऽमात्यैरभिहितः। देव, कुमारः प्रेष्यताम् स संनामयिष्यति। अथ राजा कुनालमाहूय कथयति। वत्स कुनाल गमिष्यसि तक्षशिला नगरं संनामयितुम्। कुनाल उवाच। परं देव गमिष्यामि......
... ..अनुपूर्वेण तक्षशिला मनुप्राप्तः। श्रुत्वा च तक्षशिला-पौरा अर्धत्रिकानि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गताः। प्रत्युद्गम्य कृताञ्जलिरुवाच। न वयं कुमारस्य विरुद्धा न राज्ञोऽशोकस्यापितु दुष्टात्मानोऽमात्या आगत्यास्माकमपमानं कुर्वन्ति।

ए—जो राजा अशोककी भांति नये धर्मका प्रचार करना चाहता था, वह-पौरजानपदसे आदरपूर्वक परामर्श करता था, जो अपने देशके लिये राजा से औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक अधिकार चाहते थे।

ऐ—पौरजानपदका क्रोध प्रशास्ताओं और प्रादेशिक मंत्रियोंका सर्वनाश कर सकता था।

ओ—सार्वजनिक घोषणामें राजा अत्यन्त मीठे शब्दोंमें पौरजानपदकी चर्चा करता था।

औ—पौरजानपद राजाके हितके विरुद्ध 'संविद' बना सकते थे।



राष्ट्रगुप्ति वा राष्ट्ररक्षा

राष्ट्ररक्षाकी पद्धतिका नाम राष्ट्रगुप्ति है अथवा दण्डनीतिका सुप्रयोग वा सद्व्यवहार ही राष्ट्रगुप्ति है। इस राष्ट्रगुप्तिके दो मुख्य अंग हैं स्वराष्ट्रनीति और परराष्ट्रनीति। शासन-व्यवस्था और देशरक्षा स्वराष्ट्रनीतिके अधीन हैं और षाड्गुण्य परराष्ट्रनीतिके। दण्डका सम्बन्ध दोनोंसे है, क्योंकि चतुरङ्ग बल वा अष्टाङ्ग बलके रूपमें वह षाड्गुण्यका सहायक है और परराष्ट्रके आक्रमणसे देशरक्षाका भार भी इसीपर है। इसके साथ ही शासनव्यवस्था भी इसीपर अवलम्बित है, क्योंकि दण्डके भयसे लोग धर्मका उल्लङ्घन नहीं करते और धर्मसे विचलित मनुष्यको सुमार्गपर लानेवाला भी दण्ड ही है। इन कार्यों के लिये चारों, न्यायालयों और देशशान्तिक सैन्यका प्रयोजन होता है।

राष्ट्रगुप्ति और उसके भेद

देशकी आभ्यान्तरिक शान्तिके लिये जिस प्रकार मिलिटरी पुलिस रहती है, उसी प्रकार हिन्दू राजत्वकालमें 'गुल्म' रहा करते थे। महाभारतमें बताया गया है कि दुर्गों, सीमाओं, नगरके उपवनों, पुरोंके उद्यानों, सब संस्थाओं, सब पुरों और नगरोंमें ही नहीं, राष्ट्रके मध्य और राजप्रासादमें भी गुल्म रखने चाहिये।[1] एक गुल्ममें ४५ पदाति, २७ अश्व, ९ रथ और ९ हाथी होते थे। कौटिल्यने समस्त राष्ट्रके लिये एक राष्ट्रपालकी व्यवस्था बतायी है जिसका वार्षिक वेतन १२००० पण निर्दिष्ट किया है। यह एक प्रकारका इन्सपेक्टर जेनरल था, जिसके अधीन गुल्म भी होते थे। इसके साथ ही सीमाकी रक्षाके लिये एक अन्तपालकी योजना भी उन्होंने की है। इसका वेतन भी राष्ट्रपालके समान ही था और इसका काम था कि शत्रुको स्वराष्ट्रमें प्रवेश न करने दे।

राज्यरक्षाकी व्यवस्था

---

१ न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव हि ॥६॥
संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥७॥ शां० अ० ६९

किसी राज्यमें दो प्रकारसे अशान्ति होती है एक परचक्रसे और दूसरे अपनी प्रजामें विरक्ति वा अनाचार उत्पन्न होनेसे। अन्तपालके अधीन सीमान्तमें गुल्मोंकी व्यवस्थासे शत्रु आक्रमणका साहस नहीं कर सकता था। राजाके प्रति युवराज, कुमारों, मंत्रियों, सामन्तों तथा अन्य कर्मचारियोंके ही नहीं, प्रजाके भी क्या भाव हैं यह जाननेके लिये अनेक वेषोंमें गुप्तचर वा चार रहा करते थे और अपने कार्यों का विवरण अपने अफसरोंको दिया करते थे। जिन अधिकारियोंको विरक्तिके यथेष्ट कारण होते, उन्हें धन और सम्मानसे राजा सन्तुष्ट करता था और जो षड्यंत्र करते रहते और जिनकी विरक्तिके ठीक ठीक कारण न होते, उन्हें गुप्त रीतिसे दण्ड देता था। जो राज्यके सुशासनमें बाधा डालते थे, उनपर भी चारोंकी दृष्टि रहा करती थी। ये चार वर्तमान समयके सी० आई० डी० की तरह थे।

देशमें अशान्तिके दो प्रकार

न्यायव्यवस्थाके लिये दो प्रकारके न्यायालय थे, जिनमें एक कण्टक-शोधन और दूसरे धर्माधिकरण कहाते थे। कण्टकशोधन न्यायालय राज-नीतिक अपराधियोंका विचारकर उनके लिये दण्ड विधान करते थे। ये ही अनाचारियोंको विचार कर दण्डित करते थे। एक प्रकारसे ये खास अदालत वा स्पेशल ट्राइब्यूनल और फौजदारी अदालतका काम करते थे। दीवानी मामलों वा लेनदेन, घरद्वार, जमीन जायदादका विचार करनेके लिये धर्माधिकरण थे।

न्याय व्यवस्था

राष्ट्रगुप्तिका मूलाधार शासनव्यवस्था है, क्योंकि इसके बिना राज्यमें न सेना रह सकती है और न न्यायालय। इसलिये किसीको एक ग्रामपर, किसीको १० और किसीको २० ग्रामोंपर, किसीको सौ और किसीको सहस्र ग्रामोंपर नियुक्त करनेकी सम्मति कौटिल्य-ने दी है। इनमें प्रत्येक अधिकारी अपने ऊपरवाले अधिकारीको प्रजाके दोष बताया करता और प्रजाकी रक्षामें यत्नशील रहता था। यही नहीं, एक ग्रामाधिकारी दस ग्रामोंके अधिकारीको कर भी दिया करता था। इन सब ग्रामपतियोंके ग्राम और संग्राम वा ग्राम-समूह संबंधी कार्योंकी देखभालके लिये एक निरालस विचक्षण मंत्री और प्रत्येक नगरकी देखभालके लिये एक सर्वाध्यक्ष नियुक्त करनेकी सम्मति भी कौटिल्यने दी है। ग्रामाधिपतियोंका यह भी कर्त्तव्य था कि चोर-डाकुओंसे

शासन व्यवस्था

अपने अधीन लोगोंकी रक्षा ही न करें, वरंच अपने ग्रामके चारो ओरके भूभागको दो मील तक चोरोंसे शून्य कर दें। यदि ग्रामाधिपतिके अधीन अधिक भूमि हो, तो चारो ओर आठ मीलतक डाकुओंसे सुरक्षित रखना चाहिये। प्रजाकी कोई वस्तु यदि चोरी जाती, तो ये उसकी क्षति पूर्त्ति करने को बाध्य थे।

कौटिल्यके मतानुसार राष्ट्र वा जनपदको करसंग्राहक वा समाहर्त्ता चार भागोंमें बाँटे तथा फिर ग्रामको ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम श्रेणियोंमें विभक्त करे। कौन ग्राम किस प्रकार राष्ट्रकी सहायता करनेमें समर्थ है यह जाननेके लिये परिहारक, आयुधीय, धान्य पशुहिरण्यदाता, कुप्यदाता और विष्टिदाता वर्गोंमें ग्रामोंको बांटना चाहिये। जो माफीके गांव हैं वे परिहारक, जो योद्धा दे सकते हैं वे आयुधीय, अन्नपशु आदि दे सकते हैं, वे धान्यपशुहिरण्यदाता, जो वन्य पदार्थ दे सकते हैं वे कुप्यदाता और जो नौकर चाकर, मजूर या बोझ ढोनेवाले दे सकते हैं, वे विष्टिदाता कहाते थे। फिर दस दस पांच पांच गांवोंपर 'गोप' नामक अधिकारी को नियुक्त करनेको कहा है। यही कारिन्दा, तहसीलदार और पटवारी होता था तथा ग्राम पंचायतका सरपञ्च भी था। जनपदको जिन चार भागोंमें बाँटने को कहा है, उनमें प्रत्येक अधिकारी की संज्ञा स्थानिक होती थी।

गावोंकी व्यवस्था और कार्यके लिये उनकी क्षमताका विवरण

समाहर्त्ताको ग्रामोंकी सीमा, खेतीकी भूमि, पड़ती भूमि, स्थल (ऊँची भूमि), केदार (साठी आदिके खेतोंकी भूमि), आराम (नगरवाटिका), षण्ड (केलेके खेत), वाट (ऊंखारी), वन (लकड़ीके जंगल), देवालय, सेतुबन्ध, (पब्लिक वर्क्स), सत्र (सदाव्रतके स्थान), प्रपा (प्याऊ वा पौंसला) पुण्यस्थान, विवीत (चरागाह) तथा रथ, गाड़ी और पैदल आने जानेके मार्गोंका व्योरा अपनी पुस्तकमें लिखना चाहिये। ग्रामोंके स्त्रीपुरुषों, बच्चों और वृद्धोंकी संख्या, वर्णों, व्यवसायियोंकी संख्या तथा लोगोंकी आजीविकाका भी विवरण उसमें लिखना चाहिये। पशुओंकी गणना भी लिखी रहे। आयका परिमाण व्योरेवार अर्थात् अलग अलग लिखे कि इतना हिरण्य, इतनी विष्टि, इतना कुप्य, इतना शुल्क और इतना दण्ड प्राप्त हुआ।

भूमिका विवरण और आयका व्योरा

समाहर्त्ताकी भांति ही नागरक वा नगराध्यक्षको नगरकी व्यवस्था करनी चाहिये। नगरका विभाग कुलोंके अनुसार करे तथा दस, बीस और चालीस कुलोंपर 'गोप' नामक अधिकारी रखे। ये मुहल्ले वा वार्ड नगर और उसका थे। इनके वर्ण, गोत्र, नाम और आयका पता गोपको रहे।

विवरण जनपदकी भांति दुर्ग भी चार भागोंमें बांटा जाय और और प्रत्येक भाग 'स्थानीय' के अधीन रखा जाय। समाहर्त्ता और नागरक आदि कर्मचारी व्ययको अलग लिखकर शुद्ध (net) आय ही दिखावें। भीतर और बाहर जो काम किये गये हों, चाहे लुक छिपकर किये गये हों या खुल्लमखुल्ला अथवा विघ्नपूर्वक वा उपेक्षापूर्वक किये गये हों, सब अपनी पुस्तकमें लिख लें और राजाके सामने स्पष्ट रखें।

तृतीय भाग

१ राज्यका आयव्यय

राजनीतिशास्त्रके अनुसार राजा दण्डधर और योगक्षेमवाह ही नहीं हुआ था, वरञ्च उसके लिये दण्ड और कोशकी व्यवस्था भी प्रजाने कर दी थी। शुक्रनीतिसारके मतसे कोशका मूल बल है और बलका मूल कोश है।[1] बलका ही नामान्तर दण्ड है, इसलिये कोश और दण्डका अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है। राजाके पास यथेष्ट बल होगा, तभी वह प्रजाकी रक्षा कर सकेगा और जब राजा प्रजारक्षण आदि अपने कर्त्तव्योंका पालन करेगा, तभी प्रजा उसे कर देगी और राजाके पास कर आवेगा, तभी उसका कोश भरेगा और जब राजाका कोश भरा होगा, तभी राजा बलकी व्यवस्था कर सकेगा। जो राजा इस साधारण कर्त्तव्यका पालन नहीं करता, वह कर रूपी वेतनका अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिये राजकोश दण्डमूलक है और दण्ड वा बल कोशमूलक है।

कोश और बलका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

राजाकी आयके मुख्य दो द्वार हैं एक वार्त्ता और दूसरा दण्ड। वैवस्वत मनुको निर्वाचित कर जब प्रजाने मात्स्यन्यायका अन्त किया, तब उन्हें अपने धान्यका छठा भाग, पण्यका दसवां भाग और कुछ सुवर्ण दिया।[2] महाभारतके अनुसार प्रजाने मनुको कोशवृद्धिके लिये पशुओं और हिरण्यका पचासवां भाग देना निश्चय किया था।[3] इसलिये सबसे पहले यही राजस्व वा राजकर था, जो राजवेतन कहलाया था। परन्तु राष्ट्रका बढ़ता हुआ व्यय इतनेसे ही

राज्यकी आयके दो मुख्य मार्ग

---

१ बलमूलो भवत्कोशः कोशमूलो बलं स्मृतम् ॥१२१॥ अ० ४

२ मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥६॥ धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्यभागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥७॥

१ अधि० अ० १३

३ पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥२३॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥२४॥ शां० अ० ६७

पूरा नहीं हो सकता था। इसलिये आयके अन्य मार्गोंका विचार किया गया। प्रारम्भमें राजाके लिये ही कोशका प्रयोजन था, अनन्तर सेना, मंत्रियों और अन्य कर्मचारियोंको वेतनादि देनेके लिये धनकी आवश्यकता हुई, इसलिये नये नये राजकरों वा राज्यकरोंकी कल्पना की गयी।

राजा निरङ्कुश कभी नहीं होता था और जब निरङ्कुश हो जाता था, तब उसके राजत्वका अन्त हो जाता था। इसलिये आयव्यय सम्बन्धी भी कुछ नियम थे। पाश्चात्य देशोंमें अनियंत्रित राजशक्ति नियंत्रित कोशकी व्यवस्था होनेसे ऐसे नियम बनाये गये कि राजा भी उनका उल्लङ्घन करनेका साहस न कर सकने लगा। हिन्दू राज्यशास्त्रमें राजकरके नियम तो पहलेसे ही थे, जिनका उल्लंघन राजा प्रजा किसीके लिये सहज नहीं था। परन्तु फिर भी राजकोशकी सुव्यवस्थाके लिये शुक्रनीतिसारका यह विधान बड़े कामका है कि आयके चार भाग किये जायं, एक मंत्रियोंके लिये, दूसरा अन्य अधिकारियोंके लिये, तीसरा अपने लिये और चौथा कोशमें डालनेके लिये।[1] अभिप्राय यह था कि राज्यकी आयका चतुर्थ भाग सदा रिजर्व फण्ड वा रक्षित निधिमें रहे और तीन चतुर्थ भागोंसे ही राज्यका व्यय निर्वाह किया जाय। कौटिल्यका भी मत है कि दुर्ग वा नगर और जनपद वा राष्ट्रकी शक्तिके अनुसार आयका चौथा कर्मचारियोंके लिये व्यय करना चाहिये। यदि अधिकसे योग्यतर कर्मचारी मिलें, तो उन्हें अधिक वेतन भी दिया जाय।[2]

राजकर राजाका वेतन है यह शुक्रनीतिसारका ही नहीं, महाभारतका भी मत है और कौटिल्यने तो यह स्पष्ट ही कह दिया है कि राजाके समान योग्यतावाले कर्मचारीका जितना वेतन हो, उसका तिगुना राजाका वेतन राजाका होना चाहिये।[3] इग्लैंण्डके राजाका वेतन वा सिविल लिस्ट राज्यारोहणके समय निश्चित हो जाता है, परन्तु कौटिल्यने उसका निर्द्धारण राज्यकी आयके आधारपर नहीं, राजाके गुणोंके आधारपर किया है। शुक्रनीतिसारने राजाको स्वामित्व और दासत्व

---

१ अर्द्धांशेन प्रकृतयो ह्यर्द्धांशेनाधिकारिणः।
अर्द्धांशेनात्मभोगश्च कोशो शेषेण रक्ष्यते ॥२१७॥ अ० १

२ दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदायपादेन स्थापयेत् ॥१॥ कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत ॥२॥ अधि० ५ अ० ३

३ समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा·········॥२३॥ अधि० ५ अ० ३

दोनो इसी प्रसङ्गमें दे दिये हैं। कहा है कि परमेश्वरने राजाको स्वामी रूपसे प्रजाका दास बनाया है, जो निरन्तर पालन करनेके कारण कर रूपसे अपना वेतन पाता है।[1] महाभारतमें कहा गया है कि शास्त्रानुसार एकत्र किया हुआ बलिका छठा भाग, शुल्क और अपराधियोंका दण्ड तुम्हारे वेतन रूपसे तुम्हारी आय है।[2] कौटिल्यने मंत्री, पुरोहित, सेनापति जैसे मुख्याधिकारियोंका वेतन ४८००० पण बताया है। इसका तिगुना राजाका वेतन हो तो वह १४४००० पण वार्षिक होगा।

कौटिल्यके अनुसार व्ययके खाते

कौटिल्यने राज्यके व्ययके ये आठ अंग बताये हैं:—(अ) राजाका धर्म-कार्य, (आ) राजाका गृहव्यय, (इ) दूतप्रेषण, (ई) भाण्डार, कुप्य-गृह, पण्यगृह और कर्मान्त, (उ) विष्टि वा बारबरदारी, (ऊ) आयुधागार तथा चतुरंगबल, (ऋ) पालतू तथा जंगली जानवरोंकी रक्षा और (ए) लकड़ी, घास, वनस्पति तथा बगीचे। वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दोंमें इस व्ययके ये खाते होते हैं:—(१) राजाका निजी खर्च (सिविल लिस्ट) तथा राजपरिवारके अन्य लोगोंका वेतन, देवपितृपूजा, दान, स्वस्तिवाचन वा वेद पाठ, अन्तःपुर, महानस वा पाकशालाके व्यय उल्लिखित (अ) और (आ) के अन्तर्गत आ जाते हैं। (२) परराष्ट्र विभाग (३) राजकीय कोष्ठागार, जंगली चीजोंका भांडार, बिक्रीके मालका गोदाम और खेतीका सामान, (४) सेना विभाग और बारबरदारी, (५) पशुशाला और वन्य पशुओंकी कौतुकशाला और (६) जंगल विभाग। इस सूचीमें नौबल और चारबलकी चर्चा नहीं है और इसमें मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियोंके वेतनादिकका कोई हिसाब नहीं रखा गया है। सम्भवतः विभागोंके व्ययमें अधिकारियोंका वेतन आ जाता हो, क्योंकि अर्थशास्त्रमें अधिकारियों और उनके वेतनोंकी लम्बी सूची है।

यूनानी लेखकोंके वर्णनोंसे जाना जाता है कि मौर्य साम्राज्यमें सिंचाई और सड़कोंकी अच्छी व्यवस्था थी तथा कारुशिल्पियोंकी रक्षा, पोत तथा शस्त्रास्त्र

---

१ स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥१८७॥ अ० १

२ बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥१०॥ शां० अ० ७१

राजाओंके प्रजा-हितकर कार्य

बनाने और रुग्णालयोंका सुप्रबन्ध था। इन कामोंमें साम्राज्यकी चौथाई आय चली जाती थी। मौर्योंके बाद गुप्तों तथा कश्मीर, द्रविड़ और सिंहलके राजाओंने भी प्रजाहितके बहुतसे काम कर रखे थे। दक्षिणके चोल राजा तो सड़कोंकी स्वच्छता, लोगोंकी स्वास्थ्यरक्षा और नगरोंकी सुन्दरता बढ़ानेमें राजकोशसे धन दिया करते थे। पाण्ड्य राजा साहित्यपरिषदोंको धन देते थे और गुप्त तथा पाल राजा विश्वविद्यालयोंके लिये अर्थ व्यय करना कर्त्तव्य समझते थे। नालन्दा विश्वविद्यालयके दस हजार विद्यार्थियोंकी शिक्षा आदिकी सुव्यवस्था राज्यकी ओरसे ही थी। ईस्वी सातवीं शताब्दीमें वर्द्धन और चालुक्य सम्राटोंने मन्दिर और विहार राजकोशसे बनवाये थे। कलाशालाएँ और संग्रहालय भी थे। यद्यपि आजकलकी तुलनामें प्रजाहितके बहुतसे कार्य नहीं होते थे, तथापि समयके देखते जो होते थे, वे नगण्य नहीं थे। प्रजा भी सब कामोंमें हाथ बटाती थी। गुप्त साम्राज्यमें पाटलिपुत्रके लोगोंने रुग्णालय बनवाये थे। आन्ध्रके सेनानायक उशवदत्तने नासिकके गोवर्द्धन स्थानमें निज व्ययसे पहाड़ी गुफा बनवायी थी, ३ लक्ष गायोंका दान किया था; नदीका घाट और सीढ़ियां बनवायी थीं और १६ गाँव धर्मार्थ लगा दिये थे। और भी अनेक कार्य किये थे।

महाभारतमें खान, लवण, शुल्क, तर (उतारा) और हाथियोंके जंगलोंपर हितैषी आप्त पुरुषों वा अमात्योंको नियुक्त करनेका जो उपदेश दिया गया है, उससे आयके इन और मार्गोंका पता लगता है।[1] कौटिल्यने भी कहा है कि

आयकी दृष्टिसे खनिका महत्त्व

कोशकी उन्नति खानोंसे होती है और कोश उन्नत होनेपर ही सेना भी तैयार की जा सकती है, कोशसे भूषित पृथिवी कोश और दण्ड द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसका अभिप्राय यही है कि खानोंसे सोना, चांदी, लोहा, तांबा आदि धातुएँ, हीरा, माणिक्य, नीलम आदि मणि, लवण आदि रस प्राप्त होते हैं तथा सोना चांदी यथेष्ट मात्रामें कोशमें रहनेसे सेना खड़ी की जा सकती है और फिर कोश और सेनाकी सहायतासे धन सम्पन्न देश जीते जा सकते हैं।

कौटिल्यने आयके ७ द्वार वा अंग माने हैं, जिनमें दुर्ग और राष्ट्रके

---

१ आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥२९॥ शां० अ० ६९

सिवा खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक् पथ हैं। खनि खानें हैं जिनसे धातु, पत्थर, मिट्टी रस आदिकी प्राप्ति होती है। सेतुसे पुष्प-फलवाट वा फल फूलोंके बाग, षण्डकेदार वा केले सुपारीके पेड़, अन्नोंके खेत और हल्दी, अदरख आदिके उत्पत्ति स्थान समझना चाहिये। वनसे वनमें रहनेवाले पशु, हिरन, हाथियोंके जङ्गल और लकड़ी घास आदि द्रव्यका अभिप्राय है। व्रजका अर्थ गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़, ऊँट, घोड़ा, गधा, खचर आदि हैं, तथा वणिक् पथसे जल तथा स्थलके व्यापारमार्ग समझे जाते थे।

आयके ७ साधन

दुर्गसे जो आय होती थी, उसके २१ भेद होते थे, यथा शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरिक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवर्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पीगण, देवताध्यक्ष, द्वार और बाहिरिकादेय। शुल्क तो चुङ्गी है और दण्ड जुर्माना है। पौतव बांट, तराजू और तुलाईका टैक्स है। दुर्गके अन्दर ही नगर होता था, जिसकी व्यवस्था नगराध्यक्ष करता था। नगराध्यक्षके द्वारा जो आय होती थी, उसी खातेमें जमा होती थी। लक्षणाध्यक्षको किसी किसीने अमीन या कानूनगो बतलाया है, परन्तु कौटिल्यने लक्षणाध्यक्षके कार्योंका जो वर्णन २ अधि० १२ अ० सू० २७, २८ और २९ में किया गया है, उससे तो वह मिंट-मास्टर वा टकसालका अध्यक्ष जान पड़ता है। इसलिये सिक्के ढलनेसे जो आय होती थी, वह लक्षणाध्यक्ष खातेमें जमा होती थी। मुद्राध्यक्षका काम था कि मुद्रा वा पर्मिट अथवा पास एक मापक लेकर दे। बिना मुद्राके कोई दुर्गमें न प्रवेश कर सकता था और न निष्क्रमण, इसलिये मुद्राध्यक्षके खातेसे भी अच्छी आय होती होगी। सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, वेश्या, और द्यूतके लिये भी अलग अलग अध्यक्षकी व्यवस्था थी। सुराध्यक्षका काम सुरा वा मदिरा बनवाना और उसका व्यापार कराना था तथा जो मनुष्य नियत स्थानोंसे अतिरिक्त बेचने, खरीदने या बनानेका काम करते थे वा नियत परिणामसे अधिक ले जाते थे, उनपर जुर्माना भी यही करता था। इसलिये राज्यकी आयका यह भी अच्छा साधन था। यह एक प्रकारका एक्साइज़ आफिसर था। सूना मांसको कहते हैं। इसकी व्यवस्था करनेके लिये सूनाध्यक्षकी नियुक्ति होती थी। इसका काम था कि जिन पशुओंको मारनेका निषेध

दुर्गकी आयके २१ खाते

है, उनका वध न होने दे और जो वध करे, उसपर दण्ड लगावे तथा वधालयके अतिरिक्त कहीं वध न होने दे। बछड़ा, बैल और गाय अवध्य होनेसे इनके मारनेवालेको दंड देना पड़ता था और वध्य पशुओंको जो अत्यन्त कष्ट पहुँचा कर मारता था, उसे भी दण्ड दिया जाता था। यदि सूनाध्यक्ष असावधानी करता, तो वह प्रथम साहस दण्डका दोषी होता था। ऊन या कपासका सूत कताने और बुनवाने और रस्सी आदि बनवानेका विभाग सूत्राध्यक्षके अधीन था। यहां भी दण्डादिकी व्यवस्था थी। तैल, घृत और क्षारसे भी ऐसी ही आय होती थी। वेश्या वा गणिका तथा नटों, गाने, बजाने और नाचनेवाले, खेल तमाशे दिखानेवाले, कथा बांचनेवाले, कुशीलव (रासधारी), प्लवक (नट वा रस्सीपर चढ़नेका खेल करनेवाले), सौभिक (बाजीगर), चारण (भांड़, मल्ल, भाट), चित्रकारी करनेवाले, वीणा, वंशी, मृदंग बजानेवाले, चित्त पहचाननेवाले, गन्ध बनानेवाले, माला गूंथनेवाले और अंग दाबनेवाले, शरीर सजाने और रंगमंचपर अभिनय करनेवाले गणिकाध्यक्षके अधीन थे। यही गणिकाओंको राजसेवामें नियुक्त करता था, उनका वेतन निश्चित करता और नियमोल्लङ्घनकारियोंको दण्ड देता था। इसके खातेमें भी बहुधा दण्डसे ही आय होती थी। द्यूतको नियंत्रण करने, उसके स्थान निर्दिष्ट करने, ज्वारियोंको पांसे आदि उपकरण देने, कपटपूर्वक वा धोखा देकर खेलनेवालेको दण्ड देने तथा जीतनेवालोंसे ५ प्रतिशत जितौनी लेनेके लिये द्यूताध्यक्ष नियुक्त था। इसके द्वारा आय द्यूत खातेमें जमा होती थी। सौवर्णिक सुवर्णाध्यक्षके अधीन कर्मचारी होता था, जो विशिखा वा सोनापट्टीमें लोगोंके सोने चाँदीके गहने चतुर कारीगरोंसे बनवाता ही न था, समयपर देने दिलानेकी व्यवस्था भी ठीक रखता था। कारीगरोंका वेतन ठीक करना और काम समय पर न तैयार होने या बिगड़नेपर जुर्माना करना इसीका काम था। इसके खातेसे इसी प्रकार आय होती थी। पण्यसंस्था बाजार थी और जो लोग माल बेंचने आते, उनसे पण्याध्यक्ष मापसे बिकनेवाले मालपर १६ वां भाग तुलनेवाले पर २० वां भाग और गिने जानेवालेपर ११वां भाग लेता था। इस पण्यसंस्थासे राज्यको यही आय थी। घर, खेत, बाग बगीचे, तालाब और बांध आदि की संज्ञा वास्तुक वा वास्तु है। इनकी बिक्रीपर राज्यको टैक्स मिलता था। कारुशिल्पीगणमें कारु तो मोटा काम करनेवाले और शिल्पी महीन काम करनेवाले होते हैं। ये यदि समयपर काम न करते या काम बिगाड़ देते तो

इनका वेतन कटता और इनपर जुर्माना होता था। देवताध्यक्ष देवमन्दिरोंकी आमदनी राजकोशमें देता था। द्वारपाल प्रवेश और निष्क्रमण करनेवालोंसे जो धन लेता था, वह दुर्ग खातेमें जमा होता था। इसी प्रकार नट, नर्त्तक आदिसे मिलनेवाला टैक्स वाहिरिकादेय कहाता था।

राष्ट्रकी आयके ये १३ खाते थेः—सीता, भाग, बलि, कर, वणिक्, नदीपाल, तर, नाव, पट्टन, विवीत, वर्त्तिनी, रज्जू और चोररज्जू। सीता राज्यकी वह आय थी, जो राजकीय खेतोंकी उपजसे होती थी। प्रजाके खेतोंमें जो अन्न उपजता था, उसका राजभाग भाग कहाता था। बलि उपहार वा राजाके धर्मकार्यका टैक्स था। कर फलों वा वृक्षोंका टैक्स था। वणिक् मालकी तुलाईका वेतन वा टैक्स था। नदीपालका काम यह था कि किसीको चोरीसे नदी पार न करने दे और कोई करे, तो उसपर जुर्माना करे। यह धन नदीपाल खातेमें जमा होता था। तर नदी पार करनेकी उतराई थी। राजकीय नावें किरायेपर देने और इनका भाड़ा लेनेकी भी व्यवस्था थी। यह धन नाव खातेमें जमा होता था। नदी वा समुद्र किनारेके बन्दरोंपर जो व्यापारी टैक्स था, वह पट्टन कहाता था। विवीत पशुचर भूमिको कहते हैं। जो लोग कपट मुद्रा वा बिना मुद्राके विवीत मार्गसे निकल जाते हों, उन्हें पकड़कर दण्ड देना विवीताध्यक्षका काम था। यही छिपे हुए शत्रुओंकी सूचना भी अन्तपालको देता था। द्रव्यवनों और हस्तिवनोंमें घास, ईंधन, कोयला आदिकी संज्ञा वर्त्तिनी थी। इनसे होनेवाली आय वर्त्तिनी कहाती थी। भयके स्थानसे होकर व्यापारियोंको सुखपूर्वक यात्रा करा देनेके टैक्सका नाम रज्जू और चोरोंसे रक्षा करनेका टैक्स चोररज्जू कहाता था।

राष्ट्रकी आयके १३ खाते

राज्यकी आयके ये मोटे खाते दिखाये गये हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त भी थे। करोंकी व्यवस्था देखनेसे जाना जाता है कि उपभोग्य पदार्थोंपर, करों और प्रत्यक्ष करोंके सिवा राज्यको दण्ड तथा औद्योगिक कार्योंसे भी कर रूपसे भाग मिलता था। कोई खाता ऐसा न था, जहाँसे कुछ प्राप्तिका ढङ्ग बैठ सके और राज्य उसकी उपेक्षा कर दे। जहाँ तक होता था, करकी कोई मद छूटने न पाती थी। कौटिल्यने क्षीणकोश राजाको बताया है कि जहां बहुत अन्न हो और लोगोंको वर्षाका जल मिलता हो, वहांवालोंसे तिहाई

कौटिल्यका कोश भरनेका ढंग

वा चौथाई अन्न मांगो। परन्तु श्रोत्रिय, ब्राह्मणों, राज्यकी सीमापर बसनेवालों, खानोंसे रत्नादि निकालनेवालों, सड़कें बनानेवालों, किलेबन्दी करनेवालों, पड़ती जमीन उठानेमें सहायता देनेवालोंसे तथा जिनके पास यथेष्ट सामग्री जीवन-निर्वाहकी न हो, उनसे न लो। जो अन्न छिपावे, उससे अन्नके दामका अठगुना और जो दूसरेकी फसल चुरावे और स्ववर्ग हो, तो उसपर ५८ गुना जुर्माना किया जाय और विदेशी हो तो उसे वधका दंड दिया जाय। जिनसे कर न लिया जाय, उनसे चन्दा माँगा जाय। कम चन्दा देनेवालेकी निन्दा मेदिये करें और अधिक चन्दा देनेवालेको राजा छत्र वा किरीट देकर सम्मानित करे। लोगोंसे चन्दा वसूल करनेके लिये झूठे चन्दोंकी सूचना दी जाय। पाषण्डों, मन्दिरों तथा मृतकोंकी और जिनके घर जल गये हों, उनकी सम्पत्ति मंगा ली जाय। कण्टकशोधनके लिये राजद्रोहियोंको नाना प्रकारसे फंसाकर उनकी सम्पत्तिको राजधन बना लेना भी आवश्यक बताया गया है, क्योंकि कण्टकशोधनके साथ ही इससे आर्थिक लाभ होता था।

प्रजासे कर लेनेके अनेक साधनोंका वर्णन महाभारतमें भी है, परन्तु इसके लिये उसके उत्पीड़नका तीव्र निषेध है। किस प्रकार कर लेना चाहिये इस विषयमें कहा गया है कि राजा भलीभाँति समझ बूझ राजा लालचसे कर बराबर कर लगावे। लालचसे अपने और दूसरोंके राष्ट्रको न उजाड़े मूल—राष्ट्रको न उजाड़े। लोभके द्वारोंको बन्द कर राजा प्रेम दिखावे। बहुत खानेवाले राजासे प्रजा द्वेष करने लगती है और जिससे द्वेष किया जाता है, उसका कल्याण नहीं होता और अप्रियको फल भी नहीं मिलता। सुबुद्धिसे राष्ट्रका दोहन उसी प्रकार करे, जैसे बछड़ा करता है। दूध पीकर जो बछड़ा मोटा होता है, वही बहुत कष्ट सह और भारी बोझ ढो सकता है। जैसे दुर्बल बछड़ेसे कुछ काम नहीं होता, वैसे ही बहुत दूहे हुए राष्ट्रसे बड़ा काम नहीं हो सकता। जो राजा राष्ट्रपर अनुग्रह करके उसकी रक्षा करता है, वह सत्कार्योंका अनुष्ठान करता हुआ महत्फल प्राप्त करता है और उसकी विपद् दूर करनेके लिये राष्ट्र धन देता है। परन्तु जो राजा शास्त्रविरुद्ध कर लादकर अर्थके लिये प्रजाका उत्पीड़न करता है, वह आत्मघात करता है। नित्य सोनेका अंडा देनेवाली मुर्गीको मारकर एक साथ सब अंडे निकाल लेनेवाले लालची मनुष्यकी भांति प्रजाका कर्षण करनेवाले राजाकी गति होती है। इस उदाहरणके बदले महाभारत

ने लालची राजाकी उपमा दूधके उस लोभीसे दी है जो बहुत दूध पानेकी आशा से गायके थन काट लेता है। उसका कहना है कि जो दुधारी गायकी सेवा करता है, वही नित्य दूध पाता है। इसी प्रकार जो राजा सुरक्षित राष्ट्रके साथ व्यवहार करता है, उसके कोशकी नित्य वृद्धि होती है।[1]

महाभारत और शुक्रनीतिसार[2] दोनोंका मत है कि कर लेनेके समय

---

१ संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः।
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषाञ्चापि तृष्णया ॥१८॥
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीतदर्शनः।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥१९॥
प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥२०॥
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ॥२१॥
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः ॥२२॥
संजातमुपजीवन् स लभते सुमहत्फलम्।
आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्द्धयेत् ॥२३॥ शां० अ० ८७
अर्थमूलोऽपि हिंसा च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन् प्रजाः ॥१५॥
ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्द्धते ॥१६॥
यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥१७॥
अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितं।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥१८॥ शां० प० अ० ७१

२ मालाकारस्य वृत्त्यैव स्वप्रजारक्षणेन च।
शत्रुं हि करदीकृत्य तद्धनैः कोशवर्द्धनम् ॥१२३॥
करोति स नृपः श्रेष्ठो मध्यमो वैश्यवृत्तितः।
अधमः सेवया दण्डतीर्थदेवकरग्रहैः ॥१२४॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

राजा मालीकासा आचरण करे और राष्ट्रपर संकट आवे, तब प्रजासे ऋण ले और संकट दूर हो जानेपर ब्याजसहित ऋण चुका दे।

राजा कर लेनेके समय मालीका सा आचरण करे

महाभारतका कहना है कि राजा मालीकी भाँति कर ले, अंगार न बने। माली बननेसे राज्यका पालन करता हुआ उसे चिरकाल तक भोगेगा। पर राज्यके आक्रमणसे यदि तेरा धन नष्ट हो जाय, तो अब्राह्मणोंको समझा बुझाकर उनका धन ले ले।[1] कैसे समझावे इस विषयमें कहते हैं कि इस घोर आपत्कालमें दारुण भय उपस्थित हुआ है, इससे आपकी रक्षाके लिये मैं आपसे धन मांगता हूँ। संकट दूर होनेपर मैं आपका धन लौटा दूँगा।[2]

सारांश राजाको प्रजासे कर लेनेके लिये हिन्दू राज्यशास्त्रका यह आदेश है कि इन सिद्धान्तोंपर कर लगाना चाहियेः—

प्रजा पर कर लगाने के सिद्धान्त

(अ) प्रजा भविष्यमें अधिक मात्रामें लगनेवाले कारकों भार सह सके।

(आ) प्रजाको करका भार न जान पड़े।

(इ) कर बढ़ाना हो, तो थोड़ा थोड़ा बढ़ावे और उस समय बढ़ावे, जब राज्यकी समृद्धि बढ़ रही हो।

(ई) उद्योगधन्धोंपर क्या लागत बैठती है और क्या मजूरी पड़ती है इसका निश्चय करके कर लगावे, क्योंकि बिना लाभके कोई नया काम नहीं करता और राज्यको उससे लाभ भी नहीं होता।[3]

---

१ मालाकारोपमो राजन् भव माङ्गारिकोपमः।
तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥२०॥
परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥२१॥ शां० अ० ७१

२ अस्मापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥२६॥
प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये। शां० अ० ८७

३ फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥१६॥ शां० अ० ८७

(उ) कच्चे माल, खर्च, मजूरी और मजूरकी अवस्थाका विचार करके देख ले कि पक्का माल बनानेमें क्या खर्च बैठता है।[1]

(ऊ) बाहरी मालपर इस विचारसे कर लगावे कि पूंजी कितनी लगी, कितनी दूरसे माल आया, मंगानेमें क्या खर्च पड़ा, कुल खर्च कितना हुआ और व्यापारीने कितनी झोंकी उठायी तथा माल कितनेको बिका।

(ऋ) राज्यकी हानि करनेवाली विलासिताकी सामग्रीका आगमन, कर लगाकर घटाना चाहिये।

(ए) लाभदायक माल बिना करके ही आने देना चाहिये।

(ऐ) जो माल देशमें न पैदा होता हो और जिसमें भविष्यमें उत्पादनके बीज हों, उसके आनेमें कर न लगावे।

(ओ) शस्त्र, वर्म, कवच, लोह, रथ, रत्न, धान्य और पशु बिना करके आने तो पावें, पर जाने न पावें।

---

1 फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्सम्प्रवर्त्तते। शा० प० ८७

२ धर्माधिकरण

धर्माधिकरण और उसका कार्य

जिस स्थानमें धर्मशास्त्रानुसार व्यवहारके विवेचनका प्रस्ताव होता है, वह धर्माधिकरण कहाता है।[1] दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि व्यवहारका विवेचन और विवादकी मीमांसा करनेवाली संस्था धर्माधिकरण कहाती है। वैदिक युगमें राजा राष्ट्रसभामें बैठकर व्यवहारों और विवादोंका निर्णय किया करता था। संघ राज्योंमें संघमुख्य वा राष्ट्रपति यही काम किया करते थे। कालान्तरमें धर्मसभा वा धर्माधिकरण इन्हीं राष्ट्र सभाओंका काम प्रायः वैसे ही चलाने लगे, जैसे आज प्रिवी कौन्सिलकी जुडीशल कमिटी चलाती है। इन धर्मसभाओंमें कितने और किस योग्यताके मनुष्य बैठने चाहिये इस विषयमें धर्मशास्त्र वा स्मृति ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। ये धर्माधिकरण व्यवहार अर्थात् लेन देन, जमीन जायदादके विशेष रूपसे और साधारण रूपसे चोरी, जारी, गाली-गलौज और मारपीटके मामलोंपर विचार करते थे।

मौर्य साम्राज्यकी न्याय व्यवस्था

मौर्य साम्राज्यमें ग्राम पंचायतें ग्रामके विवादोंपर विचार करती थीं, जिनमें गोप वा ग्रामाधिकारी न्यायाधीशका आसन ग्रहण करता था। ग्राम पंचायत चोर वा जारको गांवसे बहिष्कृत कर देती थी। प्रत्येक नगर वा संग्रहणमें न्यायालय होते थे, जिनमें आसपासके दस गांवोंके विवादोंका विचार होता था। इन्हें परगना अदालत कह सकते हैं। इनके ऊपर ४०० गांवोंवाले नगरों वा द्रोणमुखोंके न्यायालय थे, जो तहसील वा सब डिविजनकी अदालत कहे जा सकते हैं। इनके ऊपर स्थानीय वा जिलेका न्यायालय था। इनके ऊपर साम्राज्यके दो प्रदेशोंके मध्य भागके न्यायालय तथा इनके ऊपर पाटलिपुत्रके न्यायालय थे तथा सबसे ऊपर सम्राट्का न्यायालय था जिसमें न्याय कर्त्ताओंके साथ बैठकर सम्राट् व्यवहारपर विचार करता था।

---

1 धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्रविवेचनम्।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत् ॥५६५॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

न्यायकर्त्ताको कौटिल्यने धर्मस्थ कहा है और बताया है कि देव, ब्राह्मण तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढ़े, रोगी तथा अपने दुःखोंको कहनेमें असमर्थ अनाथोंके कार्योंको धर्मस्थ स्वयं कर दें। देशकालका बहाना करके न तो उनके धनका अपहरण करें और न उन्हें तंग करें तथा जो पुरुष विद्या बुद्धि, पौरुष, कुल आदिके कारण बढ़े हुए हों, उनकी सदा प्रतिष्ठा करें। इस प्रकार धर्मस्थ छलकपटरहित होकर अपने सब कार्य करें और सबका बराबर निरीक्षण करते हुए जनताके विश्वासपात्र तथा लोकप्रिय बनें।[1]

धर्मस्थका अर्थ

राजधानी वा पुरमें जो धर्मसभा होती थी, उसका सभापति राजा और उसकी अनुपस्थितिमें प्राड्विवाक होता था। शूद्रकके 'मृच्छकटिक' नाटकमें जो लगभग ईस्वी ५वीं शताब्दीमें रचा गया था तथा पीछे बने हुए धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि न्यायाधीशकी गद्दीपर प्राड्विवाक बैठे वा धर्मसभा न्याय करे। शाकुन्तल नाटकसे जाना जाता है कि जब राजा दुष्यन्त धर्मसभामें नहीं गये, तब ब्राह्मण मंत्री पिपुणको धर्मासनपर बैठनेका आदेश दिया। वादी और विवादीसे प्रश्न करनेके कारण 'प्राट्' और सत्यासत्यका विवेचन करनेके कारण 'विवाक' होता है, इसलिये उसे 'प्राड्-विवाक' कहते हैं। अथवा सभ्योंके साथ बैठकर जो धर्माधर्मका विचार करता है, वह प्राड्विवाक है।[2] प्राड्विवाकके सिवा धर्म सभामें और भी सभासद वा सभ्य होते थे। मनुका मत है कि प्राड्विवाकके अतिरिक्त तीन सभ्य सभा

प्राड्विवाकका अर्थ तथा सभाका संगठन

---

१ देवब्राह्मणतपस्विस्त्रीबालकवृद्धव्याधितानामनाथानामनभिसरतां धर्मस्थाः कार्याणि कुर्युः ॥२८॥ न च देशकाल भोगच्छलेनातिहरेयुः ॥२९॥ पूज्या विद्यावृद्धपौरुषाभिजन कर्मातिशयतश्च पुरुषाः ॥३०॥
एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छलदर्शिनः ।
समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रियाः ॥३१॥ अधि० ३ अ० २०

२ वादिनौ पृच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यतः ।
विचारयति सभ्यै वा धर्माधर्मौ विवक्ति वा ॥५८४॥ अ० ४ शुक्रनीतिसार

में होने चाहिये ।[1] कौटिल्यका कहना है कि जनपद-सन्धि (सीमाप्रान्त), संग्रह, द्रोणमुख और स्थानीयमें अमात्यवत् ३ धर्मस्थ (जज) होने चाहिये ।[2] शुक्रनीति सारके अनुसार धर्मस्थोंकी संख्या ऊन रहनी चाहिये, चाहे सात हो वा पांच वा तीन । जिस सभामें ब्राह्मण बैठे हों, वह सभा यज्ञ समान होती है और राजा उस सभामें कार्योंके सुननेवाले, अच्छे पंडित वैश्योंको नियुक्त करे । राजा द्वारा नियुक्त हो वा अनियुक्त हो, धर्मज्ञाता सभामें बोल सकता है, क्योंकि जो धर्मशास्त्र जानता है, वह दैवी वाणी बोलता है ।[3]

यज्ञसदृश सभाके कुछ उपकरण भी शुक्रनीतिसारमें बताये गये हैं और सभामें किसका क्या कर्त्तव्य और क्या अधिकार है यह भी स्पष्ट कर दिया है । उसके अनुसार राजा, अधिकारी (प्राड्विवाक),

यज्ञ सदृश सभाके उपकरण

सभासद, धर्मशास्त्र, गणक, लेखक, सुवर्ण, अग्नि, जल और चपरासी ये दसो कार्यसिद्धिके अंग हैं और इनके सहित राजा जिस सभामें बैठकर न्याय अन्यायका विचार करता है; वह सभा यज्ञके तुल्य है । अध्यक्ष वा प्राड्विवाक तो अर्थी वा वादी का लिखित अर्थ वा दावा पढ़कर सुनावे, सभासद व्यवहारकी छानबीन करें, स्मृति निर्णय अर्थात् जय दान और दण्ड बतावे और राजा दण्ड दे । शपथ के लिये सोना और अग्नि, प्यासे और क्रोधीके लिये जल, द्रव्यादि गिननेके

---

१ यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥ अ० ८

२ धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धि-संग्रह-द्रोणमुख-स्थानीयु व्यावहारिकानर्थान्कुर्युः ॥२८॥ अधि० ३ अ० १

३ व्यवहारधुरं वोढुं ये सक्ताः पुङ्गवा इव ।
लोकवेदज्ञ धर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपिवा ॥१४८॥
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ।
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्त्तव्याः सुविचक्षणाः ॥१४९॥
अनियुक्तो नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति ।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥१५०॥ अ० ४

के लिये गणक और निर्णय लिखनेके लिये लेखक होना चाहिये।[1] परन्तु बृहस्पतिका मत है कि सभासद विवादका विचार करें, प्राड्विवाक निर्णय करे और राजा दण्ड दे। यही व्यवस्था समीचीन जान पड़ती है।

शुक्रनीतिसारमें इसपर बड़ा जोर दिया गया है कि व्यवहार और विवादका विचार एकान्तमें न किया जाय और न राजा अकेला ही यह काम करे, वरञ्च मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण और प्राड्विवाकके साथ विचार करे। इसका कारण पक्षपातकी सम्भावना वा सन्देह है। पक्षपातके पांच कारण होते हैं, प्रीति, लोभ, भय, वैर और एकान्तमें वादी विवादीकी बातें सुनना।[2] जब राजा धर्माधिकरणमें न बैठे, तब वहां बैठनेके लिये ऐसे ब्राह्मणोंको नियत करे जो वेदोंके पारगामी, जितेन्द्रिय, कुलीन, निरपेक्ष, अनुद्वेगकारी, स्थिरबुद्धि, परलोकसे डरनेवाले, उद्युक्त (तैयार) और क्रोधरहित हों। यदि ब्राह्मण न मिलें, तो क्षत्रिय और क्षत्रिय न मिलें तो धर्मशास्त्रज्ञ वैश्योंको नियुक्त करे। इनके साथ ही व्यवहारके ज्ञाता, आचारवान्, गुणी, शत्रुमित्रमें समान भाव रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, निरालस, क्रोध, काम और लोभको जीते हुए प्रियवादी सभासद सब जातियोंसे नियुक्त करे। इससे जान पड़ता है कि सभासद तो वर्त्तमान समयकी जूरीका काम करते थे, वेदज्ञ ब्राह्मण और उसके

1 नृपोऽधिकृत सभ्याश्च स्मृतिर्गणक लेखकौ ॥५५९॥
हेमाग्न्यम्बु स्वपुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश।
एतद्दशाङ्गकरणं यस्य मध्यस्थ पार्थिवः ॥५६०॥
वक्ताध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्यपरीक्षकाः।
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जयं दानं दमं तथा ॥५६१॥
शपथार्थे हिरण्याग्नी अम्बुतृषितक्षुधयोः।
गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्यायं च लेखकः ॥५६२॥ अ० ४ शुक्रनीति०

2 धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः ॥५२८॥
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्।
नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ॥५२९॥
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन।
पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै ॥५३०॥
रागलोभभयद्वेषावादिनोश्च रहः श्रुतिः। शुक्रनीति० अ० ४

अभावमें धर्मशास्त्रज्ञ क्षत्रियादि धर्मशास्त्रका मत बताते थे।[1] धर्मशास्त्रज्ञ सभापति वा अध्यक्ष होता था। सभासदोंके सम्बन्धमें एक बात मार्केकी कही गयी है। वह यह है कि जिन लोगोंका विवाद हो, उन्हींके समव्यवसायी (हमपेशे) ही सभासद बनाये जाय, जैसे किसानोंके विवादमें किसान, कारु-शिल्पियोंके विवादमें कारुशिल्पी, सूद लेनेवालोंके विवादमें कुसीदजीवी, नाचने-वालोंके विवादमें नाचनेवाले, संन्यासियोंके झगड़ेमें संन्यासी और चोरोंके मामलेमें चोर सभासद नियुक्त किये जायं, क्योंकि सम्प्रदायवाले ही अपने सम्प्रदायके नियमोंके विषय में विचार कर सकते हैं।

महाभारतमें धर्मसभाके सदस्यों वा सभासदोंका स्वतंत्र उल्लेख तो नहीं है, परन्तु दण्डके स्वरूपके वर्णनमें व्यवहारकी चर्चा भी की गयी है। कहा गया है कि वादी प्रतिवादीसे व्यवहार उत्पन्न होता है। वह दो प्रकारका है एक कुलके आचरणका उल्लंघन और दूसरा शास्त्रकी अवहेलना।[2] अन्यत्र मंत्रियोंकी योग्यताके वर्णनमें कहा गया है कि चार ब्राह्मणों, आठ क्षत्रियों, इक्कीस वैश्यों, तीन शूद्रों और एक सूतको मंत्री बनावे।

महाभारतके मत से धर्म सभाके समासद और उनकी योग्यता

---

१ यदा न कुर्यान्नृपतिः स्वयं कार्यं विनिर्णयम्।
तदा तत्र नियुञ्जीत ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥२२५॥
दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम्।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥२२६॥
यदा विप्रो न विद्वान्स्यात् क्षत्रियं तन्नियोजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥२२७॥
व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तिशीला गुणान्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥२२८॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥२२९॥
कीनाशाः कारुकाः शिल्पिकुसीदश्रेणिनर्त्तकाः।
लिङ्गिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम् ॥२३०॥

२ भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथाऽपरः।
तस्माद् यः सहितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥१०॥

ब्राह्मण वेदज्ञ, स्पष्टवादी और पवित्र हों; क्षत्रिय बली और शस्त्रधारी हों; वैश्य धनसम्पन्न हों; शूद्र विनीत तथा अपने कार्यमें पटु हों और आठ गुणोंसे युक्त सूत पौराणिक हो। इस प्रकार ३७ मंत्रियोंकी सभा बन जाती है। परन्तु वास्तवमें ये राज्यकार्य संचालक मंत्री न थे, व्यवहारपर विचार करना और मत देना इनका काम था। ये ५० वर्षकी वयसे कमके न हों, दबंग हों, श्रुतिस्मृतिके ज्ञाता, समदर्शी, विनीत, अद्वेषी, कार्यके विवादोंका निर्णय करनेमें समर्थ, निर्लोभ और सात घोर और बली दुर्गुणोंसे शून्य हों। आठ मंत्रियोंके साथ बैठकर राजा मंत्रणा करे और फिर अपना निर्णय प्रजाको दिखानेके लिये राष्ट्रमें भेज दे। इस व्यवहारसे सदा प्रजाकी रक्षा किया करे।[1] इस वर्णनसे ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सभा मंत्रिपरिषद् नहीं है और न ये मंत्री मंत्री ही हैं। ये धर्मसभाके सभासद या जूरी ही हैं इसमें सन्देह नहीं।

व्यवहारमें चार बातें होती थीं पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रिया और निर्णय और

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते।
मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथाऽपरः ॥११॥ शां० प० अ० १२१

1 चतुरो ब्राह्मणान्वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन्।
क्षत्रियांश्च तथाचाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणयः ॥७॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशति संख्यया।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥८॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकन्तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥९॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥१०॥
वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम्।
अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत ॥११॥
ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥१२॥
शां० अ० ८५

इसलिये इसकी संज्ञा चतुर्विध न्याय थी। जिन्हें आज वादी प्रतिवादी कहते हैं, उनके पुराने नाम थे अर्थी प्रत्यर्थी, अर्जीदावेको आवेदन कहते थे तथा धर्माधिकरणमें अपने पक्षकी पुष्टिमें अर्थी जो वक्तव्य सुनाता था, वह भाषा कहाता था। भाषाको पूर्वपक्ष और प्रत्यर्थीके जवाबदावेको उत्तरपक्ष कहते थे। विचारका नाम क्रिया और निष्कर्षका नाम निर्णय था। अर्थी प्रत्यर्थीसे भिन्न कार्यका ज्ञाता साक्षी कहाता था। व्यवहारके निर्णयमें दिव्य (शपथ) और साक्षीका भी प्रयोजन होता था। उस युगमें वकील न थे। वकीलका काम प्राड्विवाक कर देता था, पर उसे अर्थी वा प्रत्यर्थीको कुछ देना नहीं पड़ता था। इसके सिवा धर्मशास्त्र समझनेवाले चाहे सभासद हों वा नहीं अथवा बुलाये गये हों वा बिना बुलाये धर्माधिकरणमें पहुँचे हों, इन्हें अनुचित कार्य देखकर बिना पूछे ही बोलनेका अधिकार था। इस आशयका एक श्लोक मनुस्मृतिमें है,[1] जिसे शुक्रनीतिसारने उद्धृत किया है।[2] थोड़े हेर फेरसे यही बात नारद-स्मृतिमें भी कही गयी है। डा० प्रमथनाथ बनर्जीको आश्चर्य होता है कि यह व्यवस्था वास्तवमें कैसे ठीक रहती होगी। हमारी समझमें धर्मस्थके प्रमाद वा भ्रमसे न्यायकी रक्षाके लिये यह व्यवस्था थी। ये धर्मके वकील थे, अर्थी प्रत्यर्थीके नहीं।

व्यवहारके चार पद

व्यवहारकी उत्पत्ति सत्य और मिथ्या दोनोंसे होती है, क्योंकि एक मनुष्य सत्य बोलता है और दूसरा असत्य बोलता है, तब सत्यवादीको अपनी सत्यता सिद्ध करनेके लिये धर्माधिकरणकी शरणमें जाना पड़ता है। कभी अर्थी सत्य बोलता है और कभी प्रत्यर्थी, पर सत्यवादी कम ही देखे जाते हैं। इसलिये व्यवहारके निर्णयके लिये साक्षीका प्रयोजन होता है। मनुके मतसे साक्षीको गृहस्थ, पुत्रवान् अथवा पड़ोसी क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र होना चाहिये। जो पहले झूठा माना जा चुका हो, व्याधिपीड़ित हो, अथवा पापसे दूषित हो,

व्यवहार निर्णयमें साक्षी और लेख्य

---

१ सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥१३॥ अ० ८

२ अनियुक्तो नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥१९०॥ अ० ४ शु० नीतिसार

जिसका लेनदेनका सम्बन्ध हो, जो मित्र, नातेदार, सहायक वा शत्रु हो, वह साक्षी नहीं हो सकता। राजा, कारीगर, नट, ब्रह्मचारी, संन्यासी, श्रोत्रिय, संघसे निकाला हुआ, दस्यु, निषिद्ध कर्मोंसे आजीविका करनेवाला, बूढ़ा, बच्चा, अतिशूद्र, अत्यन्त दुःखित वा मत्त, क्षुधा पिपासासे पीड़ित, थका हुआ, कामातुर, पागल, क्रोधी और चोर मनुस्मृतिके मतसे साक्षी नहीं हो सकते।[1] एक साक्षीकी बातकी पुष्टि यदि कोई और न करता, तो उसीपर निर्णय नहीं होता था। परन्तु मारपीट, चोरी, जारी, अपमान आदिमें वे भी साक्षी हो सकते थे, जो साक्षी होनेके अयोग्य बताये गये हैं। साक्षियोंको सत्य बोलनेके लिये शपथ (दिव्य) लेनी पड़ती थी। धर्मस्थ उससे कहाता था 'जो साक्षी सत्य बोलता है, वह यहाँ अनन्त कीर्ति पाता और मरनेपर अच्छे लोकोंको जाता है।' झूठ बोलनेवाले साक्षीपर १०० से १००० पणतक दण्ड होता था। मनुके अनुसार ब्राह्मण अपनी सत्यता, क्षत्रिय अपने यान वा सवारी और शस्त्रास्त्रकी, वैश्य अपने अन्न, पशु और सोनेकी और शूद्र महापापोंको अपने सिर लेनेकी सौंहें करता था। लेख्य साक्ष्यका उपयोग किया जाता था। विष्णुस्मृतिमें तीन प्रकारके लेख्य बताये गये हैं, राजकर्मचारियोंद्वारा माने हुए, साक्षियोंके द्वारा माने हुए और न माने हुए। जिस लेख्यपर साक्षियोंके हस्ताक्षर होते थे, वह प्रामाणिक माना जाता था।

प्रत्यर्थीके उत्तरके भेद और सत्य निर्णयके साधन

प्रत्यर्थीके उत्तरके चार भेद होते थे, 'मिथ्या' वा अस्वीकार करना, 'सम्प्रतिपत्त' वा स्वीकार करना, 'प्रत्यवस्कन्दन' वा विशेष प्रकारकी बात बचावमें कहना और प्राङ्न्याय अर्थात् यह कहना कि इस मामलेका निर्णय पहले हो चुका है। प्रत्यक्ष, युक्ति, अनुमान और उपमानसे भी सत्यका निर्णय किया जाता था।

1 गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केनचिदनापदि ॥६३॥
नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः ॥६४॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥६५॥

बहुतसे मामलोंमें अभियुक्तका दोष वा निर्दोषिता सिद्ध करनेके लिये जल, अग्नि, तुला (तराजू) और विषका प्रयोग किया जाता था। भारतकी यात्रा करनेवाले चीन देशी ह्यून त्स्यांगने बताया है कि अभियुक्त एक बोरेमें पत्थर और घड़ेके साथ गहरे पानीमें छोड़ दिया जाता था। यदि पत्थर डूब जाता था और वह तिरता रहता था, तो निर्दोष समझा जाता था और यदि वह डूब जाता था, तो दोषी समझा जाता था। यह जलकी परीक्षा थी। अग्निकी परीक्षामें अभियुक्त लोहेके तपे बर्त्तनमें बैठाया जाता, उसपर उसके पैर और हथेलियां रखायी जाती थीं और वह बर्त्तन उससे चटाया जाता था। यदि जीभमें छाले पड़ जाते, तो वह दोषी और न पड़ते तो निर्दोष समझा जाता था। जो ऐसी परीक्षासे डरते थे, उन्हें फूलकी एक कली आगमें फेंकनी पड़ती थी। यदि फूल खिल जाता, तो वे निर्दोष और जल जाता था, तो दोषी समझे जाते थे। तुलाकी परीक्षामें एक पलड़ेपर अभियुक्त बैठाया जाता था और दूसरे पलड़ेपर पत्थर रखा जाता था। भार दोनो ओर समान होता था। यदि अभियुक्त निर्दोष होता था, तो उसका पलड़ा नीचा रहता था और दोषी होता था, तो पत्थरवाला पलड़ा गिर जाता और अभियुक्तवाला उठ जाता था। विषप्रयोगकी विधि यह थी कि एक मेढ़ेके अंगमें घाव करके विष भर दिया जाता था। यदि मेढ़ा मर जाता था, तो अभियुक्त दोषी और जीता रहता था तो निर्दोष समझा जाता था।

दोषीनिर्दोषका निर्णय करनेके अन्य प्रकार

राज्यशास्त्रके पुराने ग्रन्थोंमें तो कहीं वकीलकी चर्चा नहीं है, परन्तु शुक्रनीतिसारमें वकील या मुख्तारका स्पष्ट उल्लेख है। कहा गया है कि जो अर्थी वा प्रत्यर्थी व्यवहार न जानता हो वा अन्य कार्यके कारण व्याकुल हो, उसे व्यवहारके ज्ञाता प्रतिनिधिको सदा नियुक्त करना चाहिये। अप्रगल्भ (जो अपनी बात ठीक ठीक न समझा सके) जड़, उन्मत्त, वृद्ध, स्त्री, बालक

शुक्रनीतिसारमें वकीलकी चर्चा

नाध्यधीनो न कर्त्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥
नार्त्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्त्तो न कामार्त्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥६७॥ अ० ८

और रोगीके पूर्वपक्ष वा उत्तरपक्षको प्रतिनिधि अथवा पिता वा माता, मित्र, भ्राता अथवा सम्बन्धी कहें ।[1] प्रतिनिधिका किया हुआ कार्य अर्थी या प्रत्यर्थीका ही समझा जाता था । ऐसे प्रतिनिधिको एक आने रुपया पारिश्रमिक वा वेतन मिलने की व्यवस्था दी गयी है ।

धर्माधिकरणमें प्रजाके ही मामले आते थे ।

धर्माधिकरणमें प्रजाके मामले ही आते थे, चाहे वे दीवानी हों या फौजदारी अर्थात् क्रय-विक्रय, वास्तुविक्रय, लेनदेन, उपनिधि (धरोहर—safe custody), अप्राप्तव्यवहार (नाबालिग) व्यक्तिको बेचने, वेतन, डाके, गालीगलौज, धमकी, निन्दा और मारपीटके सभी मामलोंपर वहां विचार होता था । कौटिल्यने चोरीके मामलेके विचारके लिये तो कण्टकशोधन न्यायालयकी व्यवस्था की है, पर डाकेके मामलोंका विचार करनेका स्थान धर्माधिकरण बताया है ।

दण्डकी व्यवस्था

अभियुक्तको दण्ड देनेके लिये उसके अपराधका विचार कर लिया जाता था । जो अपराध खुल्लमखुल्ला डंकेकी चोट किये जाते थे, उनकी संज्ञा 'साहस' थी ।[2] छोटे साहसमें छोटा दण्ड होता था । पर बड़े साहसके तीन भेद थे प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस । प्रथम साहस दण्ड ४८ से ९६ पण, मध्यम साहस दण्ड २०० से ५०० पण और उत्तम साहस दण्ड ५०० से

---

१ व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन च ॥६२९॥
प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्यः प्रतिनिधिस्तदा ।
अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् ॥६३०॥
पूर्वोत्तरं वदेद्बन्धु र्नियुक्तो वाथवा नरः ।
पिता माता सुहृद् बन्धु र्भ्राता सम्बन्धिनोऽपि च ॥६३१॥
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्त्तयेत् ।
यः कश्चित्कारयेत्किञ्चिन्नियोगाद्येन केनचित् ॥६३२॥
तत्तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवर्त्यं हि तत्स्मृतम् ।
नियोगितस्यापि भृतिं विवादात् षोडशांशिकीम् ॥६३३॥
शुक्रनीतिसार अ० ४

२ साहसमन्वयवत्प्रसभकर्म ॥१॥ अधि० ३ अ० १७

१००० पण होता था। साधारण अपराधोंके लिये साधारण ही दण्डकी व्यवस्था थी। तांबा, पीतल, कांच तथा हाथीदांतके वर्त्तनोंके लिये डाका डालनेवालेको प्रथम साहस, बड़े बड़े पशु, मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सुवर्ण, महीन वस्त्रोंके लिये डाका डाले तो मध्य साहस दण्ड और स्त्री वा पुरुष को बलात्कारसे बांधने वा बंधवानेवाले वा राजाज्ञासे बंधे हुएको छुड़ाने वालेको उत्तम साहस दण्ड दिया जाय यह आचार्योंकी व्यवस्था थी[1] और कौटिल्यने भी इसे मान लिया था।

---

१ ताम्रवृत्तकंसकाचदन्तभांडादीनां स्थूलद्रव्याणामष्टचत्वारिंशतपणावरं पणणवतिपरं पूर्वस्साहस दण्डः ॥८॥ महापशुमनुष्यक्षेत्रगृहहिरण्यसुवर्णसूक्ष्मवस्त्रादीनां स्थूलकद्रव्याणां द्विशतावरः पञ्चशतपरः मध्यमस्साहस दण्डः ॥९॥ स्त्रियं पुरुषं वाभिपत्य बध्नतो बन्धयतो बन्धं वा मोचयतः पञ्चशतावरः सहस्रपर उत्तमः साहसदण्ड इत्याचार्याः ॥१०॥

अधि० २ अ० १७

५२ कण्टकशोधन

चलती गाड़ीके रास्तेमें जो रोड़ा अटकाता है, वह कण्टक समझा जाता है और शासनव्यवस्थाके सुचारु रूपसे चलनेमें जो बाधा डालता है, वह राज्य या शासनका कण्टक समझा जाता है। राजकीय नियमोंके विरुद्ध जो आचरण करते अथवा राजा या राज्यके विरुद्ध षड्यंत्र करते थे, वे राज्यके कण्टक समझे जाते थे और इनको शोधने या मार्गसे हटानेके लिये जो संस्था थी, वह कण्टकशोधन कहाती थी।

कण्टक और कण्टक शोधन

कण्टक दो प्रकारके कहे गये हैं। एकमें धोबी, दर्जी, सुनार, तांती आदि शिल्पी, दूकानदार, गिरों गांठ रखनेवाले कुसीदजीवी (सूदखोर) और दूसरेमें राज्यको आर्थिक हानि पहुँचानेवाले तथा राज्य नियमोंका पालन न करनेवाले और उनके विरुद्ध आचरण करनेवाले थे। अग्नि, जल, महामारी, चूहे, सांप और बाघकी गिनती भी कण्टकोंमें ही होती थी। पहले प्रकारके कण्टक प्रजाको ठगनेके कारण कण्टक समझे गये, क्योंकि धोबी समयपर कपड़े धोकर न दे, खराब कर दे या फाड़ दे, तो प्रजाके कष्टका कारण होता है। तांती या जुलाहा कपड़ा बुननेके लिये अधिक सूत ले और कम कपड़ा दे, तो प्रजाको ठगता है। सुनार चोरीका माल लें और उसकी सूचना सुवर्णाध्यक्षको न दें, तो दण्ड भागी हों। थोड़े दामोंपर अधिकका माल लेने वाले चोरीके अपराधी समझे जाते थे। गाहकके सोने चांदीमें जो खाद मिलाता, उससे कुछ चुरा लेता अथवा अच्छे मालके बदले खोटा माल देता तो दण्डभागी होता। कसेरों और बर्त्तन बनानेवालोंके लिये वेतन, मालके छीजन और दण्ड आदिकी व्यवस्था कौटिल्यने की है।

कारीगरों द्वारा चुंगी रोकनेकी व्यवस्था

दूकानदार लोगोंको ठगने न पावें इसलिये पण्याध्यक्षको आदेश था कि सन्देह होनेपर दूकानदारके बटखरों, तुला, परिमाणी और द्रोणकी जांच करो और यदि तुलामें एक कर्षकी कमी हो और परिमाणी और द्रोणमें[1] एक पल-

---

[1] परिमाणी और द्रोणके अर्थ परिशिष्ट में देखिये।

की कमी हो, तो हर्ज नहीं। परन्तु अधिक हो, तो वे दण्डित किये जायं। बड़ी तोलसे लेकर छोटी तोलमें बेंचनेवाला, घटिया मालको बढ़िया या नकलीको असली कहकर अथवा एक प्रकारका माल दिखाकर दूसरे दूकानदार प्रजाको प्रकारका देनेवाला भी दण्डभागी होता था। यदि व्यापारी लूटने नहीं पाते थे। आपसमें मिलकर किसी वस्तुकी बिक्री रोक दें और फिर अनुचित मूल्यपर क्रयविक्रय करें, तो दण्डार्ह माने जायं। दूकानदार उचितसे अधिक लाभ न करे और मिलावटी पदार्थ न बेंचे इसके लिये कड़े नियम थे। प्रत्येक दूकानदारको कितना लाभ हुआ यह पण्याध्यक्षकी बहीमें लिखा जाता था। पण्याध्यक्ष दूकानदारोंसे अन्नादि लेकर प्रजाको सस्ते भावपर बेच सकता था। दूकानदारके लाभकी सीमा निर्दिष्ट थी, जिससे वह प्रजाको लूट नहीं सकता था।

दूसरे प्रकारके कण्टकोंके भी भेद किये गये हैं। सरकारी कोश भाण्डार में जाली नाणक (सिक्के) रखनेवालों और वहाँसे रत्न चुरानेवालों, गड़े

दूसरे प्रकारके कण्टकोंमें प्रत्यक्ष कंटक

हुए धनको बिना प्रमाण अपनानेवालों तथा राजा को सूचना दिये बिना ही किसी रोगीकी चिकित्सा करनेवालों की गणना भी कण्टकोंमें की गयी है। गड़े हुए धनको अपनानेवालेको उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था। नट उचितसे अधिक वेतन (फी) अपने प्रेक्षणका (पेखने या तमाशेका) नहीं ले सकते थे। ये यदि अर्थदण्ड न चुकाते, तो इनपर कोड़ोंकी मार पड़ती थी। भलेमानस बने हुए बनियों, कारीगरों, नटों, भिखारियों और ऐन्द्रजालिकोंसे भी प्रजाकी रक्षाकी व्यवस्था थी।

उक्त प्रत्यक्ष कण्टकोंके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कण्टक भी थे। ये राजकर्मचारी थे। इनके शोधनके लिये समाहर्त्ताको आदेश था कि समग्र जनपदमें

अप्रत्यक्ष कण्टक

सिद्ध, तपस्वी, संन्यासी, निरन्तर घूमनेवाले ऐन्द्रजालिक, भाट, नट, भांड, कलवार, हलवाई, पका मांस बेंचनेवाले, रसोइये आदिके वेषमें गुप्तचरोंको नियुक्त करे। ये ग्रामके अधिकारियोंकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकताका (ईमानदारी और बेईमानीका) पता लगावें और जिसपर सन्देह हो, उसे सत्रीके साथ धर्मस्थके पास भेज दें और सत्री विश्वस्त धर्मस्थसे कहे कि यह हमारा बन्धु है और अमुक अपराधका अपराधी है, पर इसे आप क्षमा कर दें और इतने रुपये

घूँस ले लें। इसी तरह कण्टकशोधन न्यायालयके अधिकारी प्रदेष्टासे कहें। यदि ये उसे छोड़ दें, तो अपने पदसे हटा दिये जायं। इसी प्रकार सत्री गांवके अधिकारीसे कहे कि अमुक मनुष्य बड़ा धनी है; उसपर विपद् आयी है, चलो इसी बहाने उसे लूटें। यदि वे ऐसा करें, तो घूंस लेनेके अपराधमें निकाल दिये जायं। इसी प्रकार लोगोंको झूठा साक्ष्य देनेके लिये रुपयेका लालच दिया जाय और जो इसमें फंस जायँ, वे निर्वासित कर दिये जायँ। दूसरेकी स्त्री, पुत्रवधू वा पुत्रीको वशमें कर देनेके लिये धनके लोभसे कोई उद्यत हो जाय, तो वह 'संवनन-वशीकरणकर्त्ता' कहकर निर्वासित कर दिया जाय। अपने ऊपर भूतप्रेत बुलाकर प्रजाको कष्ट देनेवालों तथा मारण करनेवालों, किसीको मूर्छित करने वा विष देनेवालों वा जाली (कपट) नाणक ढालनेवालोंके लिये भी निर्वासनके दण्डकी व्यवस्था थी। लोकमें उपद्रव करनेवाले १३ प्रच्छन्न वा अप्रत्यक्ष कंटक ये बताये गये हैं:— धर्मस्थ, प्रदेष्टा, ग्रामाध्यक्ष, कूट (झूठा) साक्षी, कूट श्रावणकार (झूठे कागज पत्र तैयार करनेवाले), वशीकरणकर्त्ता, कृत्याशील (अपने ऊपर भूतप्रेत बुलानेवाले), अभिचारशील (मारण करनेवाले), विष देनेवाले, मदनयोग-व्यापारी (बेहोश करनेवाले), कूट रूपकारक (जाली सिक्के बनानेवाले), नकली सोनेके व्यापारी। इनसे प्रजाकी रक्षा करना राज्य अपना कर्त्तव्य समझता था।

कण्टकशोधनकी व्यवस्था और कार्यपद्धति

कण्टक पुरुषोंका विचार कण्टकशोधन न्यायालयमें होता था। मंत्रियोंके गुणोंसे युक्त तीन प्रदेष्टा कण्टकशोधनके अधिकारी बनाये जाते थे। वर्त्तमान समयके स्पेशल ट्राइब्यूनलके (खास अदालतके) ढंगपर यह न्यायालय था। बहुत करके इसका बहुतसा काम अभियुक्तकी अनुपस्थितिमें होता था। जिसका माल चोरी जाता था, उसके तथा और लोगोंके सामने साक्षीसे सन्देहमें पकड़े हुए मनुष्यके देश, जाति, गोत्र, नाम, काम, सम्पत्ति, मित्र और निवासस्थानके विषयमें पूछा जाता था और अच्छी तरह जिरह करके उसके कथनकी आलोचना की जाती थी। अनन्तर सन्दिग्ध मनुष्यसे पूछा जाता था कि कल रातको तुम कहां थे, तुमने क्या काम किया था और पकड़े जानेके समय क्या काम किया। यदि निरपराध होनेके पूरे प्रमाण मिल जाते, तो वह छोड़ दिया जाता अन्यथा अपराधी समझा जाता। जो मनुष्य साधुको चोर बताता वा चोरको छिपाता, उसे भी चोरके समान ही दण्ड दिया जाता।

यदि शत्रुतावश चोर किसी भलेमानसको फंसाता, तो वह निर्दोष समझा जाता। परन्तु प्रदेष्टा किसी निरपराध मनुष्यको दण्ड देता, तो वह प्रथम साहस दण्डका भागी होता था।

निरपराधको दण्ड न मिले इसकी विशेष सतर्कता थी और इसलिये सन्देहमें पकड़े हुए मनुष्यसे चोरी करनेके साधनों, परामर्शदाताओं, चोरीके माल और साझेके विषयमें पूछताछ की जाती थी। कौन घरके अन्दर घुसा और क्या क्या माल लाया तथा किसको क्या हिस्सा मिला यह जानकर जब निश्चय कर लिया जाता था कि वह सचमुच चोर है, तभी उसको दण्ड दिया जाता था; क्योंकि मारपीटके डरसे भी लोग अपराध स्वीकार कर लेते हैं। महाभारतमें माण्डव्यकी कथा दी हुई है जिसने न चोरी करनेपर भी चोर होना स्वीकार किया था। ऐसी घटनाएँ और भी हुई तथा होती हैं। सन् १९०८ ईस्वीमें मेदिनीपुर जिलेके नारायणगढ़ स्टेशनके पास तत्कालीन लेफटेनेंट गवर्नर सर एंड्रू फ्रेज़रकी ट्रेन उलटानेके लिये रेलकी पटरी हटायी गयी थी। इस अभियोगपर पुलिसने कुछ कुलियोंको पकड़ा था और इन बिचारोंने निर्दोष होनेपर भी पुलिसकी मार अथवा त्राससे बचनेके लिये अपराध स्वीकार कर लिया था तथा कलकत्ता हाईकोर्टसे दण्डित भी हो गये थे। परन्तु जब अलीपुर बम केसके मुख्य अभियुक्त बारीन्द्रकुमार घोषने कहा कि हम लोगोंने सर एंड्रूकी ट्रेन उलटानेका यत्न किया था, तब हाईकोर्टने सरकारसे सिफारिश की कि कुली निर्दोष थे, इसलिये उन्हें छोड़ देना चाहिये! तब वे निरपराध छूटे। इन्हें अकारण जो कष्ट मिला, वह भाग्यका दोष समझा गया! इसके लिये कोई दण्डित न हुआ। पर यदि कौटिल्यकी व्यवस्था इस समय चलती तो पहले तो कुलियोंपर संकट ही न आता और आता तो कई अधिकारी भी दण्ड पाते।

निर्दोष दंड न पावे

अर्थदण्डके सिवा शारीरिक दण्डका विधान था। यह चार प्रकारका था, छ डंडे या चार कोड़े मारना, या हाथ पैर बांधकर उलटा लटका देना या नाकमें नमकका पानी डालना। अल्प अपराध करनेवालों तथा बालक, वृद्ध, रोगी, भूखे प्यासे, थकेमांदे अथवा अफरकर खाये हुए मनुष्यको डंडे या कोड़े मारनेका निषेध था। ब्राह्मण वा तपस्वीको पकड़कर इधर उधर घुमाना

शारीरिक दण्ड और उसके भेद

ही यथेष्ट दंड था। गर्भिणी वा एक महीनेकी प्रसूता स्त्रीको दंड नहीं दिया जाता था। उक्त चार प्रकारके दंडके अतिरिक्त ये भी दंडके प्रकार थे:—(क) नौ हाथ लम्बे वेंतसे १२ वेंत मारना, (ख) दो रस्सियोंसे दोनो टांगोंको अलग अलग लपेट करंजवेकी छड़ीसे २० बार मारना, (ग) ३२ थप्पड़ मारना, (घ) बिच्छू बनाना अर्थात् बायें हाथको पीछेकी ओरसे बायें पैरसे बांधना और दाहने हाथ को दाहने पैरसे बांधना, (ङ) दोनो हाथों और दोनो पैरोंको बांधकर लटका देना, (च) हाथके नखोंमें सुई चुभोना, (छ) लस्सी पिलाकर मूत्र विसर्जन न करने देना, (ज) उँगलीका एक पर्व जला देना, (झ) घी पिलाकर एक दिन तक धूपमें अथवा आगके सामने तपाना, और (ञ) जाड़ोंकी रातमें भीगी खाटपर सुलाना। (ख) और (घ) प्रयोग दो दो प्रकारके थे, इसलिये शारीरिक दण्डके १८ भेद हुए। ब्राह्मणके लिये मृत्यु वा ताड़न दण्डकका निषेध था, पर उसके मस्तकपर चिह्न कर दिया जाता था जिससे जातीय व्यवहारोंमें वह पतित समझा जाता था। चोरी करनेपर कुत्तेकी शकल, मनुष्य हत्या करने पर कबन्ध वा बिना सिरके धड़की शकल, गुरुपत्निगामीके मस्तकपर योनि तथा मद्यपके माथेपर मदिराकी हांडीकी शकल बना दी जाती थी। ऐसे चिह्न बनाकर उक्त पापी ब्राह्मण देशसे निकाल दिया जाता था। नैपालमें ब्राह्मणको देश निकाला देनेका नियम अबतक है।

दंडकी व्यवस्था

यूनानी ग्रंथकारोंने जो यह लिखा है कि पाटलिपुत्रमें चोरी नहीं होती थी, उसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि कौटिल्यने ऐसे नियम बनाये थे जिनके डरसे किसीका साहस न होता होगा कि चोरी करे। कर्मान्त वा कारखानेसे जो कर्मचारी बहुमूल्य रत्नादि चुराता, उसे प्राणदण्ड मिलता; पर साधारण वस्तु चुरानेके लिये प्रथम साहस दण्ड था। सरकारी खेतोंसे एकसे चार माष दामतककी वस्तु चुरानेवालेके लिये १२ पण, १॥ पण तककी चुराने वालेको २४ पण, २ पणकी चुरानेपर प्रथम साहस, ४ पणकी चुरानेपर मध्यम साहस, ८ पणकी चोरीपर उत्तम साहस दण्ड और १० पण मूल्यकी वस्तु चुरानेपर प्राणदण्डकी व्यवस्था थी। इसी प्रकारका दण्ड गोदाम, दूकान आदिसे चुरानेपर भी दिया जाता और कोश, भांडागार और अक्षशालासे जो कोई वस्तु चुराता, उसपर दूना दंड लगता था। राजकर्मचारियोंको और भी भयंकर दंड भोगना पड़ता था। जो कर्मचारी आप चुराता और चोरोंका नाम

लगाता, उसे चित्रवध वा कष्टपूर्वक प्राणघात दंड दिया जाता। प्रजाके खेतोंसे चुरानेवालेको उक्त दण्डका चौथाई अर्थात् ३ पण देना पड़ता था, पर साथ ही चोरकी देहमें गोबर लपेट दिया जाता और वह नगरभरमें घुमाया जाता था। इससे ड्योढ़ेके चोरको इसका ड्योढ़ा अर्थ दंड होता था और इसकी कमरमें मिट्टीके सिकोरे बाँधकर वह नगरमें बाजेके साथ घुमाया जाता था। दूनेके चोरको दूना दंड होता था और गोबरकी राखसे शरीर काला करके ढिंढोरा पीटकर वह नगरमें घुमाया जाता था। एक पणकी वस्तु चुरानेवाले दो पण अर्थ दण्ड देते थे अथवा सिर मुंड़वाकर देशसे निकाल दिये जाते थे। दो पण चुरानेवालेके लिये या तो ४ पण दण्ड था या ईंट बांधकर देश निकाला दिया जाता था। जिस वस्तुकी दिन रात रक्षा होती, वह यदि कोई चुराता, तो उक्त दंडसे दूना दंड पाता। ५० पण मूल्यकी वस्तु चुरानेपर प्राणदंड था।

साधारण मनुष्य जाली कागज वा मुहर आदि बनाता, तो उसे प्रथम साहस, अध्यक्ष बनाता तो मध्यम साहस, ग्रामाधिकारी बनाता तो उत्तम साहस दंड और समाहर्त्ता बनाता तो प्राणदण्ड पाता। अपराधके अनुसार न्यूनाधिक दंडकी व्यवस्था भी थी। यदि धर्मस्थ विचार के समय अभियोक्ताको डराता, धमकाता या उँगली दिखाता, बाहर निकाल देता वा घूँस लेता, तो प्रथम साहस दंडका भागी होता। गालीगलौज करता था तो दूना दंड पाता था। यदि पूछने योग्य बात न पूछता और न पूछने योग्य पूछता, पूछकर उत्तर न लिखता, साक्षीको सिखलाता, स्मरण कराता, उसकी अधूरी बात पूरी कर देता, तो उसे मध्यम साहस दंड दिया जाता। अत्यन्त उपयोगी साक्षीसे न पूछता वा अनुपयोगीसे पूछता, बिना साक्ष्य लिये विचार समाप्त कर देता, सत्यवादी साक्षीको कपट पूर्ण बातोंसे मिथ्यावादी ठहराता, व्यर्थ समय बिताकर साक्षीको थकाकर हटा देता, साक्षीके क्रमपूर्ण वाक्योंको उलट पुलट देता, साक्षियोंको बीच बीचमें सहायता देता, विचारपूर्वक निर्णीत विषयको फिर उपस्थित करता, वह उत्तम साहस दण्डका अपराधी होता था। दुबारा अपराध करता, तो दूने दण्डका भागी होता था। लेखक यदि कही हुई बात न लिखता और न कही हुई लिखता, बुरी तरह कही हुई अच्छी तरह लिखता अथवा अच्छी तरह कही हुई बुरी तरह लिखता अथवा कथनका तात्पर्य बदल देता, तो प्रथम

अधिकारियोंको दूना दंड

साहस अथवा अपराधके अनुसार दण्ड पाता था।

संरुद्ध, चारका और बन्धनागार विषयक नियम

धर्मस्थकी निर्दिष्ट चारकासे (हवालातसे) यदि कोई कर्मचारी घूँस लेकर अपराधीको निकाले अथवा जेलमें सोने, बैठने, भोजन करने, मलमूत्र त्यागने, चलने फिरनेकी सुविधा कर या करा दे, तो उसके लिये ३ पण से उत्तरोत्तर अधिक दण्ड देनेका विधान था। परन्तु जो कर्मचारी अपराधीको चारकासे जाने देता वा चले जानेकी प्रेरणा करता, तो उसे मध्यम साहस दंडके साथी ही अपराधीका देना भी चुकाना पड़ता था। बन्धनागार वा जेलसे छोड़नेवालेके लिये भयंकर दण्ड था। उसकी सारी सम्पत्ति हर ली जाती थी और उसे प्राणदण्ड भी भुगतना पड़ता था। बन्धनागाराध्यक्षकी आज्ञाके विना संरुद्ध या कैदीको बाहर घुमानेसे २४ पण और यह काम करानेवालेपर ४८ पण दंड होता था। यदि संरुद्धको स्थानान्तर करे वा उसके खाने पीनेमें रुकावट डाले, तो ९६ पण दण्डका भागी हो। उसे क्लेश दे या उससे घूँस दिलवावे तो मध्यम साहस दण्ड और संरुद्धका वध कर दे, तो १००० पण दण्डका अपराधी होता था। मोल ली हुई वा गिरों रखी हुई दासीके साथ जेलमें व्यभिचार करनेवालेको प्रथम साहस, चोरका साथ करनेसे मध्यम साहस और आर्याके साथ दुराचार करनेका दण्ड प्राणवध था। अध्यक्ष अपराधी हो तो इसके लिये भी प्राणवधकी व्यवस्था थी। चारका तोड़े विना कोई संरुद्धको निकाल देता, तो मध्यम साहस दण्ड और तोड़कर निकाल देता, तो प्राणवधका दंड पाता था। बंधनागारसे निकालता, तो उसकी सारी सम्पत्ति ले ली जाती और प्राणवधका दण्ड दिया जाता था।

नैतिक अपराधोंके लिये दंड

व्यभिचारियों और चोरोंकी कुटनियोंके लिये नाक कान कटानेके दंडके साथ ५०० पण दंडकी भी व्यवस्था थी। कुटने दूना दण्ड पाते थे। अपनेसे उत्तम वर्णके व्यक्ति वा गुरुजनोंको हाथ वा पैरसे मारनेवाले, राजाके यान (सवारी) वा वाहनपर चढ़नेवालेका एक हाथ और एक पैर काटा जाता अथवा ७०० पण दंड लिया जाता। जो शूद्र अपनेको ब्राह्मण कहता और देवताके उद्देश्यसे दिये द्रव्यका अपहरण करता अथवा ज्योतिषी बनकर राजाका अनिष्ट बताता वा राजाका द्रोह वा द्वेष करता वा किसीकी दोनो आंखें फोड़ देता, तो औषधियोंका सुर्मा लगाकर वह अन्धा कर दिया जाता वा उसको ८०० पण दंड

दिया जाता। स्त्रियों वा कन्याओंके साथ उनकी इच्छासे संग करता तो स्त्री पुरुष दोनों दण्डभागी होते और अनिच्छासे करता तो पुरुष ही दंड पाता। दिनको दूसरेके घरमें जानेवालेको प्रथम साहस, रात्रिको जानेवालेको मध्यम साहस और दिन अथवा रातको हथियार बांधकर जानेवालेको उत्तम साहस दण्डकी व्यवस्था थी। पर भिखारी, फेरीवाले, नशेमें मत्त, पागल, बन्धु बान्धव और मित्र आदि आपत्तिमें, घरवालेके न रोकनेपर, किसीके घर जा सकते थे।

भयंकर अपराधोंके लिये अति भयंकर दंड

चोर वा व्यभिचारीको छोड़ देनेवाले, राजाकी आज्ञाको न्यूनाधिक लिखनेवाले, कन्या वा दासीको सगर्भ चुरानेवाले, झूठा व्यवहार करनेवाले और अभक्ष्य पशुओंका मांस बेचनेवालेका बायां हाथ और दोनों पैर काट देनेकी व्यवस्था थी। मनुष्य मांस बेचनेवालेके लिये प्राणदण्डकी व्यवस्था थी। देवसम्बन्धी पशु, प्रतिमा, मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सुवर्ण, रत्न और अन्न कोई बेचता तो उत्तम साहस दंड पाता और प्राणोंसे हाथ धोता। बलात्कारसे स्त्री वा पुरुषकी हत्या करने वा उसे उठा ले जानेवालेको, नाक कान काटनेवालेको, हत्या वा चोरी करनेकी डींग हांकनेवालेको, नगर वा ग्रामोंसे द्रव्य अपहरण करनेवालेको, सेंध लगाने वा मार्गकी प्रपा (पौंसला) वा धर्मशालासे चोरी करनेवाले अथवा राजाके हाथी, घोड़े, रथ आदि नष्ट करनेवाले वा चुरानेवालेको सूलीपर चढ़ा देनेका विधान कौटिल्यने किया है। सूली चढ़े हुएका प्रेत (शव) उठा ले जानेवालेको भी यही दंड अथवा उत्तम साहस दंड देनेको कहा है। जो चोरों वा घातकोंको अन्न, निवासस्थान, वस्त्र, अग्नि और परामर्श देता, तो उसे उत्तम साहस दंड दिया जाता, पर यदि अनजानमें ऐसा करता तो डांट डपटकर छोड़ दिया जाता। घातकों और चोरोंके स्त्री पुत्रादि उनके परामर्शमें सम्मिलित हों तो उचित दंड पावें, नहीं तो निर्दोष समझे जायं। लड़ाई झगड़ेमें कोई किसीकी जान ले लेता तो कष्ट दे देकर मार दिया जाता। यदि चोट खाया मनुष्य ७ दिनमें मर जाता, तो अभियुक्तको बिना कष्टके प्राण दण्ड दिया जाता। यदि १५ दिनमें मरता, तो अभियुक्तको प्रथम साहस दंड और महीने बाद मरता, तो ५०० पण दंड दिया जाता और चिकित्सा आदिका व्यय भी अभियुक्तसे ही दिया जाता। किसी स्त्रीको मारकर गर्भ गिरा देनेवालेको उत्तम साहस, औषधिद्वारा गिरानेवालेको मध्यम साहस और कठोर काम कराके गिरानेवालेको प्रथम साहस

दंड दिया जाता। किसी पुरुषका अचानक वध करनेवाले अथवा कमसे कम दस पशुओंके झुंड वा घोड़े चुरानेवालेको प्राणदंड देनेका कौटिल्यका आदेश है। जल रोकनेवाले सेतु वा बांधको तोड़नेवालेको कौटिल्यने वहीं डुबा देनेको कहा है। पर यदि सेतु विना जलका हो तो उसे उत्तम साहस दंड और पहलेसे टूटा फूटा हो, तो मध्यम साहस दंड दिया जाय। यदि कोई माता, पिता, पुत्र, भाई, आचार्य वा तपस्वीकी हत्याका अपराधी हो, तो या तो उसके सिरकी खाल उतार ली जाय या वह जीते जी जला दिया जाय। उन्हें आक्रोश करे (कोसे) तो जीभ काट ली जाय, नोच खसोट करे, तो वह अंग ही काट दिया जाय, जिससे नोचा या खसोटा हो। स्त्रीको विष देकर जो पुरुष मार डाले, उसे तथा पुरुषको विष देकर मार डालनेवाली स्त्रीको जल-में डुबा देनेकी व्यवस्था है। स्त्री गर्भिणी हो तो बच्चा होनेके एक महीने बाद डुबा दे। पति, गुरु और बच्चेकी हत्या करनेवाली, आग लगाने, विष देने वा सेंध लगाकर चोरी करनेवाली स्त्रीको गायोंके पैरोंसे कुचलवाकर मार डाले। किसी ब्राह्मणको यदि कोई अभक्ष्य वा अपेय खिला पिला देता, तो उत्तम साहस दंड, क्षत्रियको खिलाने पिलानेसे मध्यम साहस दंड, वैश्यको खिलाने पिलानेसे प्रथम साहस दंड तथा शूद्रको खिलाने पिलानेसे ५४ पण दंडका अपराधी होता। और यदि कोई स्वयं अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान करता, तो देशसे निकाल दिया जाता।

राजकीय अपराधोंके लिये दण्डव्यवस्था

राजकीय अपराधोंके लिये भी अति कठोर दंडकी व्यवस्था कौटिल्यने की है। राज्य लेनेके अभिलाषी, रनवासमें झमेला खड़ा करनेवाले, जंगलियों और शत्रुओंको उभारनेवाले, दुर्ग वा राष्ट्रको राजासे कुपित करानेवालेके सिर और हाथपैर अंगारोंपर रखकर शिरच्छेदन करनेको कौटिल्यने कहा है। ब्राह्मणको ऐसे भयंकर अपराध के लिये भी काल कोठरीका ही दंड बताया है। जो कोई विवीत (चरागाह), खेत, खलिहान, घर, लकड़ी तथा हाथियोंके सुरक्षित जंगलों-में आग लगावे, तो उसे आगमें जलानेका दंड दिया जाय। राजाको गाली दे, गुप्त रहस्य प्रकट करे, राजाके अनिष्टका प्रचार करे तथा ब्राह्मणकी पाकशाला से बलात् अन्न लेकर खा जाय, तो उसकी जीभ कटवा दी जाय। आयुधजीवी न होनेपर हथियार और कवच आदि चुरावे, तो खड़ाकर बाणोंसे मरवा दिया जाय। आयुधजीवी हो तो उत्तम साहस दंड पावे। उपस्थ इन्द्रिय और अंड-

कोष काटनेवालेके इन्द्रिय और अंडकोष काट दिये जायं। जीभ और नाक काटनेवालेका अंगूठा और छुगुनियां काट दिये जायं। जिसे दुर्गमें प्रवेश का अधिकार न हो और वह प्रवेश करे अथवा प्राकारको भीतमें छेदकर वस्तु ले जाय तो उसके पैरके पीछेकी दो नसें कटवा दी जायँ।

प्रदेष्टाको चाहिये कि राजा और मंत्रियोंमें रहकर भी दंड देनेके समय पुरुषको, उसके अपराधको, अपराधके कारणोंको, अपराधीकी स्थितिको, तात्कालिक वा भावी परिणामको तथा देश और कालको अच्छी तरह विचार कर उत्तम, मध्यम वा प्रथम साहस दंड दिया करे। इतना कहकर भी कौटिल्यने इसकी बड़ी सावधानी रखी है कि निर्दोष दंडित न किये जायं और यदि इन्हें कोई दंड दे, तो दंड देनेवाला उसी दंडका भागी हो। यदि उचितसे न्यूनाधिक दंड दे तो अठगुना दंड पावे। निरपराधसे सुवर्ण दण्ड लिया हो, तो उससे दूना सुवर्ण दंड देवे। शारीरिक दंड दिया हो तो शारीरिक दंड पावे। यदि किसी दण्डित व्यक्तिने शारीरिक दण्डके बदले धन दंड दे दिया हो, तो धर्मस्थ वा प्रदेष्टा दूने अर्थ दण्डका भागी हो। न्याय वा उचित अर्थको नाश करने और अन्याय अर्थका संग्रह करनेवाला अधिकारी नष्ट वा संगृहीत अर्थसे अठगुना दण्ड दे।

> प्रदेष्टाको विशेष सतर्कताका उपदेश और धर्मस्थ तथा प्रदेष्टाके दंडका विधान

कौटिल्यके इस पीनल कोडमें तीन बातें बड़े मार्केकी हैं, जिनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। पहली बात तो यह है कि कौटिल्यने अपराधीके एकांगवध वा एक उंगली काटनेसे प्राणवधतककी व्यवस्था की है, जिसमें छोटी उंगली काटनेसे दाहना हाथ काटनेतकका एकांगवध अर्थ दण्डसे बदला जा सकता था। हाथ ४०० पण देनेसे कटनेसे बच जाता था, पर चौथी बार अपराध करनेपर अपराधी प्राण दंड पाता ही था। दूसरी बात अधिकारियोंद्वारा निरपराधोंको दंडित न होने देनेके लिये उन्होंने इनके दंडका भी विधान किया है। यह व्यवस्था यदि वर्त्तमान युगमें होती तो झूठे अपराधोंके लिये निरपराध दंड न पाते। तीसरी और सबसे बढ़कर बात यह है कि अपराध करनेपर कौटिल्यने राजाको भी क्षम्य नहीं ठहराया है। यह बात साम्राज्यवादी कौटिल्यके सम्बन्धमें आश्चर्यजनक

> राजाको अर्थदंड, कौटिल्यकी विशेपता

जान पड़ती है, परन्तु कौटिल्यके मतसे राजा अदण्ड्य नहीं है। उन्होंने कहा है कि अदंड्यको यदि राजा दंडित करे, तो उसपर ३० गुना दंड हो और दंडका यह धन राजा वरुण देवताके प्रीत्यर्थ पहले जलमें डाल दे और फिर ब्राह्मणों को बांट दे। ऐसा करनेसे ठीक दंड न देनेके कारण उत्पन्न राजाका पाप मिट जाता है, क्योंकि मनुष्योंमें मिथ्या व्यवहार करनेवाले राजाओंका शासन वरुण ही करता है।[1] यहां जो ३० गुने दंडकी बात कही गयी है, वह अर्थ दण्ड ही है। पर प्रश्न उठता है कि राजा यह दंड कहांसे देता होगा? यदि कोशसे यह दिया जाय, तो यह दंड राज्यको हुआ, राजाको नहीं। इसलिये यह राजाके वेतनसे ही दिया जाता होगा और दिया जाना भी चाहिये।

---

१ अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि।
वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम् ॥४८॥
तेन तत्पूयते पापं राज्ञो दण्डापचारजम्।
शास्ता हि वरुणो राजा मिथ्या व्याचरतां नृषु ॥४९॥ अधि० ४ अ० १३

४ अष्टाङ्गबल

दण्ड शब्दकी व्यापकता और उसका व्यापक अर्थ

राज्यशास्त्रमें यद्यपि दण्ड शब्दका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थमें होता है, तथापि एक व्यापक शब्दसे ही उसका अर्थ भी हो जाता है। वह शब्द है शासन। राज्यमें असदाचारसे लोगोंको निवृत्त करने और असदाचारियोंके दमन वा शासनके लिये जो संस्थाएं होती हैं यथा धर्माधिकरण और कटंकशोधन, वे दण्ड विधान करती हैं और राज्यकी शक्ति उस विधानको कार्यान्वित करती है। परराष्ट्र और शत्रुसे अनुकूल व्यवहार करानेके लिये सेना वा बलका प्रयोजन होता है। इसलिये स्वराज्य सम्बन्धी दण्ड विधायक हुए धर्माधिकरण और कण्टकशोधन और परराष्ट्र सम्बन्धी हुआ बल वा सेना।

चतुरंगबल और अष्टांगबल तथा सेनाके दो भेद

चार प्रकारकी होनेके कारण सेनाको चतुरंग बल भी कहते हैं। वे चार अंग हैं हस्ति, अश्व, रथ और पत्ति। पैदल सेना पत्ति है। रथ, हाथी और घोड़े युद्ध करनेके समय सैनिकोंके यान वा वाहनका काम करते हैं। इसलिये सेनाके दो भेद और होते हैं एक स्वगमा और दूसरा अन्यगमा। पैदल चलनेवाली सेना स्वगमा और सवारियोंपर चलनेवाली अन्यगमा है। इस चतुरंगबलको सहायता देनेके लिये और भी चार बल हैं जिनके नाम हैं नौ, विष्टि, देशिक और चर।[1] नौका वा पोतपर चढ़कर भी लड़ाई होती थी, इसलिये नौ सेना वा नौबल भी अन्यगमा था। परन्तु विष्टि, देशिक और चर वा चारका काम युद्ध करना नहीं था। वे केवल सहायक थे। विष्टि माल असबाब ढोनेवाले श्रमिक लोगोंकी संज्ञा थी। देशिक युद्धके लिये लोगोंको उपदेशों वा गीतों द्वारा प्रोत्साहन दिया करते थे और इस प्रकार इन्हें कड़खैत भी कह सकते हैं। चर वा चार गुप्तचर थे, जो शत्रुके गुप्तचरों वा भेदियोंको अपना भेद लेनेसे रोकते और उसका भेद लेनेके यत्न किया करते थे।

---

1 रथानागा हयाश्चैव पादाश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥४१॥ शां अ० ५९

वर्त्तमान समयमें तो सेनाका बहुत अधिक विस्तार हो गया है और उसके तीन मुख्य भेद स्थल सेना, नौसेना और आकाशसेना होते हैं। स्थल सेनामें पैदल, अश्वारोही और तोपची तीन प्रकारके सैनिक होते हैं। यद्यपि आजकल अश्वोंके बदले वर्मयुक्त (बख्तरदार) मोटरोंसे काम लिया जाता है। प्राचीनकालमें तोपची न थे, रथी और गजारोही ही थे। हाथियोंका महत्त्व बहुत अधिक था। पालकिका मत है कि हाथी आठ आयुधोंसे लड़ता है अर्थात् चार पावों, दो दांतों और सूँड़ और पूछसे।[1] हाथी बहुत चोट खानेपर भी व्यथित नहीं होता। शुक्राचार्यका मत है कि अकेला हाथी सहस्र मनुष्योंसे लड़ सकता है, इसलिये हाथियोंसे विजय होती है। इतना सब स्वीकार करनेपर भी यह कहना ही पड़ता है कि आपसके युद्धोंमें हिन्दू हाथियोंसे भले ही जीते हों, परन्तु परदेशियोंसे सदा हारते ही रहे। जयपालके बेटे आनन्दपालने सिन्धु नदके तटपर वाईहिन्दमें महमूद गजनवी की सेनासे मोर्चा लिया था। हिन्दुओंकी विजय होनेहीको थी कि आनन्दपालके हाथीके सहसा भागनेसे हिन्दू सेना घबरा गयी और महमूदकी विजय हो गयी।

सेनाके मुख्य अंग—हाथीकी युद्ध-शक्ति

हाथियोंकी व्यर्थता सिकंदरने सिद्ध कर दी थी, तोभी सेल्यूकससे लेकर मेनेन्दरतक अर्थात् ईसासे ३०५ से १५५ वर्ष पूर्वतक ही नहीं, वरञ्च ईसवी सन् ४५५ से ४५८ तक स्कन्दगुप्तने और ५२८ सन्‌तक नरसिंहगुप्तने हूणोंको हाथियोंकी सेनासे ही पराजित किया था। यही नहीं, सातवीं ईस्वी शताब्दीमें महाराष्ट्रके चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशीने हाथियोंसे ही हर्षवर्द्धनको हराया था। इसलिये कौटिल्यने हाथियोंके कार्यके प्रकारको जो महत्ता दी है, वह अनुचित और अतिरंजित नहीं है। लड़नेके सिवा हाथी सेनाके आगे चलते थे। पहलेसे न बने हुए वासस्थान, मार्ग, नदी, उतारेके घाट आदि बनाना, अपनी सेनाके पास खड़े होकर शत्रु सेनाको हटाना, नदीकी गहराई जाननेके लिये उसमें प्रवेश करना, शत्रुसेनाका आक्रमण होनेपर पांत

युद्धमें हाथीके कार्य

---

१ अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि।
तथा च पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते॥

बांध कर खड़े हो जाना और कूच करना, ऊँचे स्थानसे नीचे उतरना, घने जंगल और शत्रु सेनामें पिल पड़ना, शत्रुके पड़ावमें आग लगाना और अपने पड़ावमें लगी हुई आग बुझाना, रण जीतना, बिखरी सेना इकट्ठी करना और शत्रु की एकत्र सेनाको तितर बितर करना, संकटमें रक्षा करना, शत्रु सेनाको डराना और कुचल डालना, मद आदिकी अवस्थाद्वारा शत्रुके हाथियोंको विचलित करना, अपनी सेनाका महत्त्व दिखाना, शत्रुके सैनिकोंको पकड़ना और शत्रुद्वारा पकड़े हुए अपने सैनिकोंको छुड़ाना, शत्रुके परकोटों, सिंह द्वार और अट्टालकोंको गिराना और शत्रु के कोश तथा वाहन आदिको भगा ले जाना, युद्धमें प्रकीर्णिका वा सब चालोंके एक साथ प्रयोगको छोड़ सेनाके बिखरे हुए चारों अंगोंको हनन करना, पक्ष, कक्ष तथा उरस्यमें खड़ी सेनाका मर्दन करना, कहींसे शत्रु-पक्षको निर्बल देख उसपर प्रहार करना और सोते शत्रुको मार डालना हस्ति युद्ध है। उन्मथ्यावधानको छोड़कर हाथियोंके सब युद्ध अपनी योग्य भूमिमें ही होते हैं। बहुतसे हाथियोंका शत्रुसेनामें भयंकर हलचल मचाकर एकत्र हो जाना उन्मथ्यावधान है।

रथोंसे भी वे बहुतसे काम लिये जाते थे, जो हाथी करते थे अर्थात् अपनी सेनाकी रक्षा, शत्रु सेनाका विरोध, शत्रु सैनिकोंको पकड़ना और अपने सैनिकोंको छुड़ाना, अपनी बिखरी हुई सेना एकत्र करना और शत्रुकी एकत्र सेनाको बिखेर देना, शत्रु सेनाको भय और अपनी सेनाको महत्त्व दिखाना। रथोंकी यह विशेषता थी कि ये भयंकर घोष करते थे, जिसे सुनकर शत्रुका दिल दहल जाता था। कुरुक्षेत्र युद्धके वर्णनसे जाना जाता है कि रथोंमें भयंकर शब्द करनेवाले शङ्ख रहते थे और युद्धके आरम्भमें सम्भवतः ललकारनेके लिये बजाये जाते थे। ये शंख रथी ही नहीं, सारथी भी बजाते थे, क्योंकि कहा गया है कि हृषीकेशने (श्रीकृष्णने) पाञ्चजन्य और धनञ्जयने (अर्जुनने) देवदत्त तथा वृकोदर भीमने पौंड्र नामक शङ्ख बजाया। शत्रुसेनाको हराकर भाग जाना अपनी रक्षा करके बैठे हुए शत्रुके चारों ओर घेरा डालकर उससे युद्ध करना रथोंके काम हैं।

रथोंके काम

घोड़ोंसे कुछ ऐसे काम लिये जाते थे, जो हाथियों वा रथोंसे नहीं हो सकते थे। भूमिविचय, वनविचय और वासविचय अर्थात् युद्ध भूमिसे शत्रु दलको हराना, वनके मार्गोंसे झाड़ियोंमें छिपे हुए शत्रुओं वा गुप्तचरोंको भगाना और अपनी छावनीसे शत्रुओंका

अश्वकर्म

उपद्रव दूर करना, जिन स्थानोंपर शत्रु आक्रमण न कर सके, जलवायु
और प्रकाशकी अधिकता हो, नदी पार करनेका सुभीता हो, उनपर
पहले ही अधिकार कर लेना, शत्रुके वीवध अर्थात् देशसे खाद्य पदार्थों
के लगातार चले आनेके मार्गका (line of communications),
आसार अर्थात् शत्रुके मित्रकी सेनाके आगमनके मार्गका नाश और
अपने वीवध और आसारकी रक्षा करना, छिपकर बैठी हुई शत्रु सेनाको
साफ कर देना और अपनी सेनामें गड़बड़ होनेपर उसकी ठीक ठीक स्थापना
करना, जंगलोंमें उपजनेवाले अन्न और घास अर्थात् प्रसारकी वृद्धि करना,
बाहुओंकी भाँति घोड़ोंसे शत्रु सेनाको हटाना, शत्रुसेनापर पहले ही प्रहार
करना, शत्रु सेनामें घुसकर उसे विचलित करना, उसे तरह तरहके कष्ट
पहुँचाना, अपनी सेनाको आश्वासन देना, शत्रुकी सेनाको पकड़ना, अपने
मार्गपर शत्रुके चले जानेपर उसके पीछे चलना, शत्रुके कोश तथा राज-
कुमारको हर लेना, पीछे तथा सामनेसे आक्रमण करना, शत्रुके जिन सवारोंके
घोड़े मर गये हों, उनका पीछा करना, भगी हुई शत्रुसेनाको खदेड़ना और
अपनी बिखरी हुई सेनाको एकत्र करना आदि अश्वकर्म कहाते हैं। अभिसृत
(शत्रु सेनाकी ओर जाना), परिसृत (शत्रु सेनाको मारते हुए उसके चारों
ओर घूमना), अतिसृत (शत्रुकी सेनामें सुईकी भांति घुसना), अपसृत
(फिर निकल आना), उन्मथ्यावधान (शत्रु सेनामें हलचल मचाकर फिर
इकट्ठे हो जाना), वलय (दो ओरसे सुईकी तरह मार्ग बनाकर जाना), गोमूत्रिका
(गौके मूत्रकी भाँति घूमते जाना), मण्डल (शत्रु सेनाके किसी एक देशको
काटकर घेर लेना), प्रकीर्णिका (सब चालोंका एक साथ प्रयोग करना),
अनुवंश (शत्रु सेनाके अभिमुख अपनी सेनाका अनुवर्त्तन करना), भग्नरक्षा
(अपनी भग्न सेनाकी रक्षा) और भग्नानुपात अर्थात् छिन्न भिन्न शत्रु
सेनाका पीछा करना ये १३ प्रकारके घोड़ोंके युद्ध कहे गये हैं।

पदातिकर्म

बराबर अथवा ऊंची नीची भूमि और वर्षा आदि सभी ऋतुओंमें शस्त्र
धारण करना, व्यायाम (कवायद-ड्रिल) करना और आवश्यक
होनेपर युद्ध करना ये पदातिकर्म हैं। जहाँ घोड़े, हाथी
वा रथ नहीं जा सकते और जहाँ उनका युद्ध करना सम्भव
नहीं, वहाँ पदाति सेना ही युद्ध कर सकती है।

पाश्चात्य देशोंकी स्थल सेनाओंमें पहले पदाति, अश्वारोही, तोप और

तोपची होते थे। पर जबसे मोटरें चलीं, तबसे घोड़ोंका काम प्रायः सेनासे उठ सा ही गया, क्योंकि घुड़सवारों और घुड़चढ़ी तोपोंके लिये घोड़ोंकी जगह मोटरें, बक्तरदार मोटरें और टैंक काम करने लगे। टैंक बक्तरदार मोटर होता है, जिसपर तोपें चढ़ी रहती हैं। फिर भी भालेदार अश्वरोहियोंका अस्तित्व बना हुआ है और उसके सर्वथा लोप होनेकी तुरन्त सम्भावना नहीं है। पाश्चात्य सेनामें हस्त्यारोही और रथी कभी नहीं थे। भारतमें कहीं कहीं विशेषकर जोधपुर और बीकानेरके मरु राज्योंकी सेनाओंमें उष्ट्र (ऊंट) और उष्ट्रारोही (शुतुर सवार) भी होते हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि ऊंट मोटरके समान चल सकते हैं, तथापि घोड़ेसे तेज चलते हैं। पैदलोंका महत्त्व युद्धकलामें बहुत अधिक परिवर्तन होनेपर भी बना हुआ है और बना ही रहेगा।

पाश्चात्य और भारतीय सेनाओंकी तुलना

अन्य चार बलोंमें नौबल आज पाश्चात्य देशोंमें स्वतंत्र और अत्यन्त महत्त्वशाली रूपमें दिखाई दे रहा है और ब्रिटेन अपने नौबलहीके कारण आज समुद्रोंका अधिपति माना जाता है। परन्तु भारतमें नौबलका इतना महत्त्व कभी नहीं रहा। यहाँका नौबल दो रूपोंमें था एक स्वतंत्र सेना और दूसरा चतुरंग बलका सहायक। प्रथम प्रकारकी नौसेनासे ही पाश्चात्य नौसेनाएँ इतनी बढ़ी हैं। भारतीय नौसेनामें नावें और जहाज तो थे, पर इनपर तोपें नहीं चढ़ी थीं। जहाजोंपर तोपें रहनेका वर्णन भी नहीं मिलता। परन्तु हमारे रणपोत नदियों, खाड़ियों और समुद्रोंपर युद्ध ही नहीं करते थे, इनपर रहकर नौसैनिक अपने पक्षकी स्थल सेनाकी सहायता भी करते थे। सिकन्दरके समयसे लेकर मराठोंके समयतक प्रायः दो हजार वर्षोंतक भारतमें नौसेनाका पता लगता है। अनुमान है कि प्रत्येक सेनाके साथ छोटा मोटा नौ विभाग रहता होगा, जिसके अधीन कुछ नावें और रणपोत होते होंगे और जिस राज्यका सम्बन्ध समुद्र तट और बड़ी नदियों और खाड़ियोंसे रहता होगा, उसका यह नौविभाग स्वतंत्र नौसेनाका रूप धारण कर लेता होगा। इसकी चर्चा विस्तृत रूपसे अगले अध्यायमें की जायगी।

भारतमें २००० वर्ष पहले भी नौबल था।

शेष तीन बल वास्तवमें चतुरंग बलके सहायक मात्र हैं। इनमें पहला विष्टि है। विष्टिका अर्थ बेगार, मजूर आदि है। परन्तु कौटिल्यका विष्टि शब्द बड़े व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वे इनसे शिविर या पड़ाव, मार्ग,

सेतु (पुल वा बांध) और कुएं तथा घाट आदिके बनानेका काम लेनेके साथ ही, यंत्र, हथियार, कवच, अन्य प्रकारकी युद्ध सामग्री, घास, चारा आदि ढोने और युद्धभूमिसे हथियार, यंत्र कवच तथा घायलों और कदाचित् मुर्दोंको ढुलाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ये लामके साथ ही नहीं चलते थे, वरंच जो काम आज ट्रैन्सपोर्ट कोर (बारबरदार पलटन), सैपर ऐंड माइनर्स (सफर मैना), मिलटरी सप्लाई कोर और ऐम्बुलेन्स (डोली बरदार) शाखाएं करती हैं, वे सब प्राचीन कालमें विष्टिसे लिये जाते थे।

विष्टिके कार्य

देशिकको हमने ऊपर कड़खैत बताया है, परन्तु इसके अर्थके विषयमें मतभेद है। महाभारतके टीकाकार नीलकंठने इसका अर्थ उपदेष्टा वा गुरु बताया है और प्रो० हेमचन्द्र रायचौधरी कहते हैं कि ये सम्भवतः सैनिक विद्याके शिक्षक थे। कोशोंमें 'मार्गदर्शक' भी इस शब्दका अर्थ बताया गया है। यदि यह अर्थ हो, तो ये घाट, बाट, नदी, वन, पर्वत आदि मार्गोंका ठीक ठीक पता रखते होंगे और सेनाके आगे आगे 'पायोनियर' पलटन वा ऐडवान्स गार्डकी तरह चलते होंगे। प्रत्येक सेना यानमें ऐसे अग्रगन्ताओंकी व्यवस्था रहती है। परन्तु वर्त्तमान समयमें ये अग्रगन्ता भी सशस्त्र होते हैं और हमारे यहां ये निःशस्त्र ही थे। ये देशिक उपदेशक वा सैनिक विद्याके शिक्षक हों, तो सेनाके यानके समय इनका कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। कौटिल्यने मार्गदर्शकके कामके लिये अटवीबल वा जंगलियोंका—भीलों आदिका उपयोग करनेको कहा है जिससे देशिक मार्गदेशिक ही जान पड़ते हैं।

देशिककी व्याख्या

आठवां वा अन्तिम बल चर वा चार है। इसके दो विभाग होते हैं। एकका सम्बन्ध स्वदेशसे होनेके कारण वह सी० आई० डी० के समान है और दूसरेका परराज्योंसे सम्बन्ध होनेसे यह पाश्चात्य राज्यकी सीक्रेट सर्विसके समान है। सेनाका यह अंग सीक्रेट सर्विस ही समझना चाहिये।

आठवां बल

आकाश सेनाका पता नहीं मिलता, परन्तु कौटिल्यने ७ वें अधिकरणके १० वें अध्यायमें ४८ वां सूत्र 'शस्त्रेणैवाकाशयोधिनः' लिखा है, जिसका अर्थ है कि शस्त्रसे ही आकाशयोधी लड़ते हैं। इससे जान पड़ता है कि आकाश युद्ध भी स्थलयुद्ध और जलयुद्धकी भांति होते थे। परन्तु विमानोंके अभावमें आकाशयुद्ध कैसे होते थे इसका ब्योरा नहीं मिलता।

आकाशयुद्ध

५ नौसेना वा नौबल

आर्योंके जिस अष्टाङ्गबलकी चर्चा हमने की है, उसकी परिभाषा पहले पहल महाभारतके शान्ति पर्वमें ही मिली है। इसके पूर्व रामायणके आदि, अरण्य और लङ्काकाण्डों,[1] महाभारतके उद्योग पर्व, पुराणों यहां तक कि बौद्ध जातक कथाओंमें[2] तो 'चतुरंगिनीया सेनाया' का ही उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन इतिहास भी चतुरंग बलकी ही बात कहता है। सिकन्दरने जब पंजाबपर चढ़ाई की थी, तब पोरस राजाने चतुरंगिनी सेनासे ही उसका सामना किया था। अपनी सेनाके आगे इसने बड़े ऊंचे और बली ८५ हाथी और इनके पीछे ३०० रथ और कोई ३,००० पैदल रखे थे।[3] जब सिकन्दरकी सेना व्यास नदीके किनारे विश्राम कर रही थी, तब 'फेगियस' नामक भारतीय राजासे उसे ज्ञात हुआ कि अग्रामसकी सेना अपने देशके मार्गकी रक्षा चार घोड़ोंके २,००० रथोंके अतिरिक्त २० सहस्र अश्वारोहियों और २ लक्ष पदातियों तथा बड़े भारी हस्तिबलसे, जिसकी संख्या ३ सहस्र है, कर रही है।[4] कौटिल्य ने यद्यपि व्यूह रचनाके प्रसङ्गमें चतुरंग बलका ही वर्णन किया है, तथापि

नौसेनाकी चर्चा

---

१ जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरंगिणी। सर्ग ७७।५।३ बलेन चतुरंगेण स्वयमेत्य निशाचरम्। सर्ग ३८।५।७ तद्बलाश्चतुरंगेण बलेन महता वृतम्। ३७।५।२४

२ बलोदक जातक और दधिवाहन जातक इत्यादि।

3. In the van of his army he had posted 85 elephants of the greatest size and strength and behind these 300 chariots and somewhat about 30,000 infantry. MCrindle's The Invasion of India by Alexander the Great pp. 203-4.

4. King Agrammes kept in the field for guarding the approaches of his country 20,000 cavalry and 200,000 infantry, besides 2,000 four-horsed chariots and what was the most formidable force of all, a troop of elephants which he said ran up to the number of 3,000. Ibid pp. 221-22.

नावध्यक्षकी नियुक्ति करनेका भी उपदेश दिया है, क्योंकि यह शत्रुओं वा जलसदस्युओंकी नावें नष्ट करनेमें समर्थ होता था।[1] इसमें सन्देह नहीं कि इसके अधीन नौकाओंको नौसेनाका रूप प्राप्त न था। इसका कारण यही जान पड़ता है कि कौटिल्यके समयका मौर्य साम्राज्य इतना बड़ा न था और उसमें बड़ी नदियां होनेपर भी उसे समुद्री आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेका प्रयोजन न था।

यूनानी लेखक मैगेस्थनीज़ने चन्द्रगुप्तके नौविभागकी चर्चा इस प्रकार की है जिससे जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्तके समयमें अष्टाङ्ग वा चतुरंग बलके बदले षडङ्ग बल था। वह कहता है:—

यूनानी लेखकोंके ग्रन्थोंमें भारतीय नौसेनाका वर्णन

मैजिस्ट्रेटों वा अध्यक्षोंके बाद तीसरी शासकमण्डली है जो सैनिक विषयों का संचालन करती है। इसके भी छ विभाग हैं, जिनमें प्रत्येकमें पाँच सदस्य रहते हैं। एक विभाग नावध्यक्षसे और दूसरा बैलगाड़ियोंके निरीक्षकसे सहयोग करनेको नियुक्त होता है, जो सैनिकोंके लिये शस्त्रास्त्र, भोज्य पदार्थ, पशुओंके लिये चारे तथा अन्य युद्धसामग्री ले जानेके काम करता है। वह ढोल और घंटा बजानेके लिये नौकर तथा घोड़ोंके लिये साईस, मिस्त्री और कारीगर देता है। घंटेकी धुन सुन वह घसियारोंको घास लाने भेजता है और पुरस्कार वा दंडद्वारा शीघ्रतापूर्वक कार्यसम्पादनका निश्चय करता है। तीसरे विभागके अधीन पैदल, चौथेके घोड़े, पांचवेंके रथ और छठेके हाथी होते हैं।[2] इस प्रकार चन्द्रगुप्तके षष्ठाङ्ग बलमें नौका, विष्टि, पत्ति, अश्व, रथ और हस्ति थे। चर वा चार तथा देशिक भी उस समय थे, परन्तु अनुमान है कि उस समय चतुरंगबलसे आगे लोगोंकी कल्पना नहीं बढ़ी थी। हां, महाभारतके समय दृष्टि अष्टाङ्गबलतक पहुँच चुकी थी, फिर भी वह स्पष्ट नहीं थी।

परन्तु पंजाब, बंगाल तथा दक्षिणमें बड़ी बड़ी नदियां और कहीं कहीं समुद्र तट होनेसे इनके संलग्न राज्योंको नावों और जहाजोंके बेड़े भी रखने

---

१ हिंस्रिका निर्घातयेत् ॥१४॥ अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च ॥१५॥ अधि० २ अ० २८

२ Next to the city magistrates there is a third governing body,

पड़ते थे। सिकन्दरके आक्रमणके समय पंजाबकी नौसेनाने उससे मोर्चा लिया था। उस समयके क्षत्रियोंमें नौनिर्माता और नौसंचालक भी थे। पंजाबके गणराज्योंके ही ८०० से २००० जहाजोंके बेड़ेपर सिकन्दरका नौसेनाधिपति नियर्चस सिन्धुनद्से ईरानकी खाड़ीकी ओर बढ़ा था। कहते हैं कि असुर रानी सेमिरामीके भारताक्रमणके समय उससे लड़नेके लिये हिन्दुओंने ४,००० नावें जमा की थीं। इसके सैकड़ों साल बाद महमूदका सामना करनेके लिये भी इतना ही नौबल था। बंगालके राजा धर्मपालने जब कनौजकी गद्दीपर चक्रायुधको बैठानेके लिये प्रयाण किया था, तब पाटलिपुत्रमें नावोंका पुल बँधवाया था। खालिमपुरके ताम्रपत्रसे जाना जाता है कि उस समय नावोंका बड़ा भारी बेड़ा था जो गंगाके ऊपर पहाड़सा दिखाई देता था। इस ताम्रपत्रमें बलाध्यक्ष और नावध्यक्षका अलग अलग उल्लेख रहनेसे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि बलाध्यक्ष तो चतुरंगबलका और नावध्यक्ष नौबलका व्यवस्थापक था। नावध्यक्षको उतारेकी नावोंका अध्यक्ष न समझना चाहिये, क्योंकि उस कामके लिये 'तरिक' नामका अधिकारी था। वैद्यदेवके कमौली दानपत्र तथा रामचरितकी टीकामें नौयुद्धों

पंजाब, बंगाल और आसाम के की नौसेनाएं

---

which directs military affairs. This also consists of six divisions, with five members to each. One division is appointed to cooperate with the admiral of the fleet, another with the superintendent of the bullock-trains which are used for transporting engines of war, food for the soldiers, provender for the cattle and other military requisites. They supply servants who beat the drum, and others who carry gongs; grooms also for the horses, and mechanists and their assistants. To the sound of the gong, they send out foragers to bring in grass, and by a system of rewards and punishments ensure the work being done with despatch and safety. The third division has charge of the foot-soldiers, the fourth of the horses, the fifth of the war chariots and the sixth of the elephants. M'Crindle's Ancient India as described by Megasthenes and Arrian, p 88.

और पालसेनाके नदियोंके पार करनेकी चर्चा है। विजयसेनके देवपाड़ा स्थानके लेखमें नावोंके युद्धोंका वर्णन है।[1] बंगालके सेन सम्राटोंका समय १०६८ से १२०० ईस्वीतक माना जाता है। इनकी सेनाका महत्त्वपूर्ण अंग नौबल ही था, जिससे स्पष्ट है कि ७५० वर्ष पहलेतक बंगालकी सेना नौबल प्रधान थी। ह्यूनत्स्यांगका कहना है कि आसामके राजाकी सेनामें ३० हजार जहाजोंका बेड़ा था। इसका नावध्यक्ष 'तरिक' कहाता था।

दक्षिणके आन्ध्र राज्यके अधीन समुद्रका कुछ भाग था, इसलिये इसे भी नौसेना रखनी पड़ती थी। मद्रास तटपर आन्ध्र नौसेनाका अड्डा था।

चोल साम्राज्यके विस्तारमें नौसेना-का कार्य

ईस्वी सन् १७३ से २०२ तक राजा यज्ञश्रीकी मुद्राओंपर दो मस्तूलवाले बड़े जहाजका चित्र रहता था, जिससे उसके नौबलकी विशालताका ही नहीं, उसके नौबलप्रेमका भी परिचय प्राप्त होता है। दक्षिण भारतके चेर राज्य और चोल साम्राज्योंकी भी नौसेनाएँ थीं। चोल सम्राट् राज-राजने अपनी नौसेनाकी ही बदौलत पश्चिमी तटपर चेर राज्यका बेड़ा नष्ट कर सिंहलको अपने राज्यमें मिला लिया था। इससे चोल साम्राज्यमें सारी मद्रास प्रेसिडेन्सी, मैसूर राज्य और उड़ीसेका दक्षिणी भागतक आ गया था। अनन्तर सम्राट् राजेन्द्र चोलने अपनी नौवाहिनीकी वीरताकी धाक (१०१८ से १०३५ ईस्वीतक) भारतके बाहरके देशोंपर भी जमा दी थी। उसके समयमें बंगालकी खाड़ी चोल साम्राज्यकी झील हो रही थी। नौयुद्धोंसे ही लाक्ष्यद्वीप (लक्कादीप) और मालद्वीप जैसे असंख्य छोटे-छोटे पुराने टापू जीते गये। खाड़ी पारकर वर्मामें पहुँच उसने प्रोम वा पेगूका राज्य ले लिया तथा अंडमान और निकोबार टापू भी अपने साम्राज्यमें मिला लिये। चोल साम्राज्यके मुख्य-मुख्य पत्तनों वा पट्टनोंमें प्रकाशालय (lighthouse) भी बनाये गये थे। दक्षिण भारतका चालुक्य सार्वभौम द्वितीय पुलकेशी इसी लिये हर्षवर्द्धनसे मोर्चा लेनेमें समर्थ हुआ था कि, ह्यूनत्स्यांगके कथनानुसार, बहुतसे हाथियोंके अतिरिक्त उसके पास सैकड़ों जहाजोंका बेड़ा भी था।

मगधमें चन्द्रगुप्तका साम्राज्य स्थापित होनेके पहले भारतकी नौसेना अफ्रिका और चीनतक जाती थी। अफ्रिकासे हिन्दूचीन (इन्डो चाइना)

---

१ पाश्चात्यचक्रजयकेलिषु यस्य यावद् गङ्गाप्रवाहमनुधावति नौविताने।

तक जो हिन्दू राज्य स्थापित थे, वे इसी नौसेनाके बलपर स्थापित हुए थे।

वणिक्पोत भी वाणिज्यविस्तार करते थे

नौसेनाके साथ ही व्यापारपोत (merchantmen) भी थे, जिनसे रोम, अफ्रिका, चीन आदिके साथ व्यापार चलता था। इसी व्यापारके कारण अफ्रिका-का जंजीबार टापू हिन्दू बाजार प्रसिद्ध हुआ था। जो पश्चिम समुद्र आज पाश्चात्य भौगोलिकोंकी दुष्टता व मूर्खतावश 'अरबकी खाड़ी' कहाता है, उससे कोंकणतक आनेका साहस किसी अहिन्दूको नहीं होता था। जल सैनिकोंकी भांति जलवणिक् अपनी नौकाओं और पोतोंपर देशदेशान्तर-को भारतसे पण्य ले जाते थे और रोमके बाजार उसके साम्राज्यकालमें इन्हीं भारतीय जलवणिकोंके हाथमें हो रहे थे।

इस प्राचीन गौरवकी रक्षा कोई दो सौ वर्ष पहलेतक मराठोंने की थी। मराठी नौसेनाके अधिपति कान्होजी आंग्रे और तुलाजी आंग्रेके सामने तो

मराठोंकी नौवीरताके दो उदाहरण

कोई विदेशी हिन्दुओंके इस पश्चिम समुद्रपर चोरीसे अथवा साहस करके भी नहीं आ सकता था। मराठे सरदार कहते थे कि पहले 'हिन्दूपद पादशाही'को कर दे दो, बादको हिन्दू समुद्रपर पैर रखो। मराठोंके नौशौर्यके विषयमें दो ऐति-हासिक घटनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। एक सन् १७२२ ईस्वीकी है। उस समय पोर्चुगीजों और अंगरेजोंने प्रतिज्ञा की थी कि मराठोंकी नौसेना जला देंगे और इसी अभिप्रायसे वे हिन्दू समुद्रपर चढ़ गये थे। परन्तु हिन्दू मराठोंने ही उलटे उनके कई जहाज जला दिये, कई डुबा दिये और कई कैद कर लिये।

दूसरी घटना सन् १७८२ ईस्वीकी पेशवा माधवराव नारायणके समयकी है। पेशवाने अपने समुद्रसेनानी जंजीरा टापूके सूबेदार आनन्दराव धुलुप-

मराठी नौसेनाने अंगरेजोंको हराया और कैद किया था।

को एक पत्र लिखा था, जिसमें अंगरेजी और मराठी नौ-सेनाओंकी लड़ाईका वर्णन था। आनन्दरावने लिखा था कि हैदर नाइकके (हैदर अलीके) मुल्कका बन्दोबस्त करनेके लिये विलायतसे आये हुए कई जहाजोंपर गोला बारूद, ८० हजार घोड़ोंकी बन्दूकें, ४०० गोलन्दाज और ७ कौन्सिलर जल-मार्गसे जा रहे थे। रत्नागिरिमें सबेरे हमारी उनके साथ मुठभेड़ हो गयी और तोपोंका युद्ध आरम्भ हुआ। सन्ध्या

तक तोपें चलीं। अंगरेजी जहाजोंको हारते न देख हमने एक जीव हो मालिकके चरणों का स्मरण कर लड़ाई की। दोनोंकी भिड़न्त हुई। हाथपर हाथ मिलने पर यह पता न रहा कि कौन किसको मारता है। इस प्रकार एक पहर (३ घंटे) लड़ाई हुई। हमने मालिकके पुण्यबलसे बेड़ेको हरा दिया। इस लड़ाईमें हमारी ओरके जो आदमी काम आये, उनमें ८ सरदार भी थे। १५०० घायल हुए और ९०० अन्य सैनिक और बर्कन्दाज काम आये। अंगरेजोंके २००० आदमी मारे गये और एक छोटे सैनिककी भी जान गयी तथा ५।६ सौ सैनिक खेत रहे। सारी नौसेना कौन्सिलरों सहित जंजीरेमें कैद कर रखी है। यश देनेवाला मालिक है।

———

६ सैन्यव्यवस्था

सेनाकी कार्यकुशलता, योग्यता और वेतनादिके कारण कौटिल्यने उसके ६ भेद किये हैं, मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी।

सेनाके भेद कौटिल्यके अनुसार

मौल सेनाके सैनिकोंका राज्यसे पीढ़ियोंका संबंध चला आता है और ये राज्यके बड़े कर्त्तव्यनिष्ठ सेवक होते हैं। सम्भवतः इन्हें राज्यसेवाके वेतन स्वरूप जागीरें मिलती थीं। इसे वर्त्तमान भाषामें नियमित सेना (regular army) कह सकते हैं, यद्यपि इसमें भी सैनिकोंको वेतनादि ही दिये जाते हैं, जागीरें नहीं। भृतक सेना राज्यसे वेतन पाती थी, चाहे राज्यकी रहनेवाली हो वा बाहरकी। श्रेणी सेना योद्धा संघोंकी सेना थी। मित्र सेना अपने मित्रकी सेना और अमित्र सेना शत्रुकी सेना होती थी। मित्रकी सेना तो अपने पक्षमें लड़ती ही है, परन्तु शत्रुकी अभक्त वा असन्तुष्ट सेनासे भी काम लिया जाता है। युद्धमें शत्रुकी अभक्त सेना कभी आत्मसमर्पण भी कर देती है, जैसे गत महासमरमें आस्ट्रो-हंगेरियन सेनाने रूसियोंको आत्मसमर्पण कर दिया था। कभी अभक्त शत्रुसेना शत्रुसे मिल भी जाती है, जैसे सर राजर केसमेंटके उद्योगसे उन आयरिश सैनिकोंका बटालियन जर्मनीमें खड़ा हुआ था, जिन्हें युद्धमें जर्मनोंने कैद कर लिया था। सर राजर इन्हें जर्मन बटालियनमें भर्ती कर आयर्लैंडमें अंगरेजोंसे लड़ानेके लिये ले जाना चाहते थे। अटवीबल कोल, भील आदि वनचरोंका होता है। इस क्रममें अन्तिमसे आदिम उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। इन ६ के सिवा एक सातवां भेद कौटिल्यने 'औत्साहिक' भी किया है। स्वोत्साहसे लड़नेके कारण ही इनका 'औत्साहिक' नाम पड़ा है। इसे आजकलकी परिभाषामें वालंटियर आर्मी कह सकते हैं। औत्साहिकके दो भेद होते हैं एक भेद्य और दूसरा अभेद्य। जो लोग भत्ते और लूटकी आशासे सेनामें भर्ती होते हैं और अधिकका अन्यत्र डौल देखकर फूट जाते हैं, वे भेद्य और जो देशभक्तिसे प्रेरित होकर भर्ती होते हैं और अधिकके लालचसे भी नहीं फूटते, वे अभेद्य हैं। कौटिल्यकी भृतक सेना शुक्रनीतिसारकी साद्यस्क सेना कही जा सकती है, क्योंकि यह तुर्त फुर्त भर्ती की जाती है।

शुक्रनीतिसारने अपने कई सिद्धान्तोंपर सार, असार, शिक्षित, अशिक्षित, गुल्मक, अगुल्मक, दत्तास्त्र, स्वशस्त्रास्त्र, दत्तवाहन, स्ववाही आदि भेद किये हैं।

शुक्रनीतिसारके अनुसार

युद्धप्रिय सेना सार और इसके विपरीत असार, व्यूहरचनामें कुशल शिक्षित और अकुशल अशिक्षित कहाती है। जिस सेनाका स्वामी कोई और होता है, वह गुल्मक वा गुल्मीभूत और जिसका दूसरा नहीं होता, वह अगुल्मक वा अगुल्मीभूत कहाती है। इसके अनुसार मित्र, श्रेणी और अटवीबलको गुल्मक ही कहेंगे। अटवीबलका दूसरा नाम आरण्यक भी है। जिस सेनाको राजा शस्त्रास्त्र और वाहन देता है, वह दत्तास्त्र और दत्तवाहन कहाती है। मित्रकी सेना मैत्र और अपनी स्वीय होती है। मैत्र सेनाको कृतगुल्म और स्वीयको स्वयंगुल्म कह सकते हैं।[1]

युद्ध छिड़नेपर भारतमें सैनिक भर्ती करनेका काम कठिन नहीं है। आजकल तो आजीविकाके लिये ही लोग सेनामें भर्ती होते हैं, परन्तु प्राचीन

युद्धप्रियताके और धर्मरक्षा

कालमें क्षत्रिय बिछौनेपर मरना अपना अपमान समझते थे तथा युद्धमें मरनेके लिये लालायित रहते थे, क्योंकि दो ही कारण—राज्य वा पुरुष सूर्यमण्डलको भेदनेमें समर्थ होते हैं एक संन्यासी और स्वर्गकी कामना दूसरा सम्मुख समरमें मरनेवाला।[2] इसके अतिरिक्त मनुस्मृतिमें लिखा भी है कि जब धर्मपर संकट आवे, तब द्विजाति मात्रको शस्त्र ग्रहण कर उसकी रक्षा करनी चाहिये।[3] जो ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय धर्मका अवलम्बन कर युद्ध करता है, वह

---

१ मौलं बह्वनुबन्धित्वात्साद्यस्कं यत्तदन्यथा।
सुयुद्धकामुकं सारमसारं विपरीतकम् ॥८७४॥
शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिक्षितम्।
गुल्मीभूतं साधिकारिं स्वस्वामिकमगुल्मकम् ॥८७५॥
दत्तास्त्रादि स्वामिना यत्स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा।
कृतगुल्मं स्वयंगुल्मं तद्वच्च दत्तवाहनम् ॥८७६॥ अ० ४

२ द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तो यो रणेचाभिमुखं हतः ॥ ११४८ अ० ४ शु० नीतिसार

३ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं यत्र धर्मोपरुध्यते।

प्रशंसनीय ही समझा जाता है। राज्य अथवा स्वर्गकी कामना क्षत्रियोंको युद्धके लिये उत्साहित किया करती थी। श्रीकृष्णने अर्जुनको यही समझाकर युद्धमें प्रवृत्त किया था कि जीतोगे तो राज्य पाओगे और मरोगे तो स्वर्ग जाओगे।[1]

सेनाकी व्यवस्था

आजकल जिस प्रकार सेना कम्पनी, प्लैटून, रेजिमेंट, बटालियन, डिवीजन और आर्मीकोर आदिमें बँटी रहती है, उसी प्रकार हिन्दू राज्यकालमें पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, प्रत्ना, चमू, अनीकिनी और अक्षौहिणीमें बाँटी जाती थी। यह विभाग इस प्रकार होता था :—

	रथ	हाथी	घोड़े	पैदल	
पत्तिमें	१	१	३	५	
सेनामुखमें	३	३	९	१५	वा ३ पत्ति
गुल्ममें	९	९	२७	४५	वा ३ सेनामुख
गणमें	२७	२७	८१	१३५	वा ३ गुल्म
वाहिनीमें	८१	८१	२४३	४०५	वा ३ गण
प्रत्नामें	२४३	२४३	७२९	१२१५	वा ३ वाहिनी
चमूमें	७२९	७२९	२१८७	३६४५	वा ३ प्रत्ना
अनीकिनीमें	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५	वा ३ चमू
अक्षौहिणीमें	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०	वा १० अनीकिनी

कुरुक्षेत्र युद्धमें सेनाकी व्यवस्था

महाभारतके उद्योगपर्वमें जो विभाग दिये हैं, वे इनसे कुछ अंशोंमें भिन्न हैं। कहा गया है कि दुर्योधनने व्यूह भंग होनेपर सेनाका व्यूह ठीक कर लेने के लिये कुछ सैनिक अलग (रिजर्व) रख दिये थे और इस रक्षित सेनामें ऐसे रथ थे, जिनके साथ ५० हाथी और प्रत्येक हाथीके साथ १०० घोड़े और प्रत्येक घोड़ेके साथ १०० पैदल थे। ५०० रथों, ५०० हाथियों, १५०० घोड़ों और २५०० पैदलोंकी एक सेना थी। ऐसी १० सेनाओंकी एक प्रत्ना और १० प्रत्नाओंकी एक वाहिनी थी। २५० सैनिकोंकी एक पत्ति, ३ पत्तियोंका

---

१ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
गीता पर्वाध्याय २, भीष्म पर्व, महाभारत

एक सेनामुख वा गुल्म और ३ गुल्मोंका एक गण था। इससे स्पष्ट होता है कि जान बूझकर कौरवोंने भिन्न प्रकारकी सैन्यव्यवस्था रखी थी, जिसमें सैन्य विपुलतासे शत्रुको जीत लें, नहीं तो जहाँ साधारण पत्तिमें १ रथ, १ हाथी, ३ घोड़े और ५ पैदल होते थे, वहां उन्होंने अपनी पत्तिमें ५+५+१५+२५=५० सैनिक रखे थे। इसी प्रकार दुर्योधनकी असाधारण प्रतामें ५,००० रथ, ५,००० हाथी १५,००० घोड़े और २५,००० पैदल थे। ऊपर जो हिसाब बताया गया है, उसके अनुसार प्रता बड़ी और वाहिनी छोटी थी, परन्तु दुर्योधनकी सैन्य-व्यवस्थामें प्रता छोटी और वाहिनी बड़ी होती थी। कौरवोंकी सेनामें ११ और पाण्डवोंकी सेनामें ७ अक्षौहिणी थीं। फिर यदि हम इसपर भी ध्यान रखें कि कौरवोंकी प्रता बड़ी थी, तो स्वभावतः हमें यह भी मानना पड़ेगा कि उनकी अक्षौहिणी भी पाण्डवोंकी अक्षौहिणीसे बड़ी अवश्य होगी। इस प्रकार पाण्डवसे कौरव द्विगुणबलसे युद्ध करते थे। कौरवोंके सेनापति भीष्म और पाण्डवोंके पाञ्चालके राजा धृष्टद्युम्न थे।

सेनापतिमें क्या गुण होने चाहिये यह भीष्मने कौरव सेनाका आधिपत्य स्वीकार करते हुए अपने गुणोंके वर्णनके मिस बताया है। वे कहते हैं

सेनापतिकी योग्यता महाभारतके अनुसार

कि मैं देवसेनापति कुमारका पूजन करता हुआ निश्चय ही तुम्हारा सेनापतित्व करूंगा। मैं युद्धविद्या और विविध प्रकारकी व्यूहरचना जानता हूँ। मैं भृतकों और अभृतकोंसे काम लेना भी जानता हूँ। युद्धके समय और पीछे हटनेके समय मैं कूच करना और व्यूहरचना जानता हूँ। हे राजन्, मैं बृहस्पतिके समान पंडित हूँ। मैं देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंकी व्यूहरचना जानता हूँ। इससे मैं पाण्डवोंको चकरा दूँगा। तुम अपने हृदयका ताप दूर करो। मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ युद्ध विद्याके अनुसार शत्रुसे युद्ध करूँगा। हे महाराज, तुम्हारा ताप दूर हो।[1]

---

१ नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ॥७॥
सेना कर्माण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च।
कर्मकारयितुञ्चैव भृतानाप्यभृतांस्तथा ॥८॥
यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥९॥

कौटिल्यका कहना है कि सेनाके चारों अंगोंका जो कुछ कार्य बताया गया है, वह सब सेनापतिको जानना चाहिये। उसे सब प्रकारके युद्धों और शस्त्रास्त्र चलानेमें कुशल, विद्याओंसे विनीत, हाथी, घोड़े कौटिल्यके अनुसार रथ आदिके चलानेमें चतुर होना और अपनी चतुरंगिणी सेनाके कार्यों तथा स्थानोंके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिये। इसके साथ ही सेनापतिको अपनी भूमि, युद्धका समय, शत्रुकी सेना, शत्रुका व्यूहभेदन, बिखरी हुई अपनी सेनाका एकत्रीकरण, परस्परकी रक्षाके लिये शत्रुका बल तोड़ना, बिखरी हुई शत्रुसेनाको मारना, शत्रुके दुर्गको तोड़ना और यात्राका समय इन बातोंपर भली भांति विचार करके कार्य करना चाहिये। सेनापतिको यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि हमारी सेना पड़ाव डालने और चढ़ाई करनेमें ही नहीं, अनुशासनमें भी ठीक रहे और तुरही, ध्वज और झंडियोंके नामपर व्यूहोंके नाम भी उसे रखने चाहिये।[1]

रामरावण युद्धमें रावणका पुत्र प्रहस्त राक्षससेनापति था। अन्तिम मौर्य राजाका सेनापति पुष्यमित्र सुंग था। अयोध्यामें जो लेख मिला है, उसके अनुसार पुष्यमित्र सेनापति कहाता था। गुप्तकालके युद्धमें सेनापति लेखोंमें भी सेनापति ही लिखा मिलता है। महाराज द्वितीय और राजा धारसेनके मलिय ताम्रपत्रमें (ईस्वी सन् ५७१-७२) वल्लभी राजवंशका संस्थापक भट्टार्क और उसका पुत्र प्रथम धारसेन 'परम महेश्वर श्री सेनापति' लिखा गया है। वाकाटक महाराज

व्यूहानाञ्च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुपान्।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ॥१०॥
सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम्।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥११॥ महा० उद्योगपर्व अ० १६४

1 तदेव सेनापतिः सर्वयुद्धप्रहरण विद्याविनीतो हस्त्यश्वरथचर्या संघुष्टश्चतुरङ्गस्यबलस्यानुष्ठानं विद्यात् ॥१२॥ स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीकमभिन्नभेदनं भिन्नसन्धानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालं च पश्येत् ॥१३॥
तूर्यध्वजपताकाभिर्व्यूहसंज्ञाः प्रकल्पयेत्।
स्थाने याने प्रहरणे सैन्यानां विनये रतः ॥१४॥ अधि० २ अ० ३३

द्वितीय प्रवरसेनका ताम्रपत्र सेनापति चित्रवर्मनने और उन्हींका सिवानी ताम्रपत्र बप्पदेवने लिखा था, जो उस समय सेनापतिका कार्य कर रहा था। यौधेयोंके विजयगढ़ शिलालेखसे जान पड़ता है कि उस समय सेनापति केवल सेनानी रह गया था, इस लिये सेनापति महासेनापति कहाने लगा था। पाल राजाओंके लेखोंमें भी सेनापतिकी चर्चा है।

शुक्रनीतिसारमें सेनापतिकी योग्यताके विषयमें यह विलक्षण बात लिखी है कि वह क्षत्रिय होना चाहिये और क्षत्रिय न मिले तो ब्राह्मण होना चाहिये। वैश्य और शूद्र उसी अवस्थामें सेनापति बनाये जा सकते हैं, जब वे शूरवीर हों। क्षत्रियोंको जैमिनिने मंत्री बनानेका इसलिये निषेध किया है कि उन्हें युद्ध ही सूझता रहता है और वे मंत्रके और तीन अंगों—साम, दाम तथा भेदका महत्त्व नहीं समझते। नीतिवाक्यामृत भी इसी मतका पोषक है। जो हो, वैश्य और शूद्रको सेनापति बनानेका विरोध शुक्रनीतिसारने कदाचित् इसलिये किया है कि युद्धक्षेत्रमें वे परन्तप (शत्रुको तपानेवाले) नहीं हो सकते।

सेनापतिमें क्षत्रियत्व वा शौर्यका प्रयोजन

रामायणसे जाना जाता है कि राक्षस सेनापति प्रहस्तके चार सचिव भी थे, जो नारान्तक, कुम्भहनु, महानन्द और सुमुन्यत नामोंसे प्रसिद्ध थे। जब राक्षसव्यूह यान (चढ़ाई) करता था अथवा आगे बढ़ता था, तब सेनापतिको ये सचिव घेरे रहते थे। ये अंगरक्षक हो सकते हैं, पर इस वर्णनसे यह अनुमित होता है कि सेनापति युद्ध सञ्चालनके विषयमें इनसे परामर्श करता था। इससे ये सचिव उसकी युद्धपरिषद्के सदस्य ही प्रतीत होते हैं। अवश्य ही ये युद्धकलामें निपुण होते होंगे। परन्तु इन सचिवोंकी चर्चा अन्यत्र देखी नहीं जाती।

युद्ध समिति वा वार कौन्सिल

युद्धक्षेत्रमें राजकुमार वा कुमार भी जाता था, पर इसका दर्जा सेनापतिसे नीचे होता था। सेनापतिका वेतन कुमारके वेतनसे चौगुना हो यह कौटिल्यका मत है। अपनी सेनाको उत्साहित करते समय कहा जाता था कि शत्रु राजाका वध करनेवालेको एक लाख पण और सेनापति अथवा कुमारका वध करनेवालेको ५० हजार पण पुरस्कार दिया जायगा। राजा सेनाका स्वामी अवश्य

युद्धमें कुमार

था, तथापि युद्धमें सेनाको प्रोत्साहन देना मात्र उसका कार्य था। वास्तविक युद्धसंचालन सेनापति ही करता था। कुमार युवराज नहीं होता था, परन्तु राजपुत्र होनेके कारण इसकी गतिविधिका महत्त्व था। सम्भवतः कुमार भी सेनाके किसी अंशका सेनानी होता था। प्रत्येक यानमें कुमारको भेजने का कारण उसे युद्धका अनुभव करानेके सिवा कुछ नहीं जान पड़ता।

सेनापतिको दण्डनायक वा महासेनापति भी कहते थे। कनिष्कके मनिकियल लेखमें लाल कुशान वशंका 'दण्डनायग' बताया गया है। गुप्तकालके लेखोंमें सेनापति और महासेनापतिके अतिरिक्त दण्डनायक, महादण्डनायक, बलाध्यक्ष, महाबलाध्यक्ष, बलाधिकृत और महाबलाधिकृतका उल्लेख है। ७ वीं ईस्वी शताब्दीके नैपालके लेखोंमें सर्वदण्डनायक और महासर्वदण्डनायक नाम मिलते हैं। गौड़लेखमालाके अनुसार देवपालदेवके नालन्दा ताम्रपत्रोंमें महादण्डनायक, गौल्मिक, हस्त्यश्वोष्ट्रनौबलव्यापृतक, नौकाध्यक्ष, हस्त्यक्ष, अश्वध्यक्ष इत्यादिका उल्लेख है। इन नामोंमें हस्त्यश्वोष्ट्रनौबलव्यापृतक महासेनापतिका नामान्तर ही जान पड़ता है, क्योंकि हाथी, घोड़े, ऊंट और नौबल इसीके अधीन थे।

सेनापतिके और नाम

कौटिल्यने सेनापतिके नीचे बलाध्यक्षों—पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्षको रखा है। इन्हें ८००० वा ४००० पण वार्षिक वेतन मिलता था। रथिक वा रथी रथपर चढ़कर युद्ध करता था। इसका तथा सेनाके चिकित्सकोंका वेतन २।२ हजार पण और अंगरक्षकका ६० और बढ़ई वा मिस्त्रीका १२० पण वार्षिक था। बलमुख्य और बलाध्यक्ष दोनो पर्यायवाची जान पड़ते हैं।

सेनापतिके नीचेके बलाध्यक्ष

शुक्रनीतिसारमें ५।६ पैदलोंका अधिकारी पत्तिपाल और ३०का गुल्मक बताया गया है। सौ पदातियोंका नायक शतानीक कहाता है। इसका काम सबेरे और सन्ध्याको शिक्षा देना और व्यायाम (कवायद—ड्रिल) कराना है। इसे युद्धविद्या और युद्धक्षेत्रोंके स्वरूपोंका ज्ञान होना आवश्यक है। इसका सहायक अनुशतिक बताया गया है। सैनिकोंकी आवश्यकताका ज्ञान तथा युद्धोपयुक्त सैनिककी पहचान जिसे होती है

अध्यक्षोंके नीचेके अधिकारी और उनके कार्य

और जो सन्तरी और रक्षक नियुक्त करता है, वह शुक्रनीतिसारके मतसे सेनानी होता है। पत्तिय वा पत्तिपाल रात्रिको सैनिकोंकी बदली करता है और गुल्मक पता रखता है कि रातको किस किसका पहरा होता है। लेखक भी सौ सैनिकोंका अफसर होता है और इसका काम यह जानना है कि कितने सैनिक हैं और उन्हें क्या वेतन मिलता है तथा पुराने सैनिक कहाँ चले गये। १० घोड़ों वा १० हाथियोंके अफसरका नाम नायक है।

युद्धमें योद्धाओंकी संख्या

प्राचीन कालमें युद्धोंमें योद्धाओंकी कितनी संख्या उभय पक्षमें रहती थी यह नहीं कहा जा सकता। परुष्णि (रावी) नदीपर तृत्सुओंके राजा सुदास और दस राजाओंमें जो युद्ध हुआ था, ऐतिहासिक होनेपर भी उससे हमें सेनाके विषयमें कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। रामरावण युद्धके पहले पम्पापुरीमें जो वानर सेना एकत्र हुई थी, रामायणमें दी हुई उसकी संख्या इतनी अधिक है कि विश्वास करना कठिन हो जाता है। अकेले अङ्गदकी सेनामें 'एक सहस्र पद्म और एक शत शंख' सैनिक थे। किसी किसीके मतसे एक पद्म १०,००० करोड़ और एक शंख १०० करोड़के बराबर होता था। वानरी सेनामें और भी सेनानायक थे, जिनकी सेनामें हजारों करोड़ सुभट थे। कुरुक्षेत्र युद्धमें पाण्डवोंके सहायतार्थ सात्वत जातिके वीर युयुधानने चेदिराज दृष्टकेतु और मगधराज जयत्सेनने एक एक अक्षौहिणी सेना भेजी थी तथा पाण्ड्य, मत्स्य, पाञ्चाल आदिके राजाओंकी ४ अक्षौहिणी सेनाएं थीं। इनका सामना करनेको कौरवोंकी ११ अक्षौहिणी सेनाएं थीं, जिसमें प्राग्ज्योतिषके (आसामके) राजा भगदत्त, भूरिश्रवा, मद्रराज शल्य, हरिदिकके पुत्र कृतवर्मा, सिन्धु सौवीरके राजा जयद्रथ, काम्बोजके राजा सुदक्षिण, आवन्तीके दोनो राजाओं तथा केकयके राजाने एक एक अक्षौहिणी भेजी थी। पाण्डवोंके पक्षमें १,५३,०९० रथ, १,५३,०९० हाथी, ४,५९,२७० घोड़े ७,६५,४५० पैदल थे तथा कौरवोंके पक्षमें २४०,५७० रथ, २४०,५७० हाथी, ७,२१,७१० घोड़े और १२,०२,८५० पैदल थे।

सिकन्दरके भारताक्रमणके समय यहाँ किस राज्य वा देशमें कितनी सैन्यसंख्या थी इसका जो वर्णन सिकन्दरके इतिहासलेखकोंने किया है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है:—

सिकन्दरके समयकी भारतीय सेनाएं

जातियों-राजाओं वा नगरोंके नाम	संख्या सैनिकोंकी
१ मस्सग नगरकी रक्षा की	३८,००० पैदलोंने
२ पोरस (राजा) कर्टियसके अनुसार इसकी सेनामें	३०,००० पैदल ३०० रथ और ८५ हाथी थे।
डियोडोरसके अनुसार	५,००,००० पैदल ३,००० घोड़े १,००० रथ और १३० हाथी थे।
३ अग्रमस (राजा)	२,००,००० पैदल, २०,००० घोड़े, चार घोड़ोंवाले २,००० रथ और युद्धके लिये ३।४ शिक्षित और सज्जित हाथी
४ सिवि (पतञ्जलिके शैव्य)	४०,००० पैदल
५ मल्लोइ या मल्ली (मल्ल जाति)	९०,००० पैदल, १०,००० सवार और ९०० युद्धरथ
६ सन्नकाइ (जाति)	६०,००० पैदल और ६,००० सवार और ५०० रथ
७ अगलासियन (अग्रश्रेणी जाति)	४०,००० पैदल और ३,००० घोड़े
८ अस्सकेनोइ (जाति)	३०,००० पैदल और २,००० घोड़े और ३० हाथी
९ अंड्कोटसने (चन्द्रगुप्तने) प्लूटार्चके अनुसार	६,००,००० सैनिकोंसे समग्र भारतको पादाक्रान्त कर दिया।

सेल्यूकसके साथ चन्द्रगुप्तके युद्ध और सन्धिके बाद यवन दूत मेगस्थनीज़ पाटलिपुत्रमें रहा था। इसने भारतीय जातियों और उनकी सेनाओंका जो वर्णन लिखा है, उससे उनकी सेनाओंके विषयमें यह पता लगा है:—

मेगस्थनीजके अनुसार भारतीय सेनाएं

	पैदल	सवार	हाथी
१ कलिंग (जाति)	६०,००० पैदल,	१,००० सवार और	७०० हाथी
२ मोलिन्द, उबेरोइ, मदुवोइ	५०,००० ,,	४,००० ,, ,,	४०० ,,
३ अन्दराइ (आन्ध्र)	१,००,००० ,,	२,००० ,, ,,	१,००० ,,
४ प्रासिआइ (प्राच्य) (राजधानी पाटलिपुत्र)	६,००,००० ,,	३०,००० ,, ,,	९,००० ,,
५ ओटोमेला (नगर)	१,५०,००० ,,	५००० ,, ,,	१६०० ,,
६ पाठञ्य	१,५०,००० ,,	सवार नहीं	५०० ,,
७ गंगाराइडे	६०,००० ,,	१,००० सवार ,,	७०० ,,

मध्यकालीन भारतीय सेनाएं

विजयनगरके सम्राटोंकी सेनाएं भी छोटी न थीं। मेजर टी. डवल्यू-हेगके अनुसार १३९९ ईस्वीमें द्वितीय हरिहरने ९ लाख पैदल और ३० हजार सवार लेकर रायचूर दोआब जीतनेका प्रयत्न किया था और १५२१ में कृष्णरायने युद्धक्षेत्रमें ६ लाख पैदल और ५० हजार सवार एकत्र कर दिये थे और १५६४ में सदाशिवरायकी सेनामें ३० लाख पैदल, १ लाख सवार, २ हजार हाथी और १ हजार तोपें थीं। ऐसी बड़ी सेनाएं भारतीय राजाओं और राज्योंकी विशेषता थी, क्योंकि विदेशियोंके सिवा समय समयपर उन्हें स्वदेशियोंसे भी लड़ना पड़ता था। जेजाभुक्ति वा जुजहुतके चंदेल राजा गण्डने भी महमूद गजनवीका सामना करनेके लिये १,०५,००० पैदल ३६,००० सवार और ६४० हाथी एकत्र किये थे, परन्तु वह कायर था, इसलिये रातको आप ही भाग गया, जिससे अनायास महमूद विजयी हो गया।

---

७ युद्ध और व्यूह

स्वार्थसिद्धिके लिये अस्त्रशस्त्रादिसे जो व्यापार होता है, उसे युद्ध कहते हैं अथवा अस्त्रशस्त्रादिसे शत्रुका जो दमन किया जाता है, वह युद्ध कहाता है।

युद्धकी परिभाषा

प्रायः सभी आचार्योंने दो प्रकारका युद्ध माना है एक धर्मयुद्ध और दूसरा कूटयुद्ध। परन्तु कौटिल्य तीन प्रकारका युद्ध मानते हैं, प्रकाश, कूट और तूष्णीम्। प्रकाश युद्धमें खुल्लमखुल्ला डंकेकी चोट युद्ध छेड़ा जाता है। शत्रुको ललकार उसपर आक्रमण किया जाता है। इसमें युद्धकी सभी बातें होती हैं। पर छोटी-सी सेनाको बड़ी दिखाकर भय उत्पन्न कर देना, दुर्ग आदिका जलाना, लूटना, प्रमाद और व्यसनके समय शत्रुको पीड़ा देना तथा एक जगह युद्ध छेड़कर दूसरी जगह धावा बोल देना कूट युद्धके लक्षण हैं। विष, औषधि आदि तथा गूढ़ पुरुषों अर्थात् भेदियों द्वारा उपजाप (बहकाने, धोखा देने) आदि के प्रयोगोंसे शत्रुका नाश करना तूष्णीम् युद्ध है।[1] गत महासमरमें तथा वर्त्तमान यूरोपियन युद्धमें तीनों प्रकारके युद्ध दिखाई देते हैं।

युद्धोंके भेद

धर्म युद्ध कुछ निर्द्धारित नियमोंके अनुसार होता था। धर्म युद्धके नियम मानवोचित दयादि गुणोंसे युक्त होते हैं। इसका उद्देश्य शत्रुसेनाका संहार नहीं होता, प्रत्युत उससे हार स्वीकार कराना और अधिक से अधिक उसे करद बनाना मात्र होता है। इसलिये ऐसे बाणोंका प्रयोग निषिद्ध है, जो विषदग्ध (जहर बुझाये) होते थे अथवा जिनके निकालनेमें घाव बढ़ जाता है। दमदम बुलेट ऐसी ही गोली है जिसके प्रयोगका निषेध हेगकी अन्तरराष्ट्रीय पंचायतने किया है, यद्यपि हमारी दयालु सरकार सीमान्तकी जातियोंपर उसका प्रयोग न करनेके लिये अपनेको बाध्य नहीं समझती। धर्म युद्धमें एक

धर्म युद्ध किसे कहते हैं ?

---

१ प्रकाशयुद्धं निर्दिष्टो देशे काले च विक्रमः।
विभीषणमवस्कन्दः प्रमादव्यसनार्दनम् ॥४६॥
एकत्र त्यागघातौ च कूटयुद्धस्य मातृका।
योगगूढोपजापार्थं तूष्णीं युद्धस्य लक्षणम् ॥४७॥ अधि० ७ अ० ७

बात यह आवश्यक थी कि वह समबलमें ही हो अर्थात् पदाति पदातिसे, अश्वारोही अश्वरोहीसे तथा रथी और गजारोहीसे ही युद्ध हो सकता था। महाभारतमें स्पष्ट ही कहा गया है कि अश्वारोही रथीपर और रथी अश्वरोही पर आक्रमण न करे। यह भी नियम था कि जिसका शस्त्र भंग हो गया हो, जो गिर पड़ा हो, जिसके कवच और ध्वज भंग हो गये हों, जो डरा हुआ हो अथवा जो कहता हो कि 'मैं तेरा हूँ,' घायल हो, दुःखित वा पराजित हो अथवा स्त्री हो, तो उसपर शस्त्र न चलाया जाय। शत्रु पक्षके घायलोंकी चिकित्सा और परिचर्या करनेका भी नियम था। इन नियमोंका व्यवहार स्वदेशी और विदेशी तथा स्वधर्मी और विधर्मी सब प्रकारके शत्रुओंके साथ होता था। सम्भवतः इसी कारण अनेक बार अविश्वसनीय विदेशी शत्रुओंसे धोखा भी खाना पड़ा। महाभारतसे जाना जाता है कि कुरुक्षेत्र युद्धमें गदायुद्धके नियमोंके विरुद्ध भीमने दुःशासनकी जांघ तोड़ दी थी। इसके पक्षमें कहा जाता है कि उसने द्रौपदीको अपनी जांघपर बैठनेको जब कहा था, तब भीमने उसकी जंघा तोड़नेकी प्रतिज्ञा की थी। परन्तु साधारणतः इन नियमोंका पालन 'डिक्लरेशन ऑव लंडन' के नियमोंकी अपेक्षा अधिक ही होता था।

धर्म युद्धका उद्देश्य

धर्मयुद्धका उद्देश्य तो धर्मका संस्थापन और अधर्मका नाश ही होता है, परन्तु सार्वभौम बननेकी उच्चाभिलाषाके कारण दिग्विजय पूर्वक राजसूय, अश्वमेधादि द्वारा पराक्रम प्रकट करनेके लिये भी युद्धका प्रयोजन होता था। धर्मराज्य संस्थापन मुख्य उद्देश्य होनेके कारण यदि किसी शत्रुसे धर्मयुद्धद्वारा विजय पाना असम्भव दिखता था, तो छलका आश्रय भी लिया जाता था। मगधराज जरासन्ध जब चेदिराज शिशुपालकी सहायतासे अपनेको चक्रवर्ती वा सम्राट् घोषित करनेकी तैयारी कर रहा था, उसी समय पाण्डवोंने दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया और श्रीकृष्णके परामर्शपर भीमने छलपूर्वक उसे मार डाला। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य यशोधर्मदेवने यशोलाभके लिये ही दिग्विजय किये थे। यशोधर्मदेव विक्रमादित्यके विषयमें शिलालेखमें बताया गया है कि जिन देशों पर गुप्तोंकी प्रभुता नहीं थी, उन्हें भी यशोधर्मदेवने जीता था और उसके सरदारोंके सामने लौहित्य वा ब्रह्मपुत्र नदसे लेकर महेन्द्राचलतक तथा हिमालयसे समुद्रतटवर्त्ती राजातक सिर झुकाते थे।

कूटयुद्धमें छलबलसे वैरीको मारना ही उद्देश्य रहता है। इसमें पूर्वोक्त नियमोंका पालन नहीं होता। महाभारतके शान्ति पर्वमें और मनुस्मृतिमें तो विशेष रूपसे कहा गया है कि जो अयोद्धा (non-combatants) हों, वे न मारे जायं। खेती और शत्रु के देशका नाश करना भी अधर्म बताया गया है। परन्तु कौटिल्यका कहना है कि यदि शत्रु देशके लोग विजिगीषुके प्रति शत्रुभावापन्न हों, तो यह उनकी खेती, अन्न, भांडार तथा अन्य प्रकारका सामान नष्ट कर दे। यदि राजाकी प्रजा उससे सन्तुष्ट होगी, तो इसका विजिगीषुके प्रति शत्रुभाव रखना स्वाभाविक ही है। इसलिये यह देशभक्तिके कारण प्रजाको दंड देना है। जो विजिगीषु येन केन प्रकारेण परराज्यको स्वराज्य बनाना चाहता है, वह तो विरोधियोंका सर्वनाश करनेका प्रयत्न करता ही है। वर्त्तमान महासमरमें यही हुआ और हो रहा है।

कूटयुद्ध

कौटिल्यने तीन प्रकारके विजिगीषु कहे हैं धर्मविजयी, असुरविजयी और लोभविजयी। धर्मविजयी वह है, जो शत्रुके अधीनता स्वीकार करने मात्रसे सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। लोभविजयी धन और धरती पानेसे सन्तुष्ट होता है, परन्तु असुरविजयी इतनेसे ही प्रसन्न नहीं होता, दुर्बल शत्रुको नष्ट करना ही उसका उद्देश्य होता है। इसलिये इसे सदा दूर रखना चाहिये।

विजिगीषु तीन प्रकारके

युद्धके लिये जब सेना प्रस्थान करती है, तब राजा वा सेनापति उसे प्रोत्साहित करनेके साथ ही कर्त्तव्यका उपदेश देता है और बताता है कि कर्त्तव्यका यथोचित पालन न करनेसे अथवा रणभूमिमें पीठ दिखानेसे बड़ी अपकीर्त्ति होती है। जो सैनिक भृति वा वेतन पाकर काम नहीं करता, वह नरकगामी होता है। कौटिल्यने बताया है कि राजा अपनी सेनाको एकत्र करके कहे, 'मैं भी आपकी भाँति वेतन पाता हूँ। आपके साथ ही इस राज्यका भोग कर सकता हूँ। मेरे बताये शत्रुको आपको अवश्य ही मार डालना चाहिये।' फिर मंत्री और पुरोहितसे इस प्रकार कहलवावे, 'वेदोंमें ऐसा सुना जाता है कि दक्षिणादान और अवभृथस्नानके पश्चात् आशीर्वादमें कहा जाता है 'जो शूरवीरोंकी गति होती है, वही तेरी भी हो।' अनेक यज्ञ करके, तप करके और दानपात्रोंका चुनाव करके स्वर्गकी कामना करनेवाले ब्राह्मण जिन

सेनामें युद्धोत्साह भरनेका उपाय

लोकोंको जाते हैं, शूरवीर क्षत्रिय धर्मयुद्धमें प्राण त्याग करके उनसे भी उच्चतर लोकोंको एक क्षणमें चले जाते हैं। जलसे पूर्ण, मंत्रोंसे संस्कृत और कुशोंसे ढका हुआ नया सेरवा उस पुरुषको प्राप्त नहीं होता, जो स्वामीके लिये युद्ध नहीं करता और वह नरक जाता है।"[1] अर्थात् श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जलपात्र कायरोंको नहीं मिलता। अन्तमें सूत (इतिहासज्ञ) और मागध (स्तुतिपाठक) वीरोंके स्वर्ग जाने और कायरोंके नरक जानेकी बातें कहें और योद्धाओंको बतावें कि तुम वीर जातिमें जन्मे हो, तुम्हारा संघ वीरोंका संघ है और तुम्हारे वंशमें लोग वीरकार्योंके लिये प्रसिद्ध रहे हैं।[2]

यानमें कौन-कौन हों और यान करनेवाली सेनाके चलनेका क्रम क्या हो ?

जब विजिगीषु यान (चढ़ाई) करे, तो सेना किस ढङ्गसे कूच करे इस विषयमें कौटिल्यने बताया है कि आगे नायक रहे, बीचमें रनिवास और राजा रहें, तथा दोनो पक्षोंमें शत्रुका आघात रोकनेवाली घुड़सवार सेना रहे। सेनाके पिछले भागमें हाथी रहें और सबसे पीछे सेनापति रहे। इस सेनाके साथ अन्न, भूसा, घास, जल आदिकी पूरी व्यवस्था रहे। रास्ते और वनसे जो घास, भूसा आदि संग्रह किया जाता है, वह प्रसार कहाता है और जो कमिसरियटके रूपमें छकड़ों और लद्दू जानवरोंपर सेनाके साथ लगातार जाता है, वह वीवध कहाता है। रनिवासका यानपर जाना कदाचित् आवश्यक समझा जाता था,

---

१ संहृत्य दण्डं ब्रूयात् ॥२८॥ तुल्य वेतनोऽस्मि ॥२९॥ भवद्भिः सह भोग्यमिदम् राज्यं ॥३०॥ मयाभिहितः परोऽभिहन्तव्य इति ॥३१॥ वेदेष्वप्यनुश्रूयते 'समाप्तदक्षिणानां यज्ञानामवभृथेषु ॥३२॥ सा ते गतिर्या शूराणां' इति ॥३३॥ अपीह श्लोकौ भवतः ॥३४॥

यान्यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयश्च यान्ति।
क्षणेन तानप्यति यान्ति शूराः प्राणान्सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥३५॥
नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य माभून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्धेत् ॥३६॥
इति मंत्रिपुरोहिताभ्यामुत्साहयेद्योधान् ॥३७॥ अधि० १० अ० ३

२ सूतमागधाः शूराणां स्वर्गमस्वर्गं भीरूणां जाति संघकुलकर्मवृत्तस्तवं च योधानां वर्णयेयुः ॥४९॥ अधि० १० अ० ३

इसीलिये पानीपतकी तीसरी लड़ाईमें भी मराठी सेनानायक स्त्रियोंको मालवेमें छोड़ देनेके बदले साथ लेते गये थे। इस व्यवस्थाका एक कारण तो यह जान पड़ता है कि रानियां युद्ध देखेंगी, तो उनमें भी वीर भावना उत्पन्न होगी और वे वीरप्रसविनी होंगी। युद्धमें मरनेका तो आश्चर्य ही नहीं, इसलिये जो राजा वा सेनापति मरेगा, उसकी स्त्री उसका अन्तिम दर्शन कर सकेगी। अस्तु, सेनामें स्त्रियोंके रहनेके स्थानको अपसार और मित्रबलको आसार कहते हैं।[1]

व्यूह और उसका महत्त्व

युद्धक्षेत्रमें लड़नेके लिये सेनाकी जो सजावट की जाती है, वह व्यूह कहाती है। व्यूहरचना भी युद्धकलाकी दृष्टिसे बड़ा भारी कौशल है। कभी कभी इसी व्यूहरचनाचातुर्यकी बदौलत अल्पसंख्यक सेना बहुसंख्यक सेनापर विजय प्राप्त करती देखी गयी है। कुरुक्षेत्रयुद्धमें पाण्डवोंकी व्यूहरचना इसका प्रमाण है। कौरवोंकी सेना चक्रव्यूहमें थी, परन्तु पाण्डव नित्य नये ढंगका व्यूह बनाया करते थे। भीष्म द्रोण आदि महारथियोंकी रक्षाके लिये चक्रव्यूह बनाया गया था। सिकन्दरकी व्यूहरचना भी उसकी जीतका कारण हुई थी। व्यूहरचना दो प्रकारकी होती है। एक तो वह जिस समय सेना युद्धमें प्रवृत्त की जाती है और दूसरी वह जब मुख्य सेना शत्रुकी दृष्टि से परे रख दी जाती है और छोटीसी सेना सजाकर खड़ी कर दी जाती है। कौशल इसी में है, इसलिये कौटिल्यके मतानुसार इसका वर्णन किया गया है।

व्यूह और अंगोंकी शक्तिकी तुलना

प्रत्येक व्यूहके पांच अंग वा भाग होते हैं, दो पक्ष, दो कक्ष और एक उरस्य। सेनाके दोनो अगले भागोंको पक्ष (wings) और पिछले भागोंकी कक्ष (rear) तथा मध्य भागकी संज्ञा उरस्य (front) है। व्यूह चारो अंगोंको मिलाकर भी बनाया जाता था और अलग अलग भी। पदातिके व्यूहमें एक पैदल दूसरेसे एक शम वा १४ अंगुलकी दूरीपर रखा जाता था। सवारोंमें ३ शमका और रथोंमें ५ शमका तथा हाथियोंमें इससे दूना अर्थात् १० शमका अन्तर रहता

---

[1] पुरस्तान्नायकः ॥ ५ ॥ मध्ये कलत्रं स्वामी च ॥ ६ ॥ पार्श्वयोरश्वा बाहूत्सारः ॥७॥ चक्रान्तेषु हस्तिनः ॥ ८ ॥ प्रसारवृद्धिर्वा सर्वतः ॥ ९ ॥ वनाजीवः प्रसारः ॥१० ॥ स्वदेशादन्वायति वीवधः ॥ ११ ॥ मित्रबलमासारः ॥ १२ ॥ कलत्रस्थानमपसारः ॥ १३ ॥ पश्चात्सेनापतिः पर्यायाभियायात् ॥ १४ ॥ अधि० १० अ० २

था। बाण चलानेवाले ५।५ धनुषके अन्तरपर, सवार ३।३ धनुषपर और हाथी ५।५ धनुषपर खड़े किये जाते थे[1]। दोनों पक्षों, दोनों कक्षों और उरस्यमें ५।५ धनुषोंका व्यवधान रहता था। इसे अनीक-सन्धि कहते थे। सवारका सामना करनेकी योग्यता ३ पदातियोंमें समझी जाती थी। रथ वा हाथीका सामना करनेकी सामर्थ १५ पदातियों वा ५ सवारोंमें समझी जाती थी। एक रथ, एक घोड़े और एक हाथीके १५ पादगोप वा खड़ेस नौकर आदि होते थे।

सम और विषम व्यूह तथा आवाप-करण

समव्यूह और विषमव्यूह दो मुख्य भेद व्यूहके बताये गये हैं। ३ रथों का एक त्रिक होता था। तीन त्रिक उरस्यमें, तथा ६।६ कक्षों और पक्षोंमें रहने से ४५ रथ होते थे। इनके आगे ५।५ घोड़े रखनेसे २२५ घोड़े और १५।१५ पैदल रखनेसे ६७५ पदाति होते थे। इतने ही पादगोप होते थे। यदि रथोंके त्रिकोंमें २।२ रथ तबतक बढ़ाये जाते रहें, जबतक वे २१ न हो जायं, तो इस प्रकार अयुग्म रूपमें दस भेद समव्यूहके हो जाते हैं। पर यदि उरस्यमें कक्षों और पक्षोंके रथोंकी इस व्यवस्थाके विपरीत रथ रहें अथवा कक्षों और पक्षोंमें उरस्यसे विपरीत रहें, तो इसे विषमव्यूह कहते हैं और इसके भी उसी प्रकार दस भेद हो जाते हैं।

जब व्यूहरचनाके बाद जो सेना बच जाती है और फिर व्यूहके अन्दर ही डाल दी जाती है, तब ऐसे सैन्यबाहुल्यको आवाप कहते हैं। पदातियोंका इस प्रकारका मिश्रण प्रत्यावाप तथा अन्य तीनों बलोंमें किसीका बढ़ाना अन्वावाप है। व्यूहरचनाका यह सिद्धान्तसा है कि शत्रु अपनी सेनामें जितना आवाप या प्रत्यावाप करे, विजिगीषु उससे चौगुनेसे अठगुनेतक आवाप करे। यह सम्भव न हो तो यथाशक्ति ही आवाप करे, परन्तु करे अवश्य। दूष्य या राजाके साथ विरोध रखनेवाले पुरुषोंद्वारा सेनाके इस प्रकार बढ़ाने को अन्यावाप कहते हैं।

व्यूहके दो प्रकार और हैं एक शुद्ध और दूसरा मिश्र। शुद्ध व्यूह एक ही एक बलका होता है और मिश्र व्यूह दो या अधिक बलोंका। शुद्ध व्यूह जब पदातियोंका बनाया जाता था, तब कवच पहने सैनिक उरस्यमें, धनुर्धर

---

१ एक धनुष = ५ अरत्नि और १ अरत्नि = ५४ अंगुल अर्थात् एक धनुष = २७० अंगुल।

(तीरन्दाज) पार्ष्णि वा कक्षोंमें तथा बिनाकवचके योद्धा पक्षोंमें रखे जाते थे। अश्वव्यूहमें वर्म (बक्तर) पहने घोड़े उरस्यमें तथा वर्म रहित कक्षों और पक्षोंमें खड़े किये जाते थे। गजव्यूहमें वे हाथी उरस्यमें रखे जाते थे जो युद्धके लिये शिक्षित किये जाते थे, कक्षोंमें सवारीवाले हाथी होते थे और पक्षोंमें बदमाश हाथी खड़े किये जाते थे। मिश्र व्यूहमें दो दो बलोंकी मुख्यता रहती थी। किसीमें पैदलों और घोड़ोंकी और किसीमें हाथियों और रथोंकी। उरस्यमें रथ, पक्षोंमें घोड़े और कक्षोंमें हाथी रखनेसे अच्छा व्यूह बनता था।

शुद्ध और मिश्र व्यूह

दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत ये मुख्य चार व्यूह कौटिल्यने बताये हैं। जब सब सैनिक बराबर बराबर खड़े किये जाते हैं और डंडेका रूप धारण कर लेते हैं, तब दण्डव्यूह होता है। इसके उरस्य, कक्षों और पक्षोंमें समबल होनेके कारण यह प्रकृतिव्यूह भी कहता है। इसके चार विकृत रूप भी होते हैं जो प्रदर, दृढ़क, असह्य और श्येन कहाते हैं। ये विकृति व्यूह हैं। जब दण्ड व्यूहके कक्ष उरस्यकी ओर निकले रहते हैं, तब उसे प्रदर कहते हैं। शत्रुका व्यूह भंग करनेके कारण इसका नाम प्रदर पड़ा है। जब दण्ड व्यूहके कक्ष और पक्ष पीछेको हटे रहते हैं, तब दृढक व्यूह होता है। जब उसके पक्ष लम्बे कर दिये जाते हैं, तब उसे असह्य और जब दोनो पक्षोंके बन जानेपर उरस्य आगे निकल पड़ता है, तब उसे श्येन कहते हैं। जब उलटे क्रमसे इन व्यूहोंकी रचना की जाती है, तब ये चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ और सुप्रतिष्ठ कहाते हैं। जिसके पक्ष धनुषके आकारके हों, वह संजय, जिसका उरस्य आगे बढ़ा हुआ हो, वह विजय, जिसके पक्ष और कक्ष बड़े कानोंकी तरह हों, वह स्थूलकर्ण, जिसके पक्ष विजयसे दूने बड़े हों, वह विशालविजय और जिसके कक्ष दोनो पक्षों और उरस्य तीनोंके बराबर हों, वह चमूमुख और जिस व्यूहके दोनो कक्ष पक्षों और उरस्यके बराबर हों, वह झषास्य कहाता है। जिस दण्ड व्यूहमें ऊँचेपर खड़ी सेना शत्रुपर आक्रमण करती है, वह सूची व्यूह है। जब दो दण्डव्यूह तिरछे खड़े कर दिये जाते हैं तो वह वलय व्यूह हो जाता है। इसी प्रकार चार पंक्तिवाले दण्डव्यूह खड़े करनेको दुर्जय व्यूह कहते हैं।

चार प्रकारके व्यूहोंमें दण्ड व्यूहके भेद

जिस व्यूहकी रचना इस ढंगपर होती है कि उसके उरस्य और पक्ष

त्रु पर उलट पड़ें, वह भोग वा सर्पाकृति व्यूह है। जिस भोग व्यूहके पक्ष,कक्ष और उरस्यकी गहराईमें विषमता हो, उसके सर्पसारी और गोमूत्रिका दो भेद होते हैं। जब उरस्यमें उसकी दो पंक्तियां होती हैं और पक्षोंकी ...टिल्यके अनुसार रचना दण्डव्यूहसी होती है, तब वह शकटव्यूह कहाता है। इसके विपरीत होनेसे मकरव्यूह और यदि शकटव्यूहमें हाथी, घोड़े और रथ हों, तो उसे वारिपतन्तक कहते हैं। जब कक्ष,पक्ष और उरस्यमें भेद नहीं रहता और सब इकट्ठे मिल ...ते हैं, तब उसे मण्डलव्यूह कहते हैं। जब चारों ओरसे इस व्यूहद्वारा शत्रु ... आक्रमण किया जाता है,तब इस व्यूहकी संज्ञा सर्वतोभद्र होती है। इसी ...कार जब उसमें आठ सेनाएं (दो उरस्यमें, दो कक्षोंमें और दो दो दोनो ...क्षोंमें) होती हैं, तब वह अष्टानीक वा दुर्जय कहाता है। कक्षों, पक्षों और ...रस्यमें फुटफैर सेना रहनेसे उसकी संज्ञा असंहतव्यूह है। जब दोनो पक्षों,दोनो ...क्षों और उरस्यकी सेनाएं वज्रके रूपमें खड़ी की जायं, तो वह वज्र व्यूह और ...हके आकरमें रहें तो गोधाव्यूह होता है। जब दोनो पक्षों,उरस्य और पार्ष्णिकी ...नाएं उक्त रूपसे खड़ी की जायँ, तब जो व्यूह बने, वह उद्यानक वा काकपदी ...हाता है। तीन सेनाओंके असंहत व्यूहकी संज्ञा कर्कटश्रृंगी वा अर्द्धचन्द्रिका ... जिस व्यूहमें रथ उरस्यमें, हाथी पक्षोंमें और घोड़े पार्ष्णिमें रहते हैं, वह ...रेष्ट, जिसमें पैदल पक्षोंमें, घोड़े उरस्यमें, रथ कक्षोंमें और हाथी पार्ष्णिमें ...ते हैं, वह अचल तथा जिसके हाथी पक्षोंमें, घोड़े उरस्यमें, रथ कक्षों और ...ल पार्ष्णिमें रहते हैं, वह अप्रतिहत वा अजेय व्यूह कहाता है। कौटिल्यका ...देश है कि प्रदर व्यूहको दृढकसे, दृढकको असह्यसे, श्येनको चापसे, ...ष्ठको सुप्रतिष्ठसे, संजयको विजयसे, स्थूलकर्णको विशाल विजयसे, वारि-पतन्तकको सर्वतोभद्रसे और सब प्रकारके व्यूहोंको दुर्जयसे भेदना चाहिये।

...न्य व्यूहोंका वर्णन

शुक्रनीतिसारमें क्रौंच, चक्र, सर्वतोभद्र, शकट और व्याल व्यूहोंका उल्लेख ... आकाशमें क्रौंच पक्षियोंकी गति जैसे एक एक दो दो करके वा समूह समूहकी होती है, उसी प्रकार देश और बलके अनुसार क्रौंचव्यूहकी रचना होती है। बड़े पक्ष और गल तथा पुच्छे जिसके मध्य हों और मुख सूक्ष्म हो, वह श्येन व्यूह है। चौपायेके आकारका लम्बा, स्थूल मुख और दो ओष्ठ ...के हों, वह मकरव्यूह है। जिसके मुंह सूक्ष्म और विस्तार समान लम्बा

...नीतिसारके ...नुसार व्यूह

है और बीचमें खाली हो, वह सूची व्यूह है। जिसका एक मार्ग हो और आठ कुंडलिया हों, वह चक्रव्यूह है। जिसकी चारो दिशाओंमें आठ परिधि हों, वह सर्वतोभद्र व्यूह है। शकट वा छगड़ गाड़ीके आकारका शकट व्यूह और सर्पकी आकृतिवाला व्याल व्यूह कहाता है।

मंत्र पढ़कर जो अस्त्र चलाये जाते थे, वे मांत्रिक अस्त्र कहाते थे। जो युद्ध मांत्रिक अस्त्रोंसे होता है, वह उत्तम और बन्दूक तोप आदिसे होता है,

युद्धके चार प्रकार

वह नालिकास्त्रवाला युद्ध मध्यम, शस्त्रोंसे कनिष्ठ और बाहुसे होनेवाले युद्धको संज्ञा शुक्रनीतिसारके मतसे अधम है।[1] इसके पहले उसने मंत्रास्त्रके युद्धको दैविक, नालिकास्त्र को आसुर और बाहुयुद्धको मानव कहा है।

प्रथम महासमरमें खाइयोंमें बैठकर शत्रुपर गोलाबारी की जाती थी और एक पक्षके सैनिक दूसरे पक्षको नहीं देख पाते थे। कौटिल्यने भी खातक और

खाइयोंकी लड़ाई

खनक युद्धोंकी बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि इनमें सैनिक सुरक्षित रहते हैं। आकाश युद्ध भी होते थे, पर विमानोंसे वा ऊँचे टीलों वा पहाड़ोंसे यह नहीं कहा जा सकता।

युद्धमें सेना और शस्त्रास्त्रोंके सुप्रयोगसे विजय प्राप्त होती है इसमें सन्देह नहीं। यही युद्धकौशल है। परन्तु वर्त्तमान समयमें विजयप्राप्ति मंत्र बलसे

मंत्रबलसे विजय

होती है। बुद्धिबल वा उपायसे जो शक्य होता है, वह पराक्रमसे नहीं होता यह प्राचीनकालमें जितना सत्य था, उतना ही आज भी है। कौटिल्यने इस सिद्धान्तकी स्थापना ही नहीं की थी, प्रत्युत उन्होंने प्रयोगद्वारा इसे सिद्ध कर दिया था। यही कारण है कि सांग्रामिक प्रकरणमें सब कुछ लिखकर अन्तमें उन्होंने लिखा कि धनुर्धारीके धनुषसे फेंका हुआ बाण सम्भव है किसी मनुष्यको मारे वा न मारे, परन्तु बुद्धिमान् व्यक्तिद्वारा किया हुआ बुद्धिप्रयोग गर्भस्थ प्राणियोंको भी नष्ट कर देता है।[2]

---

१ उत्तमं मांत्रिकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यमम्।
शस्त्रैः कनिष्ठं युद्धन्तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् ॥११८॥ अ० ४

२ एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता।
प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि ॥४४॥ अधि० १० अ० ६

८ शस्त्रास्त्र

वैदिक आर्योंके शस्त्रास्त्र

ऋग्वेदमें अनार्यों वा द्रविड़ोंके साथ आर्यों के युद्धोंके जो वर्णन स्थान स्थानपर मिलते हैं, उनसे जाना जाता है कि उस समय दुर्ग होते थे, धनुष-बाणसे युद्ध होता था और वर्म (बक्तर) और कवच (ज़िरह) का व्यवहार होता था। अनुमान है कि वैदिक समयके युद्ध साधारण ही होते होंगे। कुछ पैदलों और रथों वा घोड़ोंके मेलसे सेना बनती होगी। रथी वा अश्वारोही पदातियोंको परास्त कर देते होंगे। इनके पास सम्भवतः छोटे कवच होते थे और धनुष-बाणसे आक्रमण हुआ करते थे। ये वर्म, सिप्र (लोहेका टोप) और हस्तघ्न (दस्ताने) रखते थे। रथपर रथी और उसकी बायीं ओर सारथी बैठता था। आक्रमणमें कभी कभी धनुषबाणके अतिरिक्त भाले, तलवार और फरसेसे भी काम लिया जाता था।[1]

अग्निपुराणमें अस्त्रोंका वर्णन

धनुर्वेदमें धनुर्विद्याकी करामातके साथ ही विविध प्रकारके बाणों और आग्नेयास्त्रोंका वर्णन है। परन्तु अग्निपुराणसे पांच प्रकारके अस्त्रोंका पता लगता है यथा, यंत्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तसंधारित और अमुक्त तथा बाहुयुद्धके अस्त्र। क्षेपणी और धनुष आदि यंत्रमुक्त, शिला तोमर आदि पाणिमुक्त, प्रास आदि मुक्त-सन्धारित और खड्गादि अमुक्त हैं।[2] यंत्रोंसे चलाये जाने-

---

१ Vedic Index II p. 417

२ अग्निरुवाच। चतुष्पादं धनुर्वेदं वदे पञ्चविधं द्विज।

रथनागाश्वपत्तीनां योधांश्चाश्रित्य कीर्त्तितम् ॥१॥
यंत्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तसन्धारितन्तथा।
अमुक्तं बाहुयुद्धञ्च पञ्चधा तत्प्रकीर्त्तितम् ॥२॥
क्षेपणी चापयंत्राद्यैर्यंत्रमुक्तं प्रकीर्त्तितम्।
शिलातोमरयंत्राद्यं पाणिमुक्तं प्रकीर्त्तितम् ॥४॥
मुक्तसन्धारितं ज्ञेयं प्रासाद्यमपि यद्भवेत्।
खड्गादिकममुक्तञ्च नियुद्धं विगतायुधम् ॥५॥

अग्निपुराण अ० २४८

वाले यंत्रमुक्त, हाथसे फेंके जानेवाले पाणिमुक्त, फेंककर फिर वापस कर लिये जानेवाले मंत्रसंधारित और न छोड़े जानेवाले अमुक्त कहाते थे।

अस्त्र और शस्त्र-की परिभाषाएं

शुक्रनीतिसारके अनुसार जो हथियार मंत्र, यंत्र और अग्नि तीनोंसे चलाये जाते हैं, वे अस्त्र हैं। परन्तु जो हाथमें रखे जाते हैं, उनकी संज्ञा शस्त्र है। कमान या धनुष शस्त्र है, पर बाण या तीर अस्त्र हैं। मांत्रिक अस्त्र मंत्र पढ़कर छोड़ा जाता था, परन्तु इसका विशेष वर्णन नहीं मिलता। नालिका छोटी और बड़ी दो प्रकारकी होती थी। लघुनालिका बन्दूक है जो सवारों और पैदलोंके पास होती थी और बृहन्नालिका तोप है, जो गाड़ीपर चलती थी जिससे गोलन्दाज या तोपची गोले दागते थे।[1]

आग्नेयास्त्रोंके प्रयोगका आरम्भ

शुक्रनीतिसारमें गोली, गोले, बारूद, बन्दूक तथा तोपका जो वर्णन है[2], उससे जान पड़ता है कि जिस समय वह बना था, उस समय इस युद्धसामग्रीका प्रचार हो चुका था। परन्तु आग्नेयास्त्र और वज्र अस्त्रोंका उल्लेख रामायण और महाभारतमें मिलनेसे जाना जाता है कि कमसे कम २३०० वर्ष पहले तो ये प्रयोगमें आने लगे थे। यद्यपि सिकन्दरी चढ़ाईके वर्णनोंमें इन आग्नेयास्त्रोंकी चर्चा बहुधा नहीं दिखती, तथापि जब कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें अग्निधारण और अग्नियोगके योग या नुसखे दिये हैं, तब यह अनुमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि सिकन्दरी चढ़ाईके समय इनका यहाँ प्रचार हो चुका था। कर्टियसके आधारपर ओपर्टने यही मत प्रकट किया है।[3]

महाभारतमें बताया गया है कि जब राजाओंमें युद्ध आरम्भ हुआ, तब दस्युओंके नाश करनेके लिये इन्द्रने वर्म (बक्तर), शस्त्र और धनुषको

---

१ अस्यते क्षिप्यते यत्तु मंत्रायंत्राग्निभिश्चतत् ॥१०२४॥
अस्त्रं तदन्यतः शस्त्रमसिकुन्तादिकं च यत्।
अस्त्रं तु द्विविधं ज्ञेयं नालिकं मांत्रिकं तथा ॥१०२५॥
लघुदीर्घाकारधाराभेदैः शस्त्रास्त्रनामकम्।
प्रथयन्ति नवं भिन्नं व्यवहाराय तद्विदः ॥१०२७॥ अ० ४

२ शुक्रनीतिसार अ० ४ श्लोक १०२८ से १०४४ तक

3 On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindus by Gustav Oppert, Ph. D. p. 69

उत्पन्न किया।[1] कौटिल्यने[2] स्थितयंत्र, चलयंत्र, हलमुख, आयुध आदि कई श्रेणियोंके शस्त्रास्त्र बताये हैं। स्थित यंत्र वे कहाते थे, जो दुर्गके स्थान विशेषपर लगे रहते थे। सर्वतोभद्र जामदग्न्य, बहुमुख, विश्वासघाती, संघाटी, यानक, पर्जन्यक, पर्जन्यार्द्धक, बाहू और ऊर्ध्वबाहू स्थित यंत्रोंके नाम थे। सर्वतोभद्र एक गाड़ी थी, जो शीघ्रतासे चक्कर काटती और चारों ओर पत्थर बरसाती थी। इसका दूसरा नाम भ्रमारिक यंत्र था। आजकल यही काम मैशीन गन करती है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह पत्थरोंके बदले गोलियाँ बरसाती है। जामदग्न्य बाण बरसानेवाला बड़ा यंत्र था। इसे महाशरयंत्र भी कहते थे। बहुमुख एक अट्टालक वा मीनार होता था, जो दुर्गके शिखरपर रहता था। यह चमड़ेसे ढका रहता था और इसके मुंह सब ओर होते थे, जहाँसे कई धनुर्धर (तीरन्दाज) बाण चलाते थे। विश्वासघाती उन दो धरनोंको कहते थे जो दुर्गके द्वारपर खाईके ऊपर तिरछी रखी रहती थीं। विश्वास-घाती इनका नाम इसलिये रखा गया था कि स्पर्शमात्रसे ये गिर पड़ती और शत्रुको मार डालती थीं। अट्टालक और दुर्गके भागोंको प्रदीप्त करने वाले लम्बे बांसका नाम संघाटी था। यानक पहियोंपर चलनेवाला यंत्र था। यह लम्बा, पर बीचमें चौड़ा होता था। यान वा सवारीपर रखकर चलाये जाने के कारण ही इसका नाम यानक रखा गया था। पर्जन्यक आग बुझानेवाला यंत्र दमकल वा फायर-ब्रिगेड था। पर्जन्य वर्षाका नाम है और इस यंत्रका नाम जल बरसाकर आग बुझा देना है, इसलिये इसका नाम पर्जन्यक पड़ा। किसी किसीके मतसे यह ५० हाथ लम्बा यंत्र होता था और दुर्गके बाहर रखा जाता था, जिससे आनेवाले शत्रुओंपर पानी फेंका जा सके। यह कार्य भी इससे लिया जाता होगा, क्योंकि इसमें कोई बाधा नहीं है, तथापि इसका मुख्य कार्य तो आग बुझाना ही जान पड़ता है। यह विश्वासघातीकी तरह न तो बड़ा होता था और न दिखता ही था। आधे वा छोटे पर्जन्यकको पर्जन्यकार्द्ध कहते थे। बाहू उन दो खम्भोंका नाम था जो शत्रु पर गिराकर उसका काम तमाम करनेको खड़े किये जाते थे। जो बड़ा खम्भा ऊंचेपर लगाया जाता और

---

१ ततो राज्ञां समभवद्युद्धमेतत् तत्र जातं वर्मशस्त्रं धनुश्च।
इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म, उत्पादितं वर्मशस्त्रं धनुश्च॥ उद्योगपर्व

२ अर्थशास्त्र अधि० २ अ० १८

शत्रु पर फेंका जाता था, उसका नाम ऊर्ध्वबाहु था। इसका आधा खम्भा अर्द्धबाहु कहाता था।

पाञ्चालिक, देवदण्ड, सूकरिका, मुसल, यष्टि, हस्तवारक, तालवृन्त, मुद्गर, गदा, स्पृक्तला, कुद्दाल, आस्फोटिम, उद्घाटिम, शतघ्नी, त्रिशूल और चक्र ये चलयंत्र कहाते थे। काठका एक बड़ा टुकड़ा जिसमें बहुतसी नोकें होती थीं, पांचालिक कहाता था। वह दुर्गके बाहर जलके अन्दर रख दिया जाता था। जिससे आनेवाले शत्रुके नोकें गड़ें और वह व्याकुल हो जाय। इसे दुर्गकी जलसुरंग (mine) कह सकते हैं। देवदण्ड उन लम्बी बल्लोंको कहते थे, जो दुर्गकी दीवारपर रखी जातीं और जिसमें लोहेकी कीलें लगी रहती थीं। सूकरिका चमड़ेके थैलेको कहते थे, जिसमें रुई या ऊन भरी रहती थी। शत्रु के फेंके पत्थरोंसे मीनारों वा अट्टालकोंकी रक्षाके लिये इसका उपयोग किया जाता था। मुसल और यष्टि खैरके नुकीले डंडोंको कहते थे। हस्तिवारक द्विशूल वा त्रिशूल होता था, जिससे हाथी हटाया जाता था। तालवृन्त पंखेकी भांति चक्र होता था। मुद्गर आजकलके मुगदरकी तरह ही होता था। गदाके विषयमें शुक्रनीतिसारका कहना है कि वह आठ कोने वाली तथा छाती बराबर मोटी होती थी। स्पृक्तल मोटे डंडेकी भांति होती था, जिसके मुंह पर तीक्ष्ण नोकें रहती थीं। कुद्दाल कुदाल ही थी। आस्फोटिम चमड़ेका एक थैला होता था, जिसके साथ डंडा भी लगा रहता था। इससे तुमुल शब्द किया जाता था। किसी किसीका मत है कि मिट्टीके ढेले फेंकनेके लिये वह चमड़ेसे ढका हुआ चार कोने वाला यंत्र था। अट्टालक गिरानेवाला यंत्र उद्घाटिम और जड़ें उखाड़ने वाला उत्पाटिम कहाता था। इनका विशेष वर्णन नहीं मिला। दुर्गकी दीवारपर जो बड़ा खम्भा रहता था और जिसमें बड़ी मोटी लम्बी कीलें रहती थीं, उसका नाम शतघ्नी था। शतघ्नी नामका कारण यह था कि वह एक साथ सौ मनुष्योंको मार सकती थी। त्रिशूल और चक्र आजकेसे ही होते थे। चक्रका प्रयोग करनेमें श्रीकृष्ण सिद्धहस्त थे। आज भी कितने ही सिक्ख इसका सुप्रयोग कर सकते हैं, इसलिये यह उनकी पगड़ियोंमें लगा रहता है। शुक्रनीतिसारके अनुसार चक्रकी परिधि छ हाथकी और उसका प्रान्त छुरेकी भांति नाभियुक्त होना चाहिये।

चलयंत्र

शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक, भिंडिपाल (भिन्दिपाल), शूल, तोमर, वराह-कर्ण, कणय, कर्पण और त्रासिक हलमुख कहाते थे। इनके मुंह हलके मुंहकी भाँति तीक्ष्ण होते थे, इसीसे ये हलमुख कहाये शक्ति चार हाथ लम्बी लोहेकी कनेरकी पत्तीके समान होती थी। गायके थनकी तरह इसकी मूठ होती थी। २४ अंगुल लम्बे दो मूठवाले दुधारेका नाम प्रास था। कुन्त ५,६ वा ७ हाथ लम्बा डंडा होता था। शुक्रनीतिसारके मतसे कुन्त भाला है, जो १० हाथका होता है और जिसका अग्रभाग पैना होता है। हाटक ३।४ नुकीले किनारोंवाला डंडा होता था। मोटे फलवाला कुन्त भिंडिपाल और अनिश्चित लम्बाईवाला नुकीला डंडा शूल कहाता था। तीरकेसे नुकीले किनारेवाले ४, ४॥ वा ५ हाथ लम्बे डंडेको तोमर कहते थे। जिस डंडेके किनारे सुअरके कानके समान होते थे, वह वराहकर्ण कहाता था। धातुके उस डंडेको कणय कहते थे जिसके दोनों किनारे त्रिकोणके आकारके होते थे। यह २०, २२ वा २४ इंच लम्बा होता था और बीचमें पकड़ा जाता था। हाथसे चलाये जानेवाले तीरका नाम कर्पण था। इसके किनारे ७, ८ वा ९ कर्प भारी होते थे। कोई कुशल मनुष्य यदि कर्पण फेंकता, तो वह १०० धनुपकी लम्बाई तक पहुँच जाता था। त्रासिका भी लोहेकी बनी प्रासकी भांति होती थी।

हलमुख

ताल (ताड़के बने), चाप (विशेप प्रकारके बांसके बने), दारव (किसी सुदृढ़ काठके बने) और शार्ङ्ग (सींगोंके बने) धनुप आकृति और क्रियाभेदसे कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण और धनुप कहाते थे। धनुपकी ज्या (डोरी) मूर्वा (लता विशेप), अर्कोड़े, सन, गवेधुका (एक प्रकारका अन्न), वेणु (बांस), तथा तांतकी बनती थी। वेणु (बांस), शर (नरसल), शलाका (लकड़ीसे निर्मित), दण्डासन (आधा लोहा आधा काठ) और नाराच (सम्पूर्ण लोहेका) ये भिन्न भिन्न प्रकारके बाण हैं। छेदने, काटने, रक्तसहित वा रक्तरहित आघात करनेके लिये इनके मुंह होते हैं, इसलिये लोहे, हड्डी तथा लकड़ीके बनाये जाते हैं।

धनुपबाण

तलवारों वा खड्गोंके तीन प्रकार थे, निस्त्रिंश, मण्डलाग्र और असि-यष्टि। जिसका अगला भाग यथेष्ट टेढ़ा होता था, वह निस्त्रिंश, जिसका गोल होता था, वह मण्डलाग्र और जो लम्बे और पतले आकारका होता था, वह असियष्टि,

खड्ग और छुरवर्ग

कहाता था। परशु, कुठार, पट्टस, खनित्र, कुद्दाल, चक्र, क्रकच और काण्ड-च्छेदन क्षुरे जैसे पैने शस्त्र होनेके कारण क्षुर-कल्प वा क्षुर वर्ग कहाते हैं। परशु वा फरसा आजकलकी भांति ही अर्द्धचन्द्राकार होता था, पर २४ इंच लम्बा होता था। कुठार वर्त्तमान कुल्हाड़ेकी तरह होता था। पट्टस परशुकी नाईं होता था, पर दोनो सिरे त्रिशूलकी भांति होते थे। खनित्र फावड़ा, कुद्दाल कुदाल, क्रकच आरा और काण्डच्छेदन गँड़ासा होता था।

यंत्रपाषाण, गोष्पणपाषाण, मुष्टिपाषाण, रोचनी और दृषद् आयुध कहाते थे। पत्थर फेंकनेवाला यंत्र कदाचित् गुलेल यंत्रपाषाण कहाता था।

आयुध

पत्थर फेंकनेवाले गोफनेको गोष्पणपाषाण, दरेतीके पाटको रोचनी और बड़े पत्थरको दृषद् कहते थे।

लोहजाल (शिरसे पैरतककी लोहेकी जालीका आवरण), लोहजालिका (सिरको छोड़कर शरीरका आवरण), लोहपट्ट (बाहोंको छोड़कर शरीर ढकने वाला आवरण), लोहकवच (केवल पीठ और छातीका वर्म और आवरण आवरण), सूत्रकंटक (सूतका बना कवच जो कमरसे कूलेतककी रक्षा करता है) तथा शिशुमारक (ऊदबिलाव), खड्गि (गैंडा), धेनुक (नील गाय), हाथी और गायके चमड़े, खुर और सींगके कवच बनाये जाते थे। देहके सात आवरण थे शिरस्त्राण, कण्ठत्राण, कूर्पास (आधी बाहोंका रक्षक) कञ्चुक (घुटनोंतक शरीरका आवरण), वारवाण (पैरकी एड़ी तक सारे शरीरका आवरण), पट्ट (जो लोहेका बना न हो और जिसमें बाहें न हों) और नागोदरिका (हाथकी उंगलियोंका रक्षक)। अन्य आवरण हैं वेंत (कोठवल्लीकी चटाई), चर्म वा वसुनन्दक (ढाल), हस्ति-कर्ण (एक प्रकारका आवरण), तालमूल (काठकी ढाल) धमनिका (सूतकी पेटी), किटिका (चमड़े और बांसको कूटकर बनायी हुई पेटी), कवाट (लकड़ीका पटा), अप्रतिहत (हाथका आवरण) बलाहान्तक (लोहेका अप्रतिहत)।

६ पराराज्योंसे सम्बन्ध

राज्यसे षाड्गुण्यका नित्य सम्बन्ध होनेके कारण ही वह राज्यवृक्षकी शाखा बताया गया है और सामदानादि उसके सुन्दर पुष्प तथा धर्मार्थ काम फल बताये गये हैं। यों तो षाड्गुण्यका नित्य विचार करते रहना राजाका काम है, परन्तु इस काममें जो उसका सबसे बड़ा सहायक अथवा दक्षिण हस्त होता है, वह मंत्री वा महासान्धिविग्रहिक है, जो आजकलकी भाषामें पर राष्ट्रसचिव कहाता है। इसके विभागके विषयमें हमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि यह अत्यन्त महत्त्वका अधिकारी होता था, क्योंकि युद्ध वा शान्तिके निर्णयका बहुत बड़ा भार इसीपर होता था। चार विभागका मुखिया भी यही होता था और दूतप्रेषण भी इसीका काम था।

सान्धिविग्रहिक और दूत

दूतको शुक्रनीतिसारने मंत्रियोंमें स्थान दिया है, जिसका कारण इससे अधिक कुछ नहीं जान पड़ता कि यह मंत्रीकी हैसियतका होता था। ब्रिटिश शासन पद्धतिमें एक प्रकारके दूतको (minister) मंत्री कहते भी हैं। कौटिल्य और उनके अनुयायी कामन्दकने दूतोंके तीन भेद माने हैं, निसृष्टार्थ, परिमितार्थ वा मितार्थ और शासनहारक। कौटिल्यके मतसे निसृष्टार्थ अमात्यके गुणोंसे युक्त होना चाहिये तथा मितार्थमें चौथाई और शासनहारकमें आधे गुण कम होने चाहिये।[1] निसृष्टार्थ वह दूत होता था, जिसे स्याह सफेद वा सन्धि-विग्रह करनेके निर्णयके पूरे अधिकार होते थे। यही आजकलका राज्यदूत (ambassador) है। मितार्थके अधिकार सीमित होते हैं, क्योंकि उसे अपनी ओरसे कुछ निर्णय करनेका अधिकार नहीं होता। राजा अथवा महा-

दूतोंके तीन भेद

---

१ अमात्य सम्पदोपेतो निसृष्टार्थः ॥२॥ पादगुणहीनः परिमितार्थः॥ ३॥ अर्धगुणहीनः शासनहरः ॥४॥ अधि० १ अ. १६

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः।
सामार्थ्यात्पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥३॥ कामन्दकीय सर्ग० १२

प्र० १८

सन्धिविग्रहकके आदेशानुसार यह काम करता था। शासनहारक केवल सन्देशवाहक होता था और एक राजाका पत्र लेकर दूसरे राजाके पास जाता था।[१] इससे जान पड़ता है कि विशेष अवसरोंपर परराज्योंमें दूत भेजे तो जाते थे, परन्तु आजकलकी तरह स्थायी रूपसे परराज्योंमें दूत रखनेकी चाल नहीं थी। कामन्दकने दूतके गुणोंके विषयमें कहा है कि जो प्रगल्भ या निडर होकर बोल सके, स्मरण शक्तिवाला हो, सुवक्ता हो, शस्त्रविद्या और नीतिशास्त्रमें निपुण हो, जिसे दौत्य कर्मका अभ्यास हो, वही राजदूत बनने योग्य होता है। ये दूत अपना काम करके स्वराज्यको लौट आते थे और कभी कभी परराष्ट्रके राजाके रोकनेसे किसी निश्चित अवधिके लिये वहीं ठहर भी जाते थे। महाभारतसे जाना जाता है कि कौरवोंकी सभामें श्रीकृष्ण पाण्डवोंके निसृष्टार्थ दूत रूपसे ही गये थे क्योंकि युधिष्ठिरने उनसे कह भी दिया था कि हे कृष्ण, जो बात हमारे हितकी हो, वही वह सुयोधन अर्थात् दुर्योधनसे कहना। अंगद रावणकी सभामें श्रीरामका दूत बनकर गया था। यह केवल शासनहर था, क्योंकि इसके द्वारा रावणको अन्तिम सूचना (ultimatum) दी गयी थी। श्रीरामकी ओरसे अंगदने रावणसे कहा था, 'सीता देहु न त आवा काल तुम्हार'। मार्कण्डेय पुराणसे जाना जाता है कि भगवती दुर्गाने भगवान् भूतनाथको दूत बनाकर शुम्भ निशुम्भ नामक बड़े घमण्डी दानवोंके पास भेजा था। इनसे कहलाया था कि 'इन्द्रको स्वर्ग मिले; देवता यज्ञ भाग पावें और तुम यदि जीना चाहो, तो पाताल चले जाओ।' दूतोंका काम खुले खजाने होता था, इसलिये अग्निपुराणने इन्हें 'प्रकाशचर' कहा है।

दूतके गुण

परन्तु कौटिल्यने इनका वर्णन जिस ढंगसे किया है और इनका जो काम बतलाया है, उससे यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'प्रकाशचर' होते हुए भी ये शत्रु की दुर्बलताओंका पता लगाते रहते थे। दूतोंका काम था कि शत्रु की बातोंका तो पता लगावें, पर अपने राजाकी बातें उसे न जानने दें। दूतके ये काम थे सन्देश सुनाना, और शत्रुका संदेश सुनना, पुरानी सन्धिकी रक्षा करना, अवसर आने

दूतके कर्म

---

१ प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ॥२॥ सर्ग १२ अ० १८ का० नीतिसार

पर अपने प्रतापका प्रकाशन करना, मित्रोंका संग्रह करना, शत्रुके लोभी, क्रोधी, भीत और मानी पुरुषोंमें भेद डलना, शत्रुके मित्रोंको फोड़ देना, तीक्ष्ण, रसद आदि गूढ़ पुरुषों तथा सेनाको भगा देना, शत्रुके बन्धुओं तथा रत्नोंका अपहरण करना, शत्रुके देशमें रहते हुए गुप्तचरोंके कार्योंको ठीक ठीक जानना, अवसर आनेपर पराक्रम दिखाना, सन्धिकी दृढ़ताके लिये आधि वा ransom में रखे हुए राजकुमार आदिको छुड़ाना और मारण आदिका प्रयोग करना।[1] दूतोंके सहायतार्थ गुप्तचर वा चार रहा करते थे। ये चार वर्त्तमान 'सीक्रेट सर्विस' के समान थे।

---

१ प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम् ॥२१॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥ २०॥ अधि० १ अ० १६

१०—चर वा चारबल

चरों वा चारोंका महत्त्व

अष्टाङ्गबलमें चारका महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि अग्निपुराणके मत से राजाको चारचक्षु होना चाहिये और चारकी कार्यकुशलतापर राज्यकी उन्नति ही नहीं, अस्तित्व भी अवलम्बित है। चारका काम परराष्ट्रके सैन्यबल और युद्धसज्जाका ठीक ठीक पता लगाना भी है। जब श्रीराम लंकापर चढ़ाई करनेकी तैयारी कर रहे थे, तब उनकी छावनी वा स्कन्धावारमें रावणके बहुतसे चर आये थे, जिनमें शुक नामक चर सुग्रीवको फोड़ लेनेका प्रयत्न कर रहा था। श्रीरामके समुद्र पार पहुँचनेपर भी बहुतसे राक्षस वानरों के भेसमें उनकी छावनीमें घूमा करते थे। ऐतिहासिक युगमें मगधराज अजातशत्रुका ब्राह्मण मंत्री वर्षकार वज्जियोंके यहां चर बनकर ही गया था।

वरुण और उनके चार

चारबलकी कल्पना नवीन नहीं है। ऋग्वेदमें वरुणके चारोंका वर्णन है। वरुणकी सर्वदर्शिता उनकी चारव्यवस्थाका ही प्रमाण है। वे आकाशमें पक्षियोंका उड़ना, समुद्रमें जलयानोंका मार्ग और दूरतक चलनेवाली हवाकी गति जानते हैं। जो सब गुप्त बातें हो रही हैं वा होंगी, उनका भी पता उन्हें है। और तो क्या, मनुष्य जै बार पलकें मारता है, उनकी भी गिनती वरुण देवताके दफ्तरमें रहती है। मनुष्य जो कुछ करते, सोचते वा विचारते हैं, उसका ज्ञान भी वरुणको रहता है। पृथिवी और आकाश तथा इनसे परे जो कुछ होता है, सब वरुण देखा करते हैं।[1] वरुण सम्राट् हैं, देवताओं और मनुष्यों—सबके राजा हैं, इसलिये इनके सहायतार्थ चारोंका बड़ा भारी दल है। वरुणके ही पास चार नहीं रहते, मित्र, अग्नि, सोम आदि देवताओं तथा इन्द्रसे पराजित राक्षसोंके पास भी चार थे। श्रीयुत शामशास्त्रीने अपने ग्रन्थमें[2] बताया है कि वैदिक कालमें चारोंका काम दीवानी फौजदारी मामलों

---

1 Vedic Index Vol II p. 213

2 Evolution of Indian Polity pp. 23-24

में अर्थी प्रत्यर्थी वा साक्षियोंके वक्तव्योंकी सत्यताकी जांच करना ही न था, प्रत्युत हानिकारक प्रवृत्तिवालोंकी गति विधिका ज्ञान रखना भी था। राज्यके अपराध करनेवालोंका ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था नष्ट करनेवालोंका पता लगाना भी उनका काम था।

चारोंके बिना राजा पंगु होता है।

रामायण और महाभारतमें ही नहीं, नाटकों, पाली साहित्य, मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्रादिमें चारोंका वर्णन पाया जाता है। जैसा पिछले अध्यायमें बताया गया है, चारोंके दो मुख्य भेद थे जिनमें एकका सम्बन्ध स्वराज्यसे और दूसरेका परराज्योंसे था। परराज्यों—विशेषकर वर्त्तमान वा भावी शत्रु राज्यकी शक्तिका पता रखना बहुत आवश्यक होता है। आजकल अन्तरराष्ट्रीय समझौतोंके रहते हुए भी दूसरे राज्यकी किलेबन्दियों, स्थल सेना, नौसेना, आकाशसेना आदिकी गोपनीय बातें जाननेके लिये राज्योंके दूत नाना वेषोंमें घूमा करते हैं। मनुस्मृतिमें तो कहा भी गया है कि राजा नित्य अपनी और शत्रुकी शक्तिका पता चारों और उनके कार्योंसे लगाता रहे।[1] महाभारतके सभापर्वमें कहा गया है कि शत्रुके अष्टादश तीर्थोंके कार्योंका तथा मंत्री, पुरोहित और युवराजको छोड़ अपने १५ तीर्थोंके कार्योंका पता भी ऐसे चार लगाते रहें, जो परस्परको न जानते हों।[2] परन्तु कौटिल्यका कहना है कि शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राजाओं और उनके मंत्री, पुरोहित आदि अष्टादश तीर्थोंपर चारोंको नियुक्त करे।[3] यही नहीं, अपने मण्डलमें चारोंको बसावे और इनकी सहायतासे अपने शत्रुओंकी शक्ति नष्ट कर दे।[4] सारांश, चारोंके अभावमें राजा पंगु होता है।

---

१ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्म्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥२९८॥ अ० ९

२ कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दशपञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥३८॥ सभापर्व अ० ५

३ एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान्।
उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि ॥२२॥ अधि० १ अ० १२

४ कृत्स्ने च मण्डले नित्यं दूतान् गूढांश्च वासयेत्।
मित्रभूतस्सपत्नानां हत्वा हत्वा च संवृतः ॥४६॥ अधि० ७ अ० १३

जब वरुणका काम विना चारोंके नहीं चल सकता, तब साधारण राजाओंका कैसे चल सकता है ? इसीलिये अग्निपुराण और मनुस्मृति सभी राजाको चारचक्षु होनेका उपदेश देते हैं। स्वराज्यमें राजाके प्रति प्रजा, राजकुमार, मंत्रियों आदिके क्या भाव हैं यह जानना राजाका कर्त्तव्य है। श्रीरामने जब अपने चार दुर्मुखको प्रजाके भाव जाननेको भेजा, तो इसने सीता-के विषयमें जो निन्दात्मक बातें सुनीं, उनसे यह बड़े पसो-पेशमें पड़ा और सोचने लगा कि श्रीमन्महाराजको मैं महारानी सीता सम्बन्धी अकल्पनीय निन्दावाद कैसे सुनाऊँ अथवा मुझ जैसे अभागेका यही कर्त्तव्य कर्म है और फिर उच्च स्वरसे बोला, 'पौरजानपद महाराजकी प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि महाराज रामके आचरणसे हम महाराज दशरथको भूल गये।' इसपर श्रीरामने कहा, 'यह तो अर्थवाद (ठकुरसुहाती) है। बताओ यदि मुझमें उन्हें कोई दोष देख पड़ा हो, जिसका प्रतिविधान किया जाय।'[1] अनन्तर रजककृत अपवाद सुनकर उन्होंने सीता-का परित्याग कर दिया। इससे स्पष्ट है कि राजा अपने चारोंके वाग्वज्र सुन कर अपने दोष दूर करनेकी चेष्टा भी किया करते थे।

चारोंकी रिपोर्ट पर ही श्रीरामने सीताका त्याग किया था।

प्राचीनकालमें इन चारोंके चलते क्या नहीं हो जाता था ? रानीके कमरेमें छिपे हुए वीरसेनने ही अपने भाई राजा भद्रसेनको मार डालाथा। अपनी माताके पलंगके नीचे छिपे हुए लड़केने अपने पिता राजा कारुशको मार डाला था। काशिराजकी रानीने ही उसे खीलोंमें मधुके संयोगसे विष मिला कर खिला दिया था। विषमें बुझाये हुए नूपुरसे वैरन्त्यको उसकी रानीने मार डाला था। मेखला वा तागड़ीके मणिसे सौवीरको और आरसीसे जालूथको उसकी रानीने मार डाला था। और विदूरथकी रानीने अपने जूड़ेमें छिपे हुए शस्त्रसे उसे मार डाला था।[2] ये काम क्या विना चारोंके सहयोगसे हुए थे ?

चारोंके षडयंत्रसे ही कई राजा मारे गये।

---

१ उत्तर रामचरित्र, प्रथम अङ्क।

२ देवीगृहे लीनो हि भ्राता भद्रसेनं जघान ॥२३॥ मातुश्शय्यान्तर्गतश्च पुत्रः कारुशम् ॥२४॥ लाजान्मधुनेति विषेण पर्यस्य देवि काशिराजम् ॥२५॥ विष

यद्यपि राजनीतिशास्त्रके अतिरिक्त अन्य विषयोंके ग्रन्थोंमें भी चारोंकी चर्चा है, तथापि कौटिलीय अर्थशास्त्रमें जैसा विधिवत् वर्णन है, वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई देता। इसमें चारोंके दो भेद किये गये हैं एक 'संस्था' और दूसरा 'संचार'। संस्थामें कापटिक, उदास्थित, गृहपति-व्यंजन, वैदेहक व्यञ्जन और तापस-व्यञ्जन रखे गये हैं और संचारमें सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी नामके चार वा गूढ़ पुरुष हैं। जो चार एक ही स्थानमें रहते थे अर्थात् जिनका काम दफ्तरमें होता था, वे संस्था श्रेणीमें थे, क्योंकि एक ही स्थानमें रहते थे और जो घूमा फिरा करते थे, वे संचार कहाते थे। मनुस्मृतिमें भी संस्था गुप्तचरोंकी संज्ञा पंचवर्ग बतायी गयी है और उसके टीकाकार मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लुक और राघवने इन पांचोंके वे ही नाम बताये हैं, जो अर्थशास्त्रमें पाये जाते हैं। परन्तु अग्निपुराणमें दिये हुए नामोंसे इनमें कुछ अन्तर है। इसके अनुसार उनकी संज्ञा तापसव्यंजन, वणिक्, कृषीवल, लिंगी और भिक्षुक है। वणिक् वैदेहक-व्यञ्जनका नामान्तर है और कृषीवलको गृहपतिव्यंजन समझना चाहिये। श्रीहेमचन्द्र राय चौधरीके मतसे लिंगी कापटिक छात्र है। किरातार्जुनीयमें कवि भारविने युधिष्ठिरके गुप्तचरको वर्णी लिंगी बताया है। शुक्रनीतिसारमें[1] चारोंकी संज्ञा वर्णी, तपस्वी और संन्यासी बतायी गयी है, परन्तु ये कौटिल्यके कापटिक छात्र, उदास्थित और तापस व्यंजनके नामान्तर ही जान पड़ते हैं।

चारोंके दो मुख्य और अवान्तर भेद

अग्निपुराणके भिक्षुक और अर्थशास्त्रके उदास्थितमें अन्तर है। ये भिखारी वैरागियोंकी भाँति देशमें घूमते फिरते होंगे। कोशलेश पसेनदि वा प्रसेनजित्के चारोंका जो वर्णन बौद्ध ग्रन्थ संयुत्त निकायमें मिलता है, उससे

दग्धेन नुपुरेण वैरन्त्यं मेखलामणिना सौवीरं जालूथमादर्शेन वेण्यांगूढं शस्त्रंकृत्वा देवी विदूरथं जघान् ॥२६॥ अर्थशास्त्र अधि० १ अ० २०

१ वर्णीतपस्वीसंन्यासी नीचसिद्ध स्वरूपिणम्।
प्रत्यक्षेण छलेनैव गूढ़ाचारं विशोधयेत ॥३२७॥ अ० १
लिंगीका अर्थ गुजराती प्रेस द्वारा प्रकाशित कामन्दकीय नीतिसारकी टीकामें ब्रह्मचारी बताया गया है। कामन्दकके मतसे वणिक्, कृषीवल, लिङ्गी, भिक्षुक और अध्यापक पञ्चवर्गमें है।

जाना जाता है कि उस समय साधू-वैरागियोंसे चारोंका काम लिया जाता था अथवा चार साधुओंके वेषमें घूमा करते थे। जब एक बार सावत्थी वा श्रावस्तीमें मिगारकी माताके घर तथागत ठहरे हुए थे, तब सन्ध्याको कोशल-नरेश पसेनदि उनके दर्शनोंको गये और उन्हें प्रणाम करके एक किनारे बैठ गये। इसी समय बुद्धदेव जिस स्थानमें बैठे थे, उसके अनतिदूर सात जटिल, सात निग्गंठ (निर्ग्रंथ), सात नग्न और सात एकवस्त्री तथा सात संचारक उधरसे निकले। उस समय राजाने अपने आसनसे उठकर और एक कन्धेपर दुपट्टा डालकर अपना दाहना घुटना तोड़कर उन्हें हाथ जोड़े और तीन बार कहा, 'महात्माओ, मैं कोशलपति राजा पसेनदि हूँ।' जब वे चले गये, तब राजाने फिर बुद्ध भगवानके पास बैठकर उनसे पूछा, 'भगवन्, क्या वे इस लोकके अर्हन्त हैं अथवा उनमें हैं जो अर्हन्तत्वके मार्गमें हैं ?' इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर बुद्धने नहीं दिया, केवल इतना ही कहा कि जबतक मनुष्य संगमें नहीं रहता, तबतक किसीके चरित्रका पता नहीं लगता। और इसके बाद भी जब हम बहुत ध्यान दें और उपेक्षा न करें तथा हमारी अन्तर्दृष्टि हो और हम मूर्ख न हों, तभी ठीक ठीक जान सकते हैं।' इसपर पसेनदिने समझाया कि 'भगवन्! ये मेरे आदमी और चार हैं। जब एक स्थानकी जांच कर लेते हैं, तब मेरे पास आते हैं। पहले वे मुझे अपनी रिपोर्ट देते हैं और फिर उसपर मैं अपना निर्णय करता हूँ। इस बीचमें जब वे धूल मिट्टी झाड़कर साफ हो जाते हैं और नहा धोकर तेल आदि लगाकर बाल दाढ़ी संवारकर सफेद कपड़े पहन लेते हैं, तब उनके पास नौकर जाते हैं और सब प्रकारकी सुख-सामग्री उन्हें प्राप्त होती है।[1] इससे जाना जाता है कि चार व्यवस्था राजनीतिक ग्रन्थोंमें ही लिखी नहीं रहती थी, व्यवहारमें भी लायी जाती थी। कामन्दकने भी अपने नीतिसारमें चारोंके महत्त्वका वर्णन इस प्रकार किया है:—चार महीपतियोंकी आंखें हैं। राजाको उन्हींके द्वारा देखना चाहिये। जो उनकी आंखोंसे नहीं देखता, वह अज्ञानके कारण सम-

चार राजाओंकी आंखें हैं।

---

१ एते भंते मम पुरिसा चरा ओचरका जनपदं ओचरिता आगच्छन्ति ॥ तेहि पठमम ओचिन्नं अहं पच्छा ओसापयिस्सामि ॥ इदानी ते भंते तं रजोजल्लं पवाहेत्वा सुनहाता सुविलित्ता कप्पिटकेसमस्सु ओदातवत्था पंचहि कामगुणेहि समप्पिता संगमिभूता परिचारयिस्सन्तीति ॥ पृ० ७६

तल भूमिपर भी ठोकर खाता है, क्योंकि वह अन्धा कहा गया है। ऋत्विक् जिस प्रकार सूत्रोंके अनुसार कर्म करता रहता है, उसी प्रकार राजाको चारोंके विचारसे कार्य करना चाहिये।[1]

संस्था गुप्तचरोंका विशेष ब्योरा

संस्था गुप्तचरोंमें कापटिक वह है, जो दूसरेका रहस्य जाननेवाला हो, प्रगल्भ वा निडर हो तथा छात्रवेषमें रहता हो। जो बुद्धिमान् और पवित्र हो और संन्यासी वेषमें रहता हो, वह उदास्थित है। निर्धन किसानके रूपमें रहनेवाला बुद्धिमान् और पवित्र हृदय गुप्तचर गृहपति तथा निर्धन व्यापारीके वेषमें रहनेवाला चार वैदेहक-व्यंजन है। सिर मुड़ाये वा जटा बढ़ाये जीविकाके लिये राजसेवा करनेवाला भेदिया तापस है। कापटिकका काम यह था कि राजा और मंत्रीको प्रमाण मानकर जिसकी जो हानि देखे, तुरत मंत्रीको बता दे। उदास्थितका काम था कि बहुतसे विद्यार्थी और धन लेकर कृषि, पशुपालन और वाणिज्यके लिये निर्दिष्ट स्थानोंमें जाकर विद्यार्थियोंसे काम करावे। इन कार्योंसे जो आय हो, उससे वह सब प्रकारके संन्यासियोंके लिये भोजन, वस्त्र और स्थानकी व्यवस्था करे। जो संन्यासी इस प्रकार भोजन लेना चाहें, उन्हें वशमें करके समझा दे कि इसी वेषमें तुम्हें राज-कार्य करना होगा और जब तुम्हारे वेतन और भत्तेका समय आवे, तब यहांसे ले जाना। ऐसे ही सब उदास्थित अपने अपने वर्गके संन्यासियोंको समझावें। कृषिके लिये निर्दिष्ट भूमिमें गृहपति और व्यापारके लिये निर्दिष्ट स्थानमें वैदेहक-व्यंजन उदास्थितकी भांति कार्य करे। तापसका काम था कि बहुतसे मुण्ड और जटिल विद्यार्थियोंको रखे तथा प्रकाश रूपसे तो महीने दो महीनेमें मुट्ठी भर साग खाया करे, पर गुप्तरूपसे इच्छानुसार भोजन किया करे। व्यापारी चारके पास रहनेवाले कार्यकर्त्ता धन आदिसे इसकी पूजा किया करें और इसके शिष्य चारों ओर प्रसिद्ध कर दें कि हमारे गुरुजी बड़े महात्मा योगी हैं और भविष्यमें होनेवाली सम्पत्तियोंको भी बता देते हैं। अपनी भावी सम्पत्तिके विषयमें जाननेकी अभिलाषासे आये पुरुषोंके कुटुम्बमें

---

1 चारचक्षुर्नरेन्द्रस्तु सम्पतेत् तेन भूयसा।
अनेनासम्पतन् मार्गात् पतत्यन्धः समेऽपिहि ॥२१॥
चरेण प्रचरेत्प्राज्ञः सूत्रेणर्त्विगिवाध्वरे।
वृते सन्धानमायात्तं चरे चर्या प्रतिष्ठिता ॥२४॥ सर्ग १३

जो कार्य हुए हों, उन्हें शरीर आदिके चिह्न देखकर तथा अपने शिष्योंके इंगितोंके अनुसार ठीक-ठीक बता दे। यह भी बतावे कि अमुक कार्यमें लाभ होगा। आग लगने और चोरीके भयकी बात, दूष्य पुरुषोंके वध और सन्तुष्ट होनेपर पुरस्कार, दूर देशके समाचार तथा आजकलमें होनेवाले कार्य बतावे तथा यह भी कहे कि राजा अमुक कार्य करेगा। जिन प्रश्नकर्त्ताओंमें धीरता, बुद्धि और वाक्पटुता आदि शक्तियां हों, उनसे कहे कि तुम्हें राजाकी ओरसे धन मिलेगा और मंत्रीसे तुम्हारी भेंट होगी तथा होनेपर मंत्री भी इनकी जीविका और व्यापार आदिके लिये विशेष यत्न करे। जो किसी विशेष कारणसे क्रुद्ध हो गये हों, उन्हें धन और सम्मानसे शान्त करे। जो बिना कारण ही क्रुद्ध हुए हों और द्वेष रखते हों, उन्हें चुपचाप मरवा डाले।

संचार शाखाके गुप्तचरोंका विशेष वर्णन

संचार शाखाके भेदियोंमें जो सत्री होते थे, वे अनाथ होनेके कारण राज्यसे भरणपोषणके लिये वृत्ति पाते थे और उन्हें लक्षण और अंग विद्या (सामुद्रिक और शरीरके किसी भागमें शुभाशुभ चिह्नोंका जो फल होता था, वह बतानेवाला शास्त्र) मायागत (जादूगरी वा इन्द्रजाल), आश्रमधर्म, जम्भक विद्या (जम्हाईका शुभाशुभ फल), निमित्त और अन्तरचक्र (शकुनशास्त्र और पक्षियोंकी बोलियोंसे शुभाशुभ समझनेवाला शास्त्र) पढ़ाये जाते थे। एक साथ रहकर पढ़नेके कारण ये सत्री (सहपाठी, हमसबक या क्लासफेलो) कहाते थे। अपनी शिक्षाके कारण इन्हें हर तरहके लोगोंसे मिलने जुलनेके और इस प्रकारसे प्रत्यक्ष भेद जाननेके बहुत अवसर मिला करते थे। जो लोग हाथी, शेर जैसे भयंकर पशुओंसे कभी धन और कभी प्रसन्नताके लिये लड़ते और अपनी जानकी परवा नहीं करते थे, उन्हींसे तीक्ष्ण गुप्तचर भर्ती किये जाते थे। रसद वे होते थे, जो बन्धुओंके साथ स्नेह नहीं करते थे, क्रूर और आलसी होते थे तथा बहुरूपिये होते थे। सूद (रसोइये), अरालिक (हलवाई) स्नापक (नहलानेवाले), आस्तरक (बिछौना बिछानेवाले), कल्पक (नाई), प्रसाधक (कपड़े पहनानेवाले) इत्यादि रूपोंसे काम करते थे। ये रसद गुप्तचर इसलिये ये काम करते थे, जिसमें रस वा विषका प्रयोग कर सकें। परिव्राजिका वह होती थी, जो दरिद्रा, प्रगल्भा (बड़ी बोलनेवाली और हाज़िर जवाब) विधवा ब्राह्मणी होती थी और जीविकाकी इच्छा रखती थी तथा

जिसका महामात्रके कुलोंमें सत्कार हुआ करता था। भिक्षुकी, मुंडा, वृषली आदि भी इसी संचार श्रेणीके चारोंमें होती थीं। भिक्षुकी और परिव्राजिकामें यह अन्तर जान पड़ता है कि परिव्राजिका तो बड़े घरोंमें जाने आनेवाली गरीब ब्राह्मणी थी, पर भिक्षुकी भिखारिन ही थी। मुंडा बौद्ध भिक्षुकी होती थी, क्योंकि इसका सिर मुंडा रहता था। वृषली दासीका ही एक प्रकार था। इनके अतिरिक्त पुंश्चली, वेश्या और रूपजीवा इस काममें अधिक नियुक्त की जाती थीं। पुंश्चली तो कुलटा थी और रूपजीवा अपने रूपलावण्यके बलपर कमाने खानेवाली वेश्या थी।

इनके अतिरिक्त चारोंके और भी बहुतसे प्रकार थे। महाभारत भीष्म पर्वसे जाना जाता है कि भीष्मके चार जड़, अन्धे और बहिरे बने घूमा करते थे और द्रोणने दुर्योधनको परामर्श दिया था कि ब्राह्मण चार रखा करो। मुद्राराक्षस नाटकसे जाना जाता है कि चाणक्यका एक चार जीवसिद्ध बौद्ध भिक्खुके रूपमें भड्डुरी बना घूमा करता था और राक्षसका चार विराधगुप्त जीर्णविष नामका संपेरा बना फिरता था। वह कार्त्तान्तिक-व्यञ्जन श्रेणीका चार था। अर्थशास्त्रमें गोरक्ष-व्यञ्जन (चरवाहा), दण्डमुख्य-व्यञ्जन (सेनापति), लुब्धक-व्यञ्जन (बहेलिया), कर्मकर व्यञ्जन (नौकर चाकर), गोवणिक् (गाय बैलके व्यापारी), हस्तिजीवी (हाथी द्वारा जीविका करने-वाला), अग्निजीवी (आगसे काम करनेवाला), माता पिता-व्यञ्जन (मां बाप रूपसे रहनेवाला), देह दाबनेवाला, कुबड़ा, बौना, गूंगा, बहिरा, जड़, अन्ध, नट, नचनिया, गवैया, बजवैया और भाट, वाग्जीवन (खुश मसखरा) इत्यादि गुप्तचरोंके अनेक भेद बताये गये हैं। महाभारत विराट् पर्वसे जाना जाता है कि दुर्योधनने पाण्डवोंका पता लगानेके लिये गुप्तचर छोड़े थे और इन्होंने लौटकर पहाड़ों, दुर्गों, गहन वनों और जनाकीर्ण नगरोंका बड़ा ही सजीव वर्णन किया था भीष्मके भेदियोंने यहां तक पता लगा लिया था कि पांचालके राजा द्रुपदने जिस शिखंडीका पुत्रवत् लालन-पालन कर रखा है, वह लड़की है, यद्यपि द्रुपद और उसकी रानीके सिवा किसीको इसका ज्ञान न था। दुर्योधनके चार केवल यही समाचार ला सके थे कि मत्स्य देशका सेनापति कीचक मर गया। परन्तु इतनेसे कर्ण सन्तुष्ट न हुआ और उसने दुर्योधनसे कहा कि विदेशोंमें कुछ और दूत शीघ्र भेजो। किरातार्जुनीयसे भी

महाभारत और किरातार्जुनीयमें गुप्तचरोंका वर्णन

इन चारोंका रोचक वर्णन प्राप्त होता है। युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित द्वैत-वनमें ठहरे हुए थे। अपना भावी कार्य क्रम ठीक करनेके पहले वे दुर्योधनके शासनके विषयमें विश्वसनीय समाचार जान लेना चाहते थे। इसलिये उन्होंने भेद लेनेके लिये कुरुराज्यमें एक वनेचरको भेजा। किरातके पहले सर्गसे जाना जाता है कि इसने अपने कार्योंकी विस्तृत रिपोर्ट युधिष्ठिरको दी थी। इसमें कुरुराज्यके शासनकी ही नहीं, दुर्योधनके सैनिक बलकी भी चर्चा थी।

गुप्तचरोंके हथकंडे बतानेवाला मुद्राराक्षससे बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं है। यों तो उस नाटकका विषय चन्द्रगुप्त और मलयकेतुके युद्धका वर्णन है, तथापि उससे चन्द्रगुप्तके मंत्री चाणक्य और नन्दके भूत तथा मलयकेतुके सामयिक मंत्री राक्षसकी कूटनीतिक लड़ाईका ब्योरा जाना जाता है। राक्षसने विराधगुप्तको भेद लेने पाटलिपुत्र भेजा था। यह संपेरा बनकर गया था। इसकी रिपोर्टसे जाना गया कि राक्षसका विचार चन्द्रगुप्त और उसके अनुयायियोंमें भेद डालना था। इसने भाट स्तनकलसको भेजकर चन्द्रगुप्त का क्रोध बढ़ानेको भेजा था, जो श्लेषपूर्ण छन्दोंमें गाता था कि चाणक्य तेरी आज्ञाका विरोध करता है और तेरे अधिकारको ठुकराता है। परन्तु चाणक्यकी चतुराईसे राक्षसके प्रयत्न विफल हुए। एक बार उसने अपने विद्वान् चिकित्सक अभयदत्तको चार रूपसे भेजा था और इसने चन्द्रगुप्त को पीनेके लिये विष दिया था। पर चाणक्यने इसे सोनेके पात्रमें डाला तो इसका रंग बदल गया। इसपर चाणक्यने राजाको इसे न पीनेको कहा और चिकित्सकको ही पिला दिया, जिससे वह मर गया। राक्षसके दूसरे गुप्तचर प्रमोदकका प्रयत्न भी ऐसे ही विफल हुआ। इस वर्णनसे महायुद्धमें जर्मनों और फ्रेंचोंकी सीक्रेट सर्विसके वर्णनोंकी तुलना करनेसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारी उस समयकी चारव्यवस्था वर्त्तमान पाश्चात्य चार व्यवस्थासे किसी प्रकार हीन नहीं थी।

मुद्राराक्षसमें चारों-का उल्लेख

इन वर्णनोंसे चारोंके कार्योंके उत्तरदायित्वका पता लगता है। पंच-वर्ग वा संस्थाके चारोंको राजा धन और मानसे सम्मानित करता था और वे राजकर्मचारियोंके शौच अथवा सदाचारका निश्चय किया करते थे। संचार शाखाके चारोंके विषयमें कौटिल्यने बताया है कि इनमें जो सद्वंशजात, राजभक्त, विश्वसनीय,

चारोंके गुण और उनकी नियुक्ति

देशों और व्यापारोंके अनुकूल वेष बदलनेमें पटु तथा बहुतसी भाषाओं और कलाओंके ज्ञाता हों, उन्हें राजा अपने ही देशमें अपने ही मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, दौवारिक, अन्तर्वंशिक, प्रशास्ता, समाहर्त्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, पौर, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, मंत्रिपरिषद, दुर्गाध्यक्ष, दण्डपाल तथा अटवीपालकी गतिविधि जाननेको लगावें। जो तीक्ष्ण चार होते, वे राजछत्र, चामर, पंखा और जूते लेते अथवा सिंहासन, रथ वा यानके समीप रहते थे और उन कर्मचारियोंका बाहरी आचरण देखते थे जिनसे उन्हें काम पड़ता था। जो समाचार ये तीक्ष्ण चर एकत्र करते थे, वे सत्री चरोंद्वारा संस्थामें पहुँचाये जाते थे। रसद गुप्तचरोंका काम इन अधिकारियोंका भीतरी आचरण जानना था। नानारूप बनाकर वे ये काम करते थे। भिक्षुकियां इन अधिकारियोंके भीतरी आचरणका समाचार संस्थामें पहुँचाती थीं। यदि भिक्षुकी लोगोंके द्वारोंपर रोक दी जाती थी और रसदोंको समाचार नहीं दे सकती थीं, तो मातापितृ-व्यंजन, शिल्पकारी, कुशीलव (भाट) और दासियों, संज्ञालिपि (codes), इंगित अथवा गीतवाद्य, भांड, गूढ़लेख्य वा संज्ञासे समाचार भेजती थीं। जब संस्थाको संचारोंसे समाचार मिले, तो वह अपने चरोंसे संज्ञालिपिद्वारा काम ले। यदि इन तीन भिन्न भिन्न द्वारोंसे समाचारकी पुष्टि हो, तभी उसे विश्वसनीय समझना और उसपर कार्य करना चाहिये। पर जब तीनोंमें बार बार अन्तर पड़ा करे, तब मिथ्या वा भ्रान्त समाचार देनेवालेको गुप्त रूपसे दण्ड दे। जिसमें गुप्तचर घूंस न खाय वा धोखा न दे, इसलिये नियम था कि संस्थाके गुप्तचर संचारोंको और संचार गुप्तचर संस्थावालोंको न जानें।

राजाकी रक्षाके कामोंमें भी कौटिल्यने चारोंका उपयोग किया है। राजा पर परराज्यसे ही संकटकी सम्भावना नहीं रहती, स्वराज्यकी अभक्त प्रजा और मंत्रियोंसे ही क्यों, राजकुमारों और रानियोंसे भी रहती है। रानियोंके षड्यंत्रोंके कारण कई राजाओंको प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा यह तो उपर बताया ही जा चुका है। इसलिये कौटिल्यने राजाको उपदेश दिया है कि रानीके पास कभी न जाओ और रातको तो जाओ ही नहीं, प्रत्युत किसी विश्वस्त बूढ़ी, परिचारिकासे रानीको अपने कमरेमें ही बुलाओ, क्योंकि कई रानियोंने या तो

रानियों, राजकुमारों, मंत्रियों आदिसे राजाकी रक्षामें चारोंका उपयोग

किसी रानीके डाहसे वा अन्य कारणसे राजाओंकी हत्यामें सहायता पहुँचायी है । राजकुमारोंको तो कौटिल्यने केकड़ा कहा है जो अपने जनकको खा डालता है । बौद्ध जातकोंमें ऐसी अनेक कथाएँ हैं जहाँ राजकुमारोंसे डरकर राजाओंने उन्हें निर्वासित किया है । जिसमें राजकुमारोंके षड्यंत्रसे राजाओंके प्राण न जायं इसलिये कौटिल्यने युवराज तथा अन्य राजपुत्रोंपर दृष्टि रखनेके लिये चारोंकी व्यवस्था की है । जब राजपुत्रोंके राजविरोधी भाव देखे जायं, तब पहले तो उन्हें भेदियों और माताओंके द्वारा राजाके अनुकूल करनेके प्रयत्न किये जायं, परन्तु जब इस प्रकारके उपाय निष्फल सिद्ध हो जायं, तो कौटिल्यका कहना है कि राज्यके कल्याणार्थ गूढ़ पुरुषों द्वारा उनका वध करा दिया जाय । राजकुमारोंको सुधारनेके लिये भी कौटिल्यकी व्यवस्था है । इसके अनुसार राजकुमारोंको धर्म और अर्थकी शिक्षा दी जाय । परन्तु यदि यौवनके मदमें परस्त्रियोंकी ओर उनका मन जाय, तो आर्य स्त्रियोंके भेसमें बुरी स्त्रियोंद्वारा वे डराये जायं । यदि उन्हें मद्यपानका चस्का लगा हो, तो गूढ़ पुरुष मद्यमें धतूरा आदि मिलाकर उन्हें पिला दें और जुएकी लत पड़ गयी हो, तो कपटी पुरुषोंके वेषमें भेदिये उन्हें डरावें । आखेटका व्यसन लगा हो, तो गुप्तचर डाकुओंके रूपमें उनमें भय उपजावें और यदि वे पितापर आक्रमण करनेके इच्छुक हों, तो चार उन्हें ऐसे प्रयत्नोंके दुष्परिणाम समझावें ।

दूष्य महामात्रको दण्ड देनेकी कौटिल्यकी व्यवस्था तथा एक ब्रिटिश उदाहरण

जहां तक राजपरिवारका सम्बन्ध है, वहां तक तो कौटिल्यने चारोंका बड़ा ही सदुपयोग किया है; परन्तु दूष्य महामात्रके विषयमें बड़ी ही बेढब नीतिका उपदेश किया है । कहा है कि किसी दूष्य महामात्रके भाईको सत्री राजाके पास ले जाय और वहां इसे भाईकी सम्पत्तिका अधिकार दिला दे और उससे महामात्रपर आक्रमण करावे । जब वह रस वा शस्त्रसे महामात्रको मार डाले, तो भ्रातृघातक कहकर वहीं उसका वध कर दिया जाय । इसे अधिक स्पष्ट करके कौटिल्यने यों कहा है कि जो अध्यक्ष वा आपसमें मिले हुए अमात्य आदि राजाका नाश कर रहे हों और जिन दुष्टोंको खुल्लमखुल्ला इस डरसे कुछ न कहा जा सके कि इससे प्रजामें असन्तोष उत्पन्न हो सकता है, तो राजा उन्हें उपांशुदण्ड दे अर्थात् इस ढंगसे उनका वध करावे कि वध और

वधिक किसीका पता न लगे। इस प्रकारके उपाय वर्त्तमान सभ्य सरकारें भी करती हैं। ब्रिटिश परराष्ट्र विभागकी एक ऐसी ही कारवाईका उल्लेख सर राजर केसमेंटने 'गैलिक अमेरिकन' पत्रमें किया था। इसका इस प्रसंगसे घनिष्ठ सम्बन्ध है इस लिये इसकी चर्चा की जाती है। सर राजर केसमेंट ब्रिटिश परराष्ट्र विभागमें कई बार कान्सल और राजदूतका भी काम कर चुके थे। वे आयरिश प्रोटेस्टेंट होनेपर भी स्वदेशके लिये स्वराज्य प्राप्त्यर्थ 'शिनफिन' (स्वदेशी) आन्दोलनमें पड़े थे। वे सच्चे इतने थे कि नौकरी ही नहीं छोड़ी थी, पेनशन भी छोड़ दी थी। १९१५ में वे अमेरिकासे नार्वे होकर जर्मनी जा रहे थे। नार्वेकी राजधानी क्रिश्चियाना वर्त्तमान ओस्लोमें ब्रिटिश राजदूतके व्यवहारके विषयमें उन्होंने १ फरवरी १९१५ को हालैंडकी राजधानी हेगसे एक रजिस्ट्री चिट्ठी ब्रिटिश परराष्ट्र-सचिव सर एडवर्ड ग्रेको लिखी थी। यह पूरी चिट्ठी १० जुलाई १९१५ के 'गैलिक अमेरिकन' में प्रकाशित हुई थी।[1] इससे जाना जाता है कि क्रिश्चियानाके

---

१ सर राजर केसमेंटके पत्रके अंशः—

I was prepared to face charges in a Court of Law; I was not prepared to meet waylaying, kidnapping, suborning of dependent, or 'knocking on the head'; in fine all the expedients your representative in a neutral country invoked when he became aware of my presence there.

For the criminal conspircy that Mr. M. de C. Findlay, H. B. M. Minister to the Court of Norway, entered into on the 30th October last, in the British Legation at Christiana, with the Norwegian subject my dependent Eivind Adler Christensen, involved all these things and more. It involved not a mere lawless attack upon myself for which the British Minister promised my follower the sum of £ 5000/— (25.000 डालर) but it involved a breach of international law for which the British Minister in Norway promised the Norwegian subject full immunity.

× × ×

ब्रिटिश राजदूतने सर राजर केसमेंटके नार्वेजियन नौकरको ५००० पौंड इसलिये देनेको कहा था कि वह सर राजरको अंगरेज सरकारके चुंगलमें फंसा दे। ब्रिटिश राजदूतका यह कार्य अन्तरराष्ट्रीय नियमोंके विरुद्ध तो था ही, पर नार्वेजियन प्रजाजनको विश्वासघात करनेके लिये उकसानेवाला भी था। कौटिल्य इससे अधिक और क्या करा सकते थे?

राज कर्मचारियोंसे प्रजाकी रक्षा करना भी बड़ा आवश्यक कार्य है और वह बिना चारोंके असम्भव है। इसलिये मनुस्मृतिमें भी कहा गया है कि राजा कर्मचारियोंको नियुक्त तो प्रजाकी रक्षाके लिये करता है, परन्तु ये प्रायः परस्वापहारी और शठ होते हैं, इसलिये इनसे प्रजाकी रक्षा करे।[1] कौन राजकर्मचारी पवित्र (ईमानदार) है और कौन घूँसखोर है इसका पता चारों द्वारा ही लग सकता है, इसीलिये राज्यशास्त्रप्रणेताओंने

राजकर्मचारियोंसे प्रजाकी रक्षामें चारोंका उपयोग

अपने कर्मचारियोंपर भी चार लगानेका उपदेश राजाको दिया है। महाभारतमें कणिकने धृतराष्ट्रसे कहा है कि उद्यानों, विहारों, देवतायतनों, पानागारों (कलारीखानों), तीर्थस्थानों, चत्वरों, कूपों, पर्वतों और वनोंमें चारोंकी नियुक्ति करो। कौटिल्यने तो पवित्रताकी जांचके उपाय भी बताये हैं। समाहर्त्ताके चारोंका यह काम था कि उन्हें पता लग जाय कि उसका चरित्र पवित्र नहीं है, तो वैसे ही कामोंका भेदू चार उसपर छोड़ दिया जाय, जो उससे मेल जोल बढ़ाकर कहे कि मेरे मित्रपर विपद् आ गयी है, वह दूर हो जानी चाहिये, आपकी मुट्ठी भी गर्म हो जायगी। यदि धर्मस्थ वा प्रदेष्टा स्वीकार कर ले, तो घोषित कर दिया जाय कि वह उत्कोचग्राही है

That this man was faithful to me and to the law of his country, was a triumph of Norwegian integrity over the ignoble inducement preferred to him by the richest and most powerful Government in the world to be false to both.

History of the Sinn Fien Movement and the Irish Rebellion of 1916 by Francis P. Jones (Third & Enlarged Edition pp. 203-5.

[1] राज्ञो हि रक्षाधिकृता परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥ अ० ७

और देशसे निकाल दिया जाय। इसी प्रकार ग्रामके मुखिया (ग्रामकूट) वा इसके अध्यक्षसे कहा जाय कि एक धनी झमेलेमें फंस गया है, इस समय उससे कुछ ऐंठना चाहिये। यदि वह सम्मत हो जाय, तो ऐंठनेके अपराधपर देशसे निकाल दिया जाय। ऐसे ही अपने ऊपर फौजदारी मामलेका बहाना करके कूट साक्षी या झूठे गवाह बनाये जायं। जो कोई गवाही देनेपर राजी हो जाय, वह दरोगहल्फीमें देशसे निकाल दिया जाय। फिर यदि किसीपर सन्देह हो कि वह जाली सिक्के (कपट मुद्रा) बनाता है, क्योंकि बहुधा कई प्रकारकी धातु, सज्जी, कोयला, धौंकनी, संडसी, कठेली, चूल्हा और हथौड़े खरीदा करता है और उसके हाथ और कपड़े राख और धुएंसे गंदे रहते हैं, तो उससे चार कहे कि मुझे चेला (शागिर्द) बना लीजिये। यदि वह चारकी बात मान ले, तो जाली सिक्के बनानेवालेको धीरे धीरे वह शागिर्द फंसा दे और फिर निर्वासित करा दे। पुराने और नामी चोर डाकुओंमें चार मिल जायं और उनकी पुरानी और नयी कारवाइयोंका ब्योरा जानकर उन्हें पुलिससे पकड़वाकर दंड दिला दें। समाहर्त्ताको गोपों और स्थानिकोंपर भी दृष्टि रखनी चाहिये।

सुराध्यक्ष और गणिकाध्यक्षका विशेष उपयोग

कौटिल्यने सुराध्यक्ष और गणिकाध्यक्षसे जो काम लेनेकी व्यवस्था की है, उससे उनकी अपूर्व कल्पनाशक्तिका पता लगता है। सुरालयों वा कलवरियोंमें बहुतसे कमरे अलग रखनेको कौटिल्यने कहा है जिनमें सोने बैठनेका यथेष्ट प्रबन्ध हो। पानागार वा मदिरा पीनेके स्थानमें गन्धमाल्योदक—इत्र, फूलमाला और जल तथा सुखकी सभी सामग्री रहनी चाहिये। जो चार यहां नियुक्त हों, उनका काम है कि यह पता लगावें कि जो शराब पीने आते हैं, वे मामूली खर्च करते हैं वा बहुत और उनमें अजनबी तो नहीं हैं। साथ ही मत्त लोगोंके पास कितनेका परिच्छद, आभूषण और हिरण्य है। वणिक् गुप्तचर अधखुले कमरोंसे देखा करें कि आर्योंके वास्तविक वा कृत्रिम वेषमें अपनी सुन्दरी वेश्याओंके साथ नशेमें मत्त लोगोंके चेहरे कैसे हैं। गणिकाध्यक्षका काम यह जान लेना था कि वह प्रत्येक गणिकासे जान ले कि उसका दैनिक भोग-फीस कितनी हुई, भावी आय क्या होगी और उसके यारकी आय क्या है।

राजकोशकी वृद्धिमें भी कौटिल्यने चारोंसे काम लिया है। गुप्तचर

जादूगरों वा ओझोंके वेषमें रहकर लोगोंकी कुशलक्षेम बनाये रखनेके बहाने पाषण्ड (बौद्ध) सङ्घोंका ही धन न ले जायं, प्रत्युत मुर्दो, चारोंसे राजकोशकी देवस्थानों और उनका भी ले जायं, जिनके घर जल गये वृद्धिमें सहायता हों, यदि यह धन श्रोत्रिय ब्राह्मणका भोग्य न हो। चार अनन्त फनोंवाला नाग दिखाकर पैसे वसूल करें। वैदेहक किसी धनी व्यापारीका साझी बन जाय और उसके साथ मिलकर व्यापार करे और जब मालकी बिक्रीसे बहुतसा धन एकत्र हो जाय, तब किसीको लगाकर सब धन चुरवा ले। गणिकाएँ साध्वियोंके रूपमें राजद्रोहियोंकी प्रेमिकाएँ बन जायं और ज्योंही वे इन स्त्री-चारोंके घरोंके पास दिखाई दें, त्योंही पकड़ लिये जायं और उनकी सम्पत्ति राज्यद्वारा छीन ली जाय। इसी प्रकार किसी राजद्रोहीका नौकर बनकर चार अपने वेतनके नाणकोंमें जाली नाणक मिलाकर मालिकको पकड़वा दे। फिर तो इसकी सम्पत्ति सरकारकी हो ही गयी। यहां तक स्वदेशमें चारोंके कृत्योंका वर्णन हुआ। इस प्रसङ्गमें यह मार्केकी बात है कि पाश्चात्य राजनीतिमें स्वराज्यके कर्मचारियोंके शौचकी रक्षाके लिये हिन्दू राज्यशास्त्रमें वर्णित व्यवस्थाके समान कोई विधान नहीं है। इस दृष्टिसे हिन्दू राजनीति पाश्चात्य राजनीतिसे श्रेष्ठ है।

अब शत्रुके बीचमें रखकर चारोंसे क्या काम लिया जाता है यह बताते हैं। कुबड़े, बौने, हिजड़े तथा शिल्पवती स्त्रियों, गूँगे और म्लेच्छ जातिकी विविध श्रेणियोंके लोगोंको शत्रुके घरोंमें छोड़ दे। इसके

शत्रुराज्यमें प्रकृति-कोपका उत्पादन

सिवा वणिज संस्थाके चारोंको दुर्गोंके अन्दर, कर्षकों—किसानों, उदास्थितोंको राष्ट्रमें, सिद्ध तापसोंको दुर्गान्तमें, व्रजवासियोंको राष्ट्रान्तमें, वनचारियों, श्रमणों और आटविकोंको जंगलोंमें शत्रुओंकी गति विधि जाननेके लिये रख दे। शत्रु राष्ट्रोंके साथ कौटिल्य दो प्रकारसे भीतर ही भीतर लड़नेका परामर्श देते हैं। एक है तूष्णीं युद्ध अर्थात् खुल्लमखुल्ला लड़कर शान्ति भंग न करना और गूढ़ पुरुषों द्वारा उपजाप वा भेद डालना। विष, औषध तथा वध आदिसे मंत्रयुद्धका प्रयोग वहां होता है, जहां दुर्बल राजाका सबल शत्रुसे पाला पड़ता है और दुर्बलके दूतोंके बार-बार कहनेपर भी सन्धि प्रस्ताव न स्वीकारकर खुल्लमखुल्ला शत्रु बन जाता है। ऐसी अवस्थामें कौटिल्यका उपदेश है कि तीक्ष्ण और रसद चरोंद्वारा शत्रु देशमें अभक्ति उत्पन्न की जाय। इस

प्रकृतिकोपका क्या रूप हो यह बताते हैं।

वेश्याओंका उपयोग आजकल तो शत्रुका नैतिक ह्रास करनेके लिये होता ही है, कौटिल्यके समयमें भी होता था। कहा है कि शत्रुके सेनामुख्योंको वेश्यापालक वा बन्धकीपोषक परमरूप और यौवनवती स्त्रियां दिखाकर उनमें प्रेम उत्पन्न करें। जब उनमें कुछका प्रेम हो जाय, तब तीक्ष्ण चार उन्हें लड़ा दें। उनमें जो हार जाय, उसे दूसरे स्थानको चले जाने अथवा चारोंके स्वामीको सहायता देनेका परामर्श दें वा जो फँस जायँ, सिद्ध-व्यंजन चार उन्हें यह कहकर विष दे दें कि जो औषध हम देते हैं, उससे प्रेमिका प्राप्त हो जायगी। वैदेहक-व्यंजनका काम यह है कि शत्रुकी सुन्दरी रानीकी परिचारिकाका प्रेम प्राप्त करनेके लिये उसे बहुतसा धन दे और फिर फँसा दे। वैदेहकका अनुचर उस परिचारिकाके नौकरको कुछ और औषधियां यह कहकर दे कि वणिक्‌का प्रेम प्राप्त करनेके लिये उसके शरीरमें लगा दे। जब उसे सफलता हो जाय, तब वह रानीसे कहे कि राजाका प्रेम प्राप्त करनेके लिये यह औषधि उसके लगा देनी चाहिये। जब वह सम्मत हो जाय, तब औषधिके बदले उसे विष दे दे। कार्त्तान्तिक वा ज्योतिषीके भेसमें कोई चार रहकर शत्रुके महामात्रको यह कहकर भरमावे कि आपमें तो राजाके सभी लक्षण हैं और भिक्षुकी चार उसकी स्त्रीको समझावे कि आपमें तो सब लक्षण राजपुत्रीके हैं और आप राजपुत्र प्रसविनी हैं अथवा कोई स्त्री भार्याव्यंजन रूपसे महामात्रकी पत्नीसे कहे कि 'राजा मुझे बहुत तंग कर रहा है और एक तपस्विनी मेरे पास यह पत्र और अलङ्कार लायी है।' इस प्रकार उनमें राज्याभिलाप उत्पन्न करके राजाकी अभक्ति भड़कायी जाय। ऊपर जो उपाय बताये गये हैं, वह युद्धके पूर्वके ही समझने चाहिये। परन्तु युद्ध आरम्भ हो चुकनेपर भी चार अपने कर्त्तव्योंसे विरत नहीं हो सकते। जब युद्ध हो रहा हो, तब चारोंको चाहिये कि शुण्डीव्यंजन वा कलारोंके वेषमें सैकड़ों घड़े मदन-रस (बेहोश करनेवाली औषधि) और विषसे युक्त मद्य शत्रु सेनाके अफसरोंमें बाँट दें। कुछ लोग सूदों-अन्न पकाने और बेंचनेवालों अथवा खोनचेवालों तथा आरालिकों—हलवाइयोंके वेषमें विषयुक्त खाद्य पदार्थ शत्रुसेनाको बेंच दें और ये पदार्थ ऐसे हों कि सल्लेपन और अच्छेपनके कारण तुरत ले लिये

राजाकी अभक्ति उत्पन्न करनेके उपाय

जायं। विषयुक्त घास और जल भारवाही वा लद्दू पशुओंके सेवकोंको बेंच दें, जिसमें वे मर जायं। फिर गुप्तचर गोपों और बहेलियोंके रूपमें उपद्रव मचावें और शत्रुके सेनामुख्योंको पीछेसे मार डालें और शत्रु राजाके घरमें आग लगा दें। इनके लिये चारोंके मुखियेको अपने अधीन कर्मचारियोंको आदेश देना चाहिये। पशुओं और भेड़बकरियोंके झुंड इस प्रकार रखे जायं कि शत्रु सेनाका ध्यान बंटा सकें। रातको जब शत्रुसेना लड़ती हो, तब रातको कभी कभी शत्रुकी छावनीमें घुसकर चार शत्रु राजाको मार डालें। दुर्गोंके घिरावमें उनपर अधिकार करनेके समय घेरनेवालोंको चार भी सहायता दें। वह इस प्रकार कि शत्रु दुर्गके द्वारपर मांस बेचनेको चार खड़े हो जायं और द्वाररक्षकोंसे मित्रता कर लें। दो चार बार चोरोंके आनेका समाचार देकर शत्रुका अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न कर लें और फिर उसे अपनी सेनाको दो भागोंमें बंटवा दो जगह तैनात करा दें। जब शत्रुके गांव घेरे और लूटे जाते हों, तब वे उससे कहें कि चोर बहुत पास आ गये हैं, बड़ा हुल्लड़ मचा हुआ है और बड़ी सेनाका प्रयोजन है। फिर जो सेना उन्हें मिले, उसे ले जाकर गांव लूटनेवाले सेनानायकको समर्पण करा दें और उक्त सेनानायककी सेनाका अंश लेकर रातको लौटें और नगर-द्वारपर उच्चस्वरसे कहें कि सेना विजयी होकर लौट आयी है, अब द्वार खोला जा सकता है। जब शत्रु सेना अथवा विश्वासपात्र लोगोंकी आज्ञासे द्वार खोल दिया जाय, तब वे सेनाकी सहायतासे शत्रुको पस्त कर दें। चितेरे, बढ़ई, पाषण्ड, नट, वैदेहक आदि विजिगीषुकी सेनाके ये चार शत्रुके दुर्गके अन्दर ही रहें। कर्षक वा किसानके रूपमें जो चार हों, वे ऐसी गाड़ियोंमें हथियार ले जाकर उन्हे दें, जिनपर ईंधन, घास, अन्न अथवा अन्य पण्य लदा हो तथा देवप्रतिमाओं वा उनकी पताकाओंके रूपमें शस्त्रास्त्र हों, फिर पुजारीके भेसमें शङ्ख और ढोल बजाकर शत्रुको सूचित करें कि घेरनेवाली सेना सबका नाश करनेकी इच्छासे शस्त्रास्त्रसे लैस होकर पीछे पीछे आ रही है। इस समय जो हुल्लड़ मचे, उसमें विजिगीषुके चार जो भीतर हों, वे विजिगीषुकी सेनाको दुर्ग द्वार और दुर्गकी अट्टालिकाएं सौंप दें अथवा शत्रुकी सेनाको तितर बितर करके उसका पतन करा दें।

जिन राज्योंमें राजा होता है, उनका पराजय करनेमें मंत्र-युद्धका कैसे अवलम्बन किया जाता है यह ऊपर बताया गया है। अब यह बताना है

कि संघ राज्यों अर्थात् जिन राज्योंमें राजा नहीं होता, वे मंत्रबलसे कैसे जीते जा सकते हैं। कोशलके राजा विडूडभने शाक्यसंघको और मगधके राजा अजातशत्रुने वज्जी संघको मंत्रबलसे जीता था। जैसे महाभारतमें कहा है कि संघका नाश भेदसे होता है, वैसे ही कौटिल्य कहते हैं कि भेद उत्पन्न करने और बढ़ानेसे काम बनता है। आचार्यका भेस धरकर शास्त्र, कला, द्यूत वा खेलके विषयमें वाद विवादको पारस्परिक वैमनस्यमें बढ़ा देना चाहिये। तीक्ष्ण चार छोटोंकी प्रशंसा भंगड़खानों और रंगमंचोंमें करके संघों के बड़े नेताओंसे उन्हें लड़ा दें अथवा छोटी जातिके राजाओंकी यह कहकर प्रशंसा करें कि आप बड़े कुलीन हैं और इस प्रकार उनमें उच्चाकांक्षा उत्पन्न कर दें। उच्च कुलोंके लोगोंसे नीच कुलोंके लोगोंका रोटी बेटी सम्बन्ध वे रोकें अथवा ऊंचे लोगोंसे कहें कि आप सबके साथ रोटी बेटी व्यवहार करें और यह प्रसिद्ध कर दें कि नियम तो यह है कि जन्म, शूरत्व और सामाजिक स्थिति देखकर सामाजिक व्यवहारका निश्चय किया जाय। अथवा तीक्ष्ण चार उनके झगड़ेके कारण स्वरूप वस्तुओं, पशुओं वा मनुष्योंको रातको नष्ट करके उन्हें लड़ा दें। इन सब झगड़ोंमें विजिगीषु निर्बल पक्षको धनजनसे सहायता देकर सबल पक्षसे लड़ा दे। जब उनमें फूट हो जाय, तब उनके देशसे हटाकर अन्यत्र रख दे अथवा अपने ही देशमें खेतीके योग्य भागमें बसा दे। बन्धकीपोषक, नट, नर्त्तक आदि प्रवेश करनेपर संघमुख्योंको अति सुन्दरी स्त्रियां दिखाकर उनमें काम उत्पन्न करें। किसी स्त्रीको अन्य पुरुषके पास भिजवा देने अथवा यह बहाना बताकर कि अन्य पुरुष उसे ले गया है, वे उस स्त्रीके प्रेमिकाको लड़ा दें और जब दोनों लड़ते हों, तब तीक्ष्ण चार अपना काम बनाकर कहें कि 'इस प्रकार वह अपने प्रेमके कारण मारा गया है।' जो संघमुख्य स्त्रीलोलुप हो, उससे सत्री कहे, 'इस गांवमें एक गरीब घरका मालिक मर गया है। उसकी स्त्री रानी होने योग्य है; उसे छीन लो।' पन्द्रह दिन बाद संघमें सिद्ध-व्यंजन उसपर इस प्रकार अभियोग लगावे कि 'यह संघमुख्य मेरी मुख्य भार्या, भार्या, पुत्रवधू, भगिनी वा पुत्रीका बलात्कारसे उपभोग करता है। यदि संघ मुखियेको दंड दे तो विजिगीषु उसका पक्ष लेकर विरोधियोंके सामने खड़ा कर दे। यदि संघ दंड न दे, तो सिद्धके वेषमें उस दुष्ट पुरुषको तीक्ष्ण पुरुष रातको मार डाले। सिद्धवेषी चार इस

संघ राज्यमें भेद कैसे उत्पन्न किया जाय ?

प्रकार कोलाहल मचावें कि यह संघमुख्य ब्रह्महत्यारा है और यह ब्राह्मणोंके साथ जारकर्म करता है। इस प्रकार जो झगड़े चार पैदा करें, उनमें विजिगीषु सदा हीन पक्षकी सहायता कर अपने अनुकूल बना ले और अवसर आनेपर विरोधी संघके विरुद्ध युद्ध करनेके लिये उसे तैयार करे। यदि वह युद्ध करनेमें असमर्थ हो, तो उसे देशसे निकाल दे। श्रीरामने वालीके विरुद्ध सुग्रीवके हीन पक्षका ही समर्थन किया था। चार वलकी महत्ता यूरोपियन खूब समझते हैं। इसीसे हिटलरने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकियाको तथा इटलीने अलबानियाको विना रक्त बहाये ही जीत लिया था।

१०—धनुर्वेदमें अस्त्रोंका रहस्य

सेनाके सङ्गठनकी चर्चा-'सैन्यव्यवस्था' शीर्षक अध्यायमें हम कर आये हैं। महाभारत युद्धके समय कौरवों और पाण्डवोंकी अक्षौहिणियोंका सङ्गठन भी बता चुके हैं। वैशम्पायनने नीतिप्रकाशिकामें अक्षौहिणीके विषयमें कुछ भिन्न प्रकारकी संख्याएँ दी हैं, जिनके सामने जर्मन सेना भी नगण्य जान पड़ती है; क्योंकि उसमें दो अरबसे ऊपर पदातियोंके अतिरिक्त लाखों घोड़े, रथ और हाथी हैं। अनुमान है कि जर्मनी इस समय ६० लाख सैनिकोंसे काम ले रहा है, जिनमें २० लाख तो युद्धक्षेत्रोंमें सेवा कर रहे हैं और ४० लाख उन देशोंपर अधिकार किये हुए हैं, जिन्हें जर्मनोंने पराजित किया है। नीतिप्रकाशिकाके[1] अनुसार अक्षौहिणीका सङ्गठन इस प्रकार होना चाहिये:—

वैशम्पायनकी अक्षौहिणीकी संख्या

	रथ	हाथी	घोड़े	पदाति
पत्ति	१	१०	१,०००	१,००,०००
सेनामुख	३	३०	३,०००	३,००,०००
गुल्म	९	९०	९,०००	९,००,०००
गण	२७	२७०	२७,०००	२७,००,०००
वाहिनी	८१	८१०	८१,०००	८१,००,०००
पृतना	२४३	२,४३०	२४३,०००	२,४३,००,०००
चमू	७२९	७,२९०	७२९,०००	७,२९,००,०००
अनीकिनी	२,१८७	२१,८७०	२१,८७,०००	२१,८७,००,०००
अक्षौ	२,१,८७०	२१८,७००	२,१,८७०,०००	२,१८,७०,००,०००

नीतिप्रकाशिकाने राजाको सेनाका सर्वोच्च अधिकारी माना है। इसके नीचे युवराजको रखा है। राजाका वेतन तो नहीं बताया, पर युवराजका ५,००० वर्ष लिखा है! यह वर्ष प्राचीनकालका सुवर्ण नाणक है, जिसका मूल्यनिर्द्धारण असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। युवराजके नीचे दण्डनायक या प्रधान सेनापतिका स्थान है जिसका मासिक वेतन ४००० वर्ष है।

सेनाके वेतनकी व्यवस्था।

---

१ अध्याय ७ श्लोक ६ से ११ और २७ से ३०।

अतिरथका वेतन ३०००, महारथका २०००, रथी और गजयोधीका १०००, अर्द्धरथका ५०० वर्ष, एकरथ और हस्तिचालकका ३०० निष्क है। अश्व-बलाध्यक्षका ३००० निष्क, पत्यक्षका २००० निष्क, १००० पदातियोंके नायकका ५०० निष्क, इतने ही सैनिकोंके नायकका १००० निष्क है। जिस नायकके अधीन १०० पत्ति हों और जो घोड़ेपर रहता हो, उसका ७ वर्ष और साधारण सैनिकका ५ सुवर्ण रखा है। अतिरथ सबसे बड़ा रथी होता था। इससे छोटा महारथ और इससे नीचे एकरथ होता था तथा इससे नीचे अर्द्धरथका स्थान था। दो अर्द्धरथ एक ही रथपर बैठकर शत्रुओंसे लड़ते थे। निम्नलिखित कर्मचारियोंका मासिक वेतन १५।१५ वर्ष लिखा है:—हस्ति-चालक, सारथी, पताकावाही, चक्राध्यक्ष, ३०० पदातियोंका नायक, उष्ट्र-चालक, सन्देशवाहक, दौवारिक, मुख्य भाट, मुख्य गायक, मुख्य विरुदगायक, मुख्य भाण्डागारिक, सेनाको वेतन देनेवाला (बख्शी) और बन्दूकोंका अफसर।

वर्म और शस्त्रास्त्रका भी इतिहास है। वर्म मनुष्य ही नहीं, हाथी और घोड़े भी पहनते थे। वर्मके विषयमें कहा गया है कि दक्ष प्रजापतिकी

जया और सुप्रभा सब शस्त्रास्त्रोंकी माताएं

दो कन्याएं थीं जया और सुप्रभा और दोनो ब्रह्माके मानस पुत्र कृशाश्वको व्याही थीं। ब्रह्माकी प्रतिज्ञाके अनुसार जया तो सब शास्त्रास्त्रोंकी माता हुई, पर उसकी बहन सुप्रभाके दस पुत्र हुए जो संहार कहलाये और फिर ब्रह्माकी विशेष कृपासे ग्यारहवां पुत्र हुआ जिसका नाम सर्वमोचन हुआ। जयाके पुत्र सामान्य शस्त्रास्त्र थे और सुप्रभाके मंत्रदेव संयुक्त दुराधर्ष और दुरतिक्रम और अत्यन्त बलवान् हुए। सर्वमोचन सबका छुड़ानेवाला था।[1]

जैसा पहले कहा जा चुका है, धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद है। इसे ब्रह्माने पृथुको दिया था। धनुर्वेदको देवताका रूप दिया गया है। इसके

धनुर्वेदका स्वरूप और शत्रुनाशक मंत्र

चार पैर, आठ बाहु, तीन नेत्र हैं, रक्त वर्ण और चार मुंह हैं तथा सांख्यायन इसका गोत्र है। इसके चारों हाथोंमें वज्र, खड्ग, धनुष और चक्र हैं। चार वाम बाहुओंमें शतघ्नी, गदा, शूल और पट्टिश हैं। इसका किरीट मंत्र युक्त है, अंग नीति है, कंचुक वा वर्म मंत्र है, उपसंहार हृदय है और शास्त्रास्त्र दोनो कुण्डल हैं। उसके भूषण अनेक वल्गिताकार

1 नीतिप्रकाशिका अ० श्लो० ४१-४७ अ० २ श्लो० २८।

युद्ध गतियां हैं, नेत्र पीले हैं। यह जयमालासे परिवृत है और बैलपर सवार है। जिस मंत्रके जपसे शत्रुका नाश और विजयकी प्राप्ति होती है, वह इस प्रकार है:—ॐ नमो भगवते धम धनुर्वेदाय माम रक्ष रक्ष मम शत्रून् भक्षय भक्षय हूँ फट् स्वाहा। यह ३२ अक्षरका मन्त्र ३२००० बार जपनेसे कार्य-सिद्धि होती है। इसका ऋषि ब्रह्म, छन्द गायत्री देवता महेश्वर और अरि-निग्रहके लिये विनियोग है।[1]

धनुर्वेदके चार पाद

धनुर्वेदके चार पाद चार प्रकारके अस्त्र हैं यथा मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और मंत्रमुक्त। अग्नि पुराणने पांच प्रकारके अस्त्र माने हैं। धनुर्वेदके प्रथम पाद वा मुक्तास्त्रोंमें धनु, इषु (बाण), भिण्डिपाल, शक्ति, द्रुघाण, तोमर, नलिका, लगुड, पाश, चक्र दन्तकण्टक, और भुशुण्डी हैं। अमुक्तमें वज्र, ईली, परशु, गोशीर्ष, असिधेनु, लविन्न, आस्तर, कुन्त, स्थूण, प्राश, पिनाक वा त्रिशूल, गदा, मुद्गर, सीर, मुसल, पट्टिश, मौष्टिक, परिघ, मयूखी और शतघ्नी हैं। ये द्वितीय पादमें हैं। तृतीय पादमें मुक्तामुक्त अस्त्र हैं जो फेंके जाते हैं और नहीं भी फेंके जाते। इनके दो भेद हैं सोपसंहार और उपसंहार। सोपसंहार वे हैं जो उपसंहारोंको वापस लेते वा रोकते हैं और उपसंहार पूर्वकथित अस्त्रोंको रोकते हैं। सोपसंहार ४४ और उपसंहार ५५ हैं। चतुर्थ पादमें मंत्रमुक्त हैं जो मंत्र पढ़कर चलाये जाते हैं। ये हैं विष्णुचक्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र, कालपाशक, नारायणास्त्र और पाशुपतास्त्र। पहला विष्णुका, दूसरा इन्द्रका और तीसरा ब्रह्माका अस्त्र, चौथा यमका पाश वा जाल, पांचवां नारायणका और छठा पशुपति वा महादेवका अस्त्र है।[2]

धनुष और मुक्तास्त्र

धनुर्वेद जैसा उसके नामसे ही जाना जाता है, धनुषवाणकी महिमाका बखान करता है। धनुषका रूपक यों बताया गया है कि इसकी गर्दन चौड़ी, चेहरा छोटा, कमर पतली और पीठ दृढ़ है। यह चार हाथ ऊंचा और तीन स्थानोंमें झुका हुआ है। इसकी जीभ लम्बी और इसके मुंहमें भयङ्कर दांत हैं। इसका वर्ण रक्त है और यह सदा घरघरका शब्द किया करता है। यह आंतोंकी माला

---

१ नीतिप्रकाशिका अ० २ श्लो० २ से ६

२ नीतिप्रकाशिका अ० २ और ४

पहने है और अपनी जीभसे मुंहके दोनो कोने चाटता रहता है। बायें हाथसे धनुषको झुकाना और दाहने हाथसे ज्या वा डोरी पकड़नी चाहिये और अंगूठेपर तथा अंगुलियोंके बीचमें धनुषकी पीठपर बाण लगाना चाहिये। धनुषमें दो ज्या वा डोरियां साधारणतः लगायी जाती हैं। धनुर्धर बायें हाथमें हस्तत्र (चमड़ेका दस्ताना) पहनता है और पीठपर तूणीर (तरकश) बांधे रहता है। इषु वा बाणका शरीर काला और ३ हाथ लम्बा होता है। एक अञ्जलि इसका घेरा होता है और यह बहुत दूर जाता है। भिण्डिपालका शरीर टेढ़ा, सिर झुका और चौड़ा होता है। यह एक हाथ होता है और एक हाथका इसका मण्डल होता है। यह तीन बार घुमाकर शत्रुके पैरपर मारा जाता है। भिण्डिपाल चलानेके समय बायां पैर सामने रखना चाहिये। शक्ति दो हाथ लम्बी और इसकी गति तिर्यक होती है। इसकी जीभ तीक्ष्ण और नख उग्र होते हैं तथा घंटेकी नाईं इसका भयङ्कर नाद होता है। इसका मुंह खुला होता है। यह बहुत काली और शत्रुके रक्तसे रंगी होती है। अन्तड़ियोंकी मालासे यह लदी होती है। इसका मुंह सिंहका मुंह होता है और देखनेमें यह भयङ्कर होती है। मुट्ठीकी भांति यह चौड़ी होती और दूर तक जाती है। दोनों हाथोंसे उठाकर फेंकी जाती है। द्रुघणका शरीर लोहेका, गर्दन टेढ़ी और सिर चौड़ा होता है। यह ५० अंगुल लम्बा और घेरा एक मुट्ठीका होता है। तोमर तीन हाथ लम्बा होता है। इसका शरीर काठका और सिर धातुका फूलोंके गुच्छेसा होता है। यह टेढ़ा नहीं होता। इसका रंग लाल होता है। नालिकाका शरीर सीधा होता है। इसके अवयव पतले होते हैं और बीचमें यह खोखली होती है। यह मर्म स्थानोंको छेद देती है और काली होती है। इसका व्यवहार करनेके समय इसे जलाते हैं। यह निशानेको छेद देती है। इसे कड़ाबीन बन्दूक समझना चाहिये। लगुड़का पांव छोटा और कन्धा और सिर चौड़े होते हैं। पैरका भाग धातसे मढ़ा रहता है। यह छोटा, बड़ा चौड़ा और दांतकी शकलका होता है। इसका शरीर दृढ़ और यह दो हाथ ऊंचा होता है। पाश धातके बने छोटे अवयवका, तिकोना और घेरेमें एक बित्ता होता है और सीसेके गोलोंसे सजा रहता है। चक्र गोलाकार और मध्यमें चतुष्कोण छिद्रयुक्त होता है। इसका रंग नील जलकी नाईं होता है। दन्तकण्टक धातुनिर्मित कांटा सामने चौड़ा और पीछे पतला होता है। इसका रंग कोयलेका होता है। यह एक

बांह ऊंचा, अच्छे बेंटवाला और सीधा होता है तथा भयङ्कर दिखता है। भुशुण्डी वा मुसुण्डी आठ सिरोंवाली गदा होती है। इसकी गांठें और देह चौड़ी होती हैं और पकड़नेके लिये अच्छा बेंट होता है। यह तीन बांह लम्बी होती है और इसका रंग भयङ्कर विषधर सर्पकासा होता है।

३२ अस्त्र दधीचिकी ३२ हड्डियां हैं।

जिन मुक्तास्त्रोंकी चर्चा ऊपर हुई है, उनकी तथा जिन २० अमुक्तास्त्रोंका वर्णन किया जायगा, उनकी मनोरंजक कथा है। इन्द्रके वज्रको तो दधीचिकी हड्डियां सभी जानते हैं, परन्तु यह भी जाननेकी बात है कि बत्तीसों मुक्तामुक्त अस्त्र दधीचिकी ३२ हड्डियां हैं। जब देवासुरसंग्राममें देवता असुरोंसे हार गये, तो जिस मार्गसे इन्हें भागना पड़ा, उसीके पास दधीचि ऋषि बैठे थे। इन्हें वे अपने अस्त्रादि सौंपकर तबतक भागते चले गये, जब तक मन्दार पर्वत नहीं पहुँचे। इसकी कन्दराओंने उन्हें शरण दी। यहां वे बहुत वर्षोंतक इन्द्रको अपना नेता मानकर बने रहे। इस बीचमें मुनिने उनके अस्त्रोंकी भली भाँति रक्षा की। उनकी तपस्याके फलसे वे अस्त्र मेख बनकर उनके शरीरमें पहुँचकर हड्डियोंमें परिवर्त्तित हो गये। बहुत समय बीतनेपर देवताओंने फिर असुरोंसे लड़नेका विचार किया और ब्रह्मासे सहायताकी प्रार्थना की। ब्रह्माने उन्हें धनुर्वेदका उपदेश दिया। अब देवता दधीचिसे अपने अस्त्रादि मांगने गये। दधीचिने कहा कि हमें स्वर्गमें स्थान मिले, तो हम वे अस्त्र देनेको तैयार हैं, चाहे हमारी जानपर ही क्यों न बीते। जब यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी, तब दधीचिने कहा कि एक गाय ले आओ, जो हमारी देह चाटे जिससे तुम्हारे अस्त्र रूपी हमारी अस्थियां खुल जायं। ऐसा करनेपर दधीचिकी ३१ हड्डियोंसे ३१ अस्त्र निकले और ३२ वीं हड्डी रीढ़ इन्द्रका वज्र बनी। इन ३२ अस्त्रोंसे देवताओं ने असुरोंसे युद्ध करके उन्हें हरा दिया। दधीचिकी देह चाटकर गाय ब्रह्महत्याका कारण बनी, इस लिये अबतक गायका मूत्र और गोबर तो पवित्र माने जाते हैं, पर मुँह अपवित्र समझा जाता है।[1] बत्तीसों मुक्तामुक्त अस्त्रोंकी उत्पत्तिका यह इतिहास है।

---

१ गोमुखं ब्रह्महत्यापि विवेश नृपसत्तम।
देवसन्तोषणात् लोकान् शाश्वतान् स ऋषिर्ययौ ॥२४॥

मुक्तास्त्रोंका वर्णन ऊपर हो चुका है, इस लिये अब नीतिप्रकाशिकाके अनुसार ही अमुक्तास्त्रोंका वर्णन किया जाता है। अमुक्तास्त्रोंमें सर्व प्रथम वज्र है, जो वृत्रासुरके वधार्थ निर्मित हुआ था। यह कोटि-सूर्यसमप्रभ है और प्रलयाग्निके समान प्रकाशमान् है। इसकी दाढ़ें १० योजन लम्बी और जीभ अत्यन्त भयंकर है। यह प्रलयकी कालरात्रिके समान है और १०० गांठोंसे आच्छादित है। इसकी लम्बाई १० योजन और चौड़ाई ५ योजन है। इसका घेरा तीक्ष्ण नोकोंसे ढका है। रंगमें यह बिजलीके समान है। इसमें चौड़ा और सुदृढ़ बेंट लगा रहता है। इली दो हाथ लम्बी छोटी तलवार काले रंगकी और बिना मूठकी होती है। धारका सामनेका भाग टेढ़ा होता है और पाँच अंगुल चौड़ा होता है। परशु वा फरसा पतली छड़ीकी तरह चौड़े मुँहका होता है। चेहरा चमकता और अर्द्धचन्द्राकार तथा शरीर मैला होता है। यह एक हाथ लम्बा होता है। गोशीर्ष दो फुट लंबा होता है। इसका ऊपरी भाग लोहेका और निचला भाग लकड़ीका होता है। इसमें धार होती है और यह मैले और धातके रंगका होता है। इसके तीन शीर्ष होते हैं और अच्छी मूठ होती है। यह १६ अंगुल ऊँचा और सामने तेज तथा बीचमें चौड़ा होता है। असिधेनु कटार है। यह एक हाथ लम्बी, काले रंगकी, तीन किनारोंकी तथा दो अंगुल चौड़ी होती है। मूठमें हाथके बचावकी व्यवस्था नहीं होती। कमरबन्दसे लटकती रहती है। यह खड्गकी बहन है और पासकी लड़ाईमें काम आती है। राजा इसे लटकाये रहते हैं। लवित्र वा हसुएकी शकल टेढ़ी होती है। यह पीछेकी ओर चौड़ा और तेज, काले रंगका, पाँच अंगुल चौड़ा और डेढ़ हाथ ऊंचा होता है। इसका बेंट चौड़ा होता और भैंसोंको यह टुकड़े टुकड़े कर डालता है। यह दोनों हाथोंसे उठाकर फेंका जाता है। आस्तरके पैरमें गांठ होती है और इसका सिर लम्बा होता है। यह एक हाथ चौड़ा, दो हाथ लम्बा, काले रंगका होता और इसका बीचका भाग एक हाथ तक झुका रहता है। यह रथियों और पैदलोंके लिये अच्छा

तदा प्रभृति लोका वै न पश्यन्तीह गोमुखम्।
प्रातः पुरुषशार्दूल तद्गोपगतमानसाः ॥५५॥
नीतिप्रकाशिका अ० २

अस्त्र है। कुन्त वा भाला लोहेका होता है। इसका सिरा तीक्ष्ण होता है और इसके छः किनारे होते हैं। यह ६ या १० हाथ ऊँचा होता है और पैरके सिरेमें गोल होता है। स्थूण वा निहाईका रंग लाल होता है और पास पास उसमें कई गाँठें होती हैं। वह मनुष्य बराबर ऊँची और सीधी होती है। वह घुमाकर मारी जाती और शत्रुको नीचे गिरा देती है। प्राश वा बर्छी सात हाथ लम्बी और लाल रंगे हुए बांसकी होती है। इसके सिरेपर घास लगी रहती है और पैरकी ओर यह तेज रहती है। इसपर रेशमी कलगी लगी रहती है। पिनाक वा त्रिशूल तीन सिरोंका होता है। सामने तीक्ष्ण होता है। इसका शरीर कांसेका और सिर लोहेके होते हैं और यह चार हाथ लम्बा होता है। इसपर रीछके बालोंकी कलगी होती है और गर्दनमें पीतलके जोशन पड़े रहते हैं। यह शत्रुको सूलीपर चढ़ा देता है। गदा तीक्ष्ण लोहेकी होती है और इसके चौड़े सिरपर सौ कीलें वा मेखें लगी रहती हैं। बगलोंमें भी मेखें रहती हैं। यह चार हाथ लम्बा भयानक अस्त्र होता है। इसका काय रथके अक्षके बराबर होता है। सिरपर कलगी रहती है। यह सुन-हले कटिबन्धसे ढकी रहती है तथा हाथियों और पहाड़ोंको कुचल सकती है। बारूदके सहारे भी यह चलायी जाती है। मुद्गर सूक्ष्मपाद वा पैरकी ओर छोटा, हीनशीर्ष और तीन हाथका होता है। इसका रंग मधु सदृश, कन्धा चौड़ा और यह आठ भार भारी होता है। इसकी मूठ अच्छी होती है और यह गोल काले रंगका तथा एक हाथ घेरेका होता है। यह घुमाया जाता है और भूमिपर वस्तुओंको गिरा देता है। सीर वा हल दो ओरसे टेढ़ा होता है। इसके सामने लोहेका पत्र रहता है और जिनसे इसका संघर्ष होता है, उन वस्तुओंको चूर कर देता है। मनुष्यके समान इसकी उँचाई होती है, रंग अच्छा होता है और जब बहुत खींचा जाता है, तब मनुष्यों और वस्तुओंको भूमिपर गिरा देता है। मुसल या मूसलके सिर, आँख, हाथ, पैर कुछ नहीं होते। वह दोनो सिरोंपर जुड़ा रहता है और शत्रुओंको गिराता और कुचलता है। पट्टिश तब्बल या कुल्हाड़ा है, जो आदमीके बराबर ऊँचा होता है, जिसकी दो तेज धारें होती हैं। इसके बेंटमें हाथके बचावकी व्य-वस्था रहती है। यह तलवारका सगा भाई कहाता है। मौष्टिककी मूठ अच्छी होती है। यह एक बित्ता लम्बा और अलंकृत होता है। इसका किनारा तेज, गर्दन ऊँची, बीचमें चौड़ा और काले रंगका होता है। वैशम्पायनने

इसकी बड़ी प्रशंसा की है। इसे भोंकनेवाला बड़ा शूरा समझना चाहिये। परिघ वर्तुलाकार ताड़के पेड़की नाईं लम्बा अच्छी लकड़ीका होता है और इससे काम लेनेको पलटनसी लगानी पड़ती है। मयूखी आदमीकी तरह ऊँची लकड़ी होती है, जिसमें मूठ भी होती है। इसमें घंटियाँ लगी रहती हैं, जो कई रंगोंकी दिखती हैं और इसके साथ मिअलसमें ढाल रहती है। यह चोट पहुँचाने, मार डालने, छुड़ाने, चोट बचाने और वार करनेके काममें आती है। शतघ्नीमें काँटे होते हैं और यह काले लोहेकी और कड़ी होती है। वैशम्पायनके मतसे, यह गदाके समान होती और गदाकी भाँति ही अन्य यंत्रद्वारा फेंकी जाती थी। यह मुगदरसी जान पड़ती है, वर्तुलाकार और मूठदार होती है।

मुक्त और अमुक्त अस्त्रोंमें असि वा खड्गका नाम नहीं आया, यद्यपि असि अमुक्तास्त्र ही है। इसका कारण यह है कि खड्गकी उत्पत्ति भिन्न प्रकार से हुई है। कहते हैं कि जब देवासुरसंग्राम हो रहा था, तब ब्रह्माके द्वारा हिमालय पर्वतपर असिदेवता प्रकट हुए, जिनके प्रकाशसे सारा आकाश जगमगा उठा और पृथ्वी काँपने लगी। इस प्रकार प्रबल पराक्रमी असुरोंसे विश्वका उद्धार करनेके लिये ब्रह्माने खड्गका आविर्भाव किया। वह ५० अंगुल लम्बा और ४ अंगुल चौड़ा था और ब्रह्माने उसे रुद्रको सौंपा। जब रुद्र उसका उपयोग कर चुके, तब उन्होंने विष्णुको दिया और इन्होंने मरीचि आदि ऋषियोंको दिया। ऋषभ ऋषिने उसे इन्द्रको दिया। इन्द्रने दिग्पालोंको दिया और इन्होंने वैवस्वत मनुको दुष्टोंको दण्ड और न्यायमें सहायता देनेके लिये दिया। उस समयसे यह मनुके वंशमें है। खड्गका नक्षत्र कृत्तिका है, देवता अग्नि,गोत्र रोहिणी और परम दैवत रुद्र है। निस्त्रिंशके अतिरिक्त इसके नाम असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधर्म, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल हैं। ३२ प्रकारसे उसका प्रयोग होता है और बायीं ओर वह लटकाया जाता है।

खड्ग अमुक्तास्त्र ही है

मुक्तामुक्तास्त्रोंमें ४४ सोपसंहारोंके ये नाम हैं:—दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, ऐन्द्रचक्र, शूलवर, ब्रह्मशीर्ष, मोदकी, शिखरी, धर्मपाश, वरुण-पाश, पैनाकास्त्र, वायव्य, शुष्क, आर्द्र, शिखरास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, हयशीर्ष, विद्यास्त्र, अविद्यास्त्र, गन्धर्वास्त्र, नन्दनास्त्र, वर्षण, शोषण, प्रस्वापन, प्रशमन, सन्तापन, विलापन, मथन, मान-

सोपसंहार और उपसंहार

वास्त्र, शमन, तामस, संवर्त्त, मौसल, सत्य, सौर, मायास्त्र, त्वाष्ट्र, सोमास्त्र, संहार, मानस, नागास्त्र, गरुडास्त्र, शैलास्त्र और इषीकास्त्र । ५४ उपसंहार अस्त्रोंमें ये हैं:—सत्यवान्, सत्यकीर्ति, रभस, धृष्ट, प्रतिहार, अवाङ्मुख, पराङ्मुख, दृढ़नाभ, अलक्ष्य, लक्ष्य, आविल, सुनाभक, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, धर्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, नाभक, ज्योतिष, विमल, नैराश्य, कर्षण, योगन्धर, सनिद्र, दैत्य, प्रमथन, सारचिरमाला, धृति, माली, वृत्तिम, रुचिर, पित्र्य, सुमनस, विधूत, मकर, करवीर धनरति, धान्य, कामरूपक, जृम्भक, आवरण, मोह, कामरुचि, वारुण, सर्वदमन, सन्धान, सर्पनाथक, कङ्कालास्त्र, मौसलास्त्र, कापालास्त्र, कङ्कण और पैशाचास्त्र ।

धनुर्वेदके चतुर्थपादके अस्त्र मंत्रमुक्त कहाते हैं। इनकी संख्या ६ ही है। ये मंत्र पढ़कर चलाये जाते हैं। इनके नाम हैं विष्णुचक्र, वज्रास्त्र, कालपाशक, नारायणास्त्र और पाशुपतास्त्र। मुक्तामुक्त और मंत्रमुक्त अस्त्रोंके विषयमें विशेष जानना कठिन है। इन सोपसंहार और उपसंहार अस्त्रोंका वर्णन रामायण बालकाण्डके २९ और ३० वें सर्गमें भी है और इन्हींका ज्ञान विश्वामित्रने रामलक्ष्मणको दिया था।

मंत्रमुक्तास्त्र

शुक्रनीतिसारमें तोप (वृहन्नालिका) और बन्दूक (लघुनालिका) जैसे आग्नेयास्त्रों तथा बारूद वा अग्निचूर्णका वर्णन मिलता ही है, परन्तु इस ग्रंथकी प्राचीनता सन्दिग्ध है। इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि हमारे देशमें प्राचीन कालमें इनका प्रचार था या नहीं। परन्तु कामन्दकीय नीतिसारमें भी बन्दूकका वर्णन मिलनेसे यह मानना पड़ता है कि ईस्वी सन्के आरम्भमें यहाँ गोली बारूदसे काम लिया जाता था; क्योंकि ईस्वी चौथे शतकमें यहाँसे नीतिसार बालीद्वीप गया था। इस कामन्दकीय नीतिसार में लिखा है कि जब राजा मदिरापान, स्त्रियों और जुएकी गोष्ठियोंमें प्रमत्त हो गया हो, तब गुप्त दूतोंको चाहिये कि गोलियाँ दागने आदि उपायों द्वारा उसे सावधान करते रहें[1]। वैशम्पायनकी नीतिप्रकाशिका कामन्दकीय नीतिसारसे भी प्राचीनतर

तोपबन्दूकों और गोलीबारूदका वर्णन

---

[1] पानस्त्रीद्यूतगोष्ठीषु राजानमभितश्चराः ।
बोधयेयुः प्रमाद्यन्तमुपायैर्नालिकादिभिः ॥५२॥ सर्ग ५

ग्रन्थ है; और जब हम देखते हैं कि उसमें लोहे-सीसेके यंत्रों और गोलियोंके फेंकनेका[1] स्पष्ट वर्णन है, तब भारतमें प्राचीनकालसे इनके अस्तित्वमें शङ्का कैसे की जा सकती है ? और राजलक्ष्मीनारायणहृदयमें, जो अथर्वणरहस्य है, जब बारूदके योगका स्पष्ट उल्लेख मिलता है, तब तो गोली बारूदके विषयमें हिन्दुओंका ज्ञान कितना प्राचीन है यह सहज ही समझमें आ जाता है। यह अथर्वणरहस्य-राजलक्ष्मी नारायणहृदय अथर्ववेदके समान प्राचीन न होनेपर भी वर्तमान नीति ग्रन्थोंसे प्राचीन अवश्य है। इसमें बताया गया है कि जिस प्रकार कोयले, गन्धक आदिके योगसे बनानेवालेकी चतुरतासे आग पैदा होती है, वैसे ही मेरी भक्तिके चैतन्य रूपमें योग होनेसे हे लक्ष्मीजी, तुम शीघ्र मेरी कांक्षा पूरी करो।[2] हम पहले कह आये हैं कि सिकन्दरी युद्धोंमें आग्नेयास्त्रोंके प्रयोगका पता नहीं लगता, परन्तु डा० गस्टव ओपर्ट ने अपने ग्रन्थमें[3] लिखा है कि क्विंटस कर्टियसके लेखोंके एक अंशसे जाना जाता है कि सिकन्दरको भारतमें आग्नेयास्त्रोंका भी सामना करना पड़ा था, यद्यपि धर्मयुद्धमें इनके प्रयोगका निषेध होनेसे इनका व्यवहार बहुत कम देखा गया है। रामायण और महाभारतमें भी आग्नेयास्त्रोंका वर्णन पाया जाता है।

डा० गस्टव ओपर्टका दृढ़ मत है कि भारत ही तोप-बन्दूक और गोली-बारूदका जन्मस्थान है। उन्होंने हमारे प्राचीन ग्रन्थोंके आधारपर ही नहीं, शिल्पकलाके उदाहरणोंद्वारा सिद्ध किया है कि भारतमें बन्दूक और बारूद बनानेका ज्ञान लोगोंको प्राचीनकालसे ही है। बारूद बनानेमें जिन तीन पदार्थोंका योग होता है, वे हैं शोरा, गन्धक और कोयला और ये

बारूदकी जन्म-भूमि भारत

---

१ यंत्राणि लोहसीसानां गुलिकाक्षेपणानि च।
तथा चोपलयंत्राणि कृत्रिमाण्यपराणि च ॥५२॥ अ० ५

२ इङ्गालगन्धादिपदार्थयोगात् ,
कर्त्तुर्मनीषानुगुणो यथाग्निः।
चैतन्यरूपे मम भक्तियोगात् ,
कांक्षानुरूपं भज रूपमाशु ॥ राजलक्ष्मीनारायणहृदय

3. On the Weapons, Army Organization and Political Maxims of the Ancient Hindus by Gustav Oppert Ph. D. p. 69.

सभी यथेष्ट मात्रामें यहां मिलते हैं। शोरा भारत, मिश्र और अमेरिकामें ही प्राकृतिक रूपमें मिलता है। यह दीवारोंमें लगे नोनेसे तैयार किया जाता है और शोरा इस देशसे बहुत अधिक मात्रामें विदेशोंको भेजा भी जाता था और है। यह औषधिके काममें भी आता है, विशेषकर अनपचको दूर करता है। गन्धक भी यहाँ अधिकतर सिन्धु प्रदेशमें पाया जाता है। यह भी औषधि है। तीसरा पदार्थ कोयला है। अर्क वा अकौड़े अथवा मदारका कोयला ही बारूद बनानेके काममें आता है। अकौड़ेका प्रयोग भी औषधिके लिये होता है और अच्छा इस्पात बनानेमें भी यह सहायक होता है। स्नुही वा स्नुहका कोयला भी अकौड़ेकी तरह ही काम देता है। यही गुण लहसुनके कोयलेमें भी है। शुक्रनीतिसारके अनुसार बारूद बनानेके लिये ५ भाग शोरेमें १ भाग कोयला और १ भाग गन्धक मिलाना चाहिये। शोरा ५ भागके बदले ४ वा ६ भाग भी किया जा सकता है। भारतमें आतिशबाजी और पटाके विशेष उत्सवोंपर छुड़ानेकी चाल बहुत पुरानी है, इससे भी भारत बारूदकी जन्मभूमि प्रमाणित होता है।

डा० गस्टव ओपर्टने मधुरा जिलेके रामनद स्थानसे उत्तर कुछ ही दूर पर तिरुपल्लाणिमें आदि जगन्नाथके मन्दिरके बाहर पत्थरके मण्डपपर कुछ सैनिकोंकी मूर्तियां खुदी देखी हैं। इन सिपाहियोंके हाथोंमें मन्दिरोंकी मूर्त्तियां उन्हें छोटी बन्दूकें दिखाई दी हैं। इनकी वर्दी भी विचित्र प्रमाण दे रही हैं। हैं, क्योंकि इनके कमरबन्दोंमें घंटियां लगी हुई हैं। इनके पैरोंमें चप्पल और सिरोंपर विचित्र टोपियां हैं। कुम्भकोणम्में शार्ङ्गपाणिके ११ तल्लेवाले मन्दिरके ५ वें तल्लेमें डा० गस्टव ओपर्टने देखा है कि रथपर एक राजा बैठा है जिसके सामने दो सिपाही छोटी बन्दूकें लिये खड़े हैं जो पिस्तौलसी जान पड़ती हैं। यह मन्दिर ५०० वर्षसे कम का बना नहीं है। काञ्चीमें लक्ष्मीकुमार ताताचार्यका शतस्तम्भ मण्डप है जो चतुष्कोण है। उत्तरकी ओर जो चौथा स्तम्भ है, पश्चिमकी ओरसे आने पर जान पड़ता है कि एक मोटा पत्थर काटकर उसमें सैनिकोंका युद्ध दिखाया गया है। इनके हाथोंमें बन्दूकें हैं। यह मण्डप सन् १६२४ में बना था। तंजोरके मन्दिरके घेरेके भीतर स्वर्ग एकादशी फाटकके पत्थरके सामने सिपाहियोंकी मूर्त्तियां छोटी कड़ाबीनें लिये हुए काटी गयी हैं। कोयम्बटूरसे कुछ ही मीलपर पेरारमें एक प्रसिद्ध शिवालय है और इसके पास ही सुन्दर

सभामण्डप है। इसके चौड़े आधारपर एक सैनिक हाथमें बन्दूक लिये खड़ा है। इस स्थापत्य शिल्पसे सिद्ध है कि बन्दूक वा आग्नेयास्त्रका व्यवहार भारतमें बहुत प्राचीन समयसे होता आता है। इसके विपरीत यूरोपमें १४ वीं ईस्वी शताब्दीसे पहले बारूद पहुँची ही नहीं थी।

१-२ तूष्णीम् युद्ध और गैस आदि

धर्म-युद्ध, कूट-युद्ध और तूष्णीम् युद्ध इन युद्ध-भेदोंका उल्लेख मात्र पहले किया गया है। धर्म-युद्ध तो युद्धके मनुष्योचित दया, क्षमा आदि नियमोंसे होता है; पर कूट-युद्धमें येन केन प्रकारेण छल-बलसे शत्रुको पराजित करना ही अभीष्ट होता है। तूष्णीम्-युद्ध इन दोनोंसे विलक्षण है। तूष्णीम्का अर्थ है चुपचाप। यह 'तुप' और 'नीम्' से बना है। तुपका अर्थ प्रसन्न रखना और 'नीम' का है बहुत समयतक। इस प्रकार तूष्णीम्का अर्थ हुआ कि शत्रुको धोखेमें रखना और उसे अपना अभिप्राय न जानने देना। यह एक प्रकारका war of nerves भी कहा जा सकता है।

तूष्णीम्-युद्ध

जैसे धर्म और कूट-युद्धोंके व्यापारमें शस्त्रास्त्रों और आग्नेयास्त्रों—तोप, बन्दूक, गोला, गोली, बारूद आदिका प्रयोग होता है और इनकी मारसे अपना बचाव करनेके लिये सैनिकों और हाथी घोड़ोंको वर्मकवच आदि पहनाये जाते हैं, वैसे तूष्णीम्-युद्धसे बचावका कोई बढ़िया उपाय नहीं है। तूष्णीम्-युद्धमें चरोंके द्वारा शत्रुपर प्रहार किया जाता है और मंत्रौषधसे उसे नष्ट करनेका उद्योग किया जाता है। इन मंत्रौषधोंका वर्णन कौटिल्यने अर्थशास्त्रके चौदहवें अधिकरणमें औपनिषदिक नामसे किया है। इसमें चार अध्याय हैं। पहले अध्यायमें 'परघातप्रयोग' या शत्रुको मार डालनेके लिये मंत्रों और औषधोंका प्रयोग है, दूसरे अध्यायमें 'प्रलम्भनमें अद्भुतोत्पादन', तीसरेमें 'भैषज्यमंत्र प्रयोग' और चौथेमें इन प्रयोगोंका प्रतीकार बताया गया है। प्रलम्भनका अर्थ धोखा देना है। धोखा दो प्रकारसे दिया जा सकता है एक अद्भुत दृश्य उत्पन्न करके और दूसरे मंत्रौषधके प्रयोग से।

औपनिषदिकका रहस्य

गत महासमरमें गैसका कुछ प्रयोग किया गया था, पर अधिक कदाचित् इसलिये नहीं किया गया कि इससे नर-संहार अधिक होता और सैनिक

अर्थनिकमें भेद न किया जा सकता। कौटिल्यने बताया है कि गूढ़ पुरुषों द्वारा शत्रुके वस्त्रालङ्कारादिमें विषका संसर्ग करा देने अथवा कई औषधों और चिड़ियों, कीड़ों, जानवरों आदिके चूर्णका धुआँ देनेसे लोग मर जाते हैं। बताये हुए कई कीड़ोंमें एक कीड़ेको अग्निमें तपाकर यदि वह किसीको सुंघा दिया जाय, तो उसका शरीर फूल जाता है और काले साँप और कांगर्नाके साथ इसका योग कर दिया जाय, तो यह प्राण हर लेता है। शत्रुको मारनेके कई प्रयोग बताकर उसे अन्धा कर देनेके दो प्रयोग भी बताये गये हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि इसका प्रयोग करनेवाले अपनी आंखोंका प्रतिकार करके ही प्रयोग करें, नहीं तो वे भी अन्धे हो जायंगे। एक योग ऐसा बताया गया है, जिसका धुआं जहांतक फैलता है, वहांतक लोग मर जाते हैं। ऐसे प्रयोगसे जल दूषित भी होता है। लोगोंमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये 'मदनयोग' बताया गया है, जिससे पशुओंका चारा, ईंधन और जल भी दूषित होता है। एक योगसे मनुष्य अन्धा तथा पागल बनाया जा सकता है। क्षय रोग और ज्वर उत्पन्न करनेके योग भी बताये गये हैं। सम्भवतः इन योगोंसे रोगोंके कीटाणु उत्पन्न होते हैं।

मारक और रोगाणु उत्पन्न करनेवाले प्रयोग

शत्रु सेनाको नष्ट करनेके लिये कौटिल्यने एक विचित्र उपाय बताया है। कई औषधोंके योगसे विषदग्ध बाण तैयार किया जाता है। इससे जिसका शरीर विद्ध होता है, वह किन्हीं दस पुरुषोंको काट लेता है और फिर ये दस-दस पुरुषोंको काटते हैं जिससे विष फैल जाता है। एक दंशयोग और है जिसमें बाणका प्रयोजन नहीं होता। जलाशयको दूषित कर देनेसे मछलियां इसी प्रकार काटने लगती हैं। इसके जलको पीने वा छूनेवाला भी विषयुक्त हो जाता है।

दंशयोग

कौटिल्यने एक ऐसी आग पैदा करनेका योग बताया है जिससे दुर्गमें आग लग जाय, तो उसका प्रतिकार हो ही नहीं सकता। कुछ मंत्र भी बताये हैं, जिनको पढ़कर विशेष प्रकारकी सामग्रियोंसे हवन करनेसे ऐसी आग उत्पन्न होती है, जिसका प्रतिकार शत्रु किसी प्रकार कर ही नहीं सकता। इस अग्निमें एक विशेषता भी है और वह यह कि अप्रतिकार्य तो है ही, इसको

दुर्ग आदि जलाने और शत्रुको मूढ़ बनानेके योग

देखने मात्रसे शत्रु मूढ़ हो जाता है अर्थात् उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है।

विश्वामित्रने रामलक्ष्मणको सोपसंहार और उपसंहार अस्त्र ही नहीं दिये थे, उन्हें ऐसे योग भी बताये थे जिनसे भूख प्यास नहीं लगती थी।

भूख न लगना, रोग उत्पन्न करना, काला गोरा बनाना, आग जलाना आदि

हमारे आचार्य कौटिल्यने अद्भुतोत्पादनमें ऐसे योग बताये हैं, जिनके प्रयोगसे मनुष्यको १५-१५ दिनोंतक भूख नहीं लगती और वह महीनेभरतक उपवास कर सकता है। मनुष्यका सब शरीर श्वेत हो जाय, इसके छ योग बताये हैं। बाल श्वेत हो जायं, इसका एक योग कहा है। यह श्वेतीकरण योग श्वेतकुष्ठकारक जान पड़ता है, क्यों कि आगे चलकर कुष्ठकारक तीन प्रयोग कहकर चिरौंजीके काढ़ेसे इसका प्रतीकार बताया है। गोरे बननेका एक और काले बननेके दो प्रयोग बताये हैं। यह भी कहा है कि जुगनूका चूर्ण सरसोंके तेलमें मिलानेसे रातको जलने लगता है। शरीरके चमकाने के सिवा शरीरके जलानेका भी प्रयोग बताया है जिसके मलनेसे बिना किसी पीड़ाके अग्नि प्रज्वालन किया जा सकता है। कई प्रयोग ऐसे हैं जिनमें शरीर बिना अग्निके संसर्गके जलने लगता है और कई ऐसे हैं जिन्हें जलानेके लिये अग्निका संसर्ग आवश्यक होता है।

सुना जाता है कि कोई साधू जलती आगपर ऐसे चलता था, जैसे कोई फूलोंपर चलता हो। यह आश्चर्यकी बात है। पर कौटिल्यने बताया

शत्रुको बेचैन करने के योग

है कि नीम, खरेटी, वञ्जुल, थूहर और कदलीकी जड़ोंका कल्क बनाकर मेंढककी चर्बीके साथ तेल मिलाकर पैरोंमें मनुष्य मल ले, तो अंगारोंपर चल सकता है। प्रायः ऐसा ही दूसरा योग है जिसको धुले पावोंपर मलकर आगपर वैसे ही चल सकता है, जैसे फूलोंके ढेरपर। मुँहसे आग और धुआं निकाल-ने, वर्षा और आंधीमें भी आग जलती रहनेके योग लिखकर बताया है कि पानीमें तैरते रहनेपर लगी आग कैसे नहीं बुझती। यही नहीं, कभी आग पानीके संसर्गसे और भी भभकने लगती है। ऐसा भी प्रयोग बताया गया है कि दूसरी आग जल ही न सके। कितने ही लोग जञ्जीर वा सांकल तोड़ देते हैं जिसे देखकर लोगोंको अचरज होता है, परन्तु कौटिल्यने जंजीर तोड़ने

का भी योग बताया है। ऐसा योग भी बताया है जिसके प्रयोगसे मनुष्य बिना थकावटके १०० योजन या ४०० कोस चल सकता है।

तीसरे अध्यायके विषय

तीसरे अध्यायमें अँधेरेमें सब वस्तुएँ देखने, सबके सामने विचरण करने पर भी अपनेको कोई न देख सके, रूप ही नहीं अपनी छाया भी किसी को न दिखाई दे, ऐसे योग बताये हैं। पशुओंको अन्तर्धान करनेके आठ योग और सबको सुला देनेवाले चार योगोंका वर्णन किया गया है। किवाड़ तोड़ने, ताला खोलने और लोगोंको सुलानेके मंत्र दिये गये हैं। नासिका और मुँह बन्द करने, मल रोकने, शत्रुको अंधा बना देने, आदमीको सुलाकर मार डालने, उसकी आजीविका नष्ट करने, किसी पुरुषको तीन सप्ताह या डेढ़ महीनेमें स्त्री-पुत्र सहित मार देने और औषधको स्पर्श कराके तत्काल मार देने, किसी को अपुरुष बना देने, दो बैलोंकी गाड़ी मँगा लेने, अपने खाद्य पदार्थोंको क्षीण न होने देने, अपने ही घड़ेमें गांव भरका मक्खन मँगा लेने, वृक्षोंके फलोंको सुलाने आदिके मंत्रों और योगोंका वर्णन है। इस अध्याय के अन्तमें आचार्य कौटिल्यने लिखा है कि मंत्रों और औषधियोंसे युक्त जिन योगोंका और मायायुक्त जिन योगोंका निरूपण किया गया है उनसे विजिगीषु शत्रुका नाश और स्वजनोंकी परिपालना करे।



१३ षाड्गुण्य

शम और व्यायामसे योगक्षेम और षाड्गुण्यसे शम और व्यायामकी उत्पत्ति होती है। दुर्गनिर्माण तथा सन्धि आदि कार्योंमें आनेवाले विघ्नोंके नाशका साधन शम और उन कार्योंपर उपकरण सहित योग्य पुरुषोंकी नियुक्ति व्यायाम है। अप्राप्त धनादिका सम्पादन योग और प्राप्तका संरक्षण क्षेम कहाता है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभावको षाड्गुण्य कहते हैं। वृद्धि (उन्नति), क्षय (अवनति) और स्थान (समान स्थिति) ये तीनो षाड्गुण्यके फल हैं। ये फल दो प्रकारके कर्मोंसे प्राप्त होते हैं दैव और मानुष। धर्म और अधर्म रूप अदृष्टसे कराया कर्म दैव और मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति तथा उत्साह-शक्तिसे होनेवाला कर्म मानुष कहाता है। दैव कर्मसे वाञ्छित फलका योग अय और अवांछित फलका योग अनय है। इसी प्रकार मानुष कर्मसे यदि योगक्षेमकी सिद्धि हो जाय तो वह नय और विपत्ति आ जाय, तो अपनय हैं। योगक्षेमकी सिद्धिके लिये और असिद्धिके प्रतिकारके लिये राजनीतिमें मानुष कर्मका ही विचार किया जाता है।

शम-व्यायाम, योगक्षेम और षाड्गुण्य

दो राजाओंका किन्हीं पणों वा शर्तोंपर मेल pact 'सन्धि' है। किसी राजाका कोई अपकार करना 'विग्रह' (hostile act) है। सन्धि विग्रह न करके उपेक्षा करना 'आसन' तथा शक्ति आदिकी अधिकता यानका कारण होनेसे यान (चढ़ाई) वा सवारी है। बलवान् राजाको आत्मसमर्पण करना 'संश्रय' और एकसे सन्धि तथा दूसरेसे विग्रह करना द्वैधीभाव है। जर्मनी-ने रूससे सन्धि करके पोलैंड और उसके मित्रोंसे विग्रह किया, इस लिये उसका कार्य द्वैधीभाव समझा जायगा। अपने राज्यकी सातों प्रकृतियां और राजमण्डल षाड्गुण्यके कारण हैं। यूरोप यद्यपि १२ राजमण्डलके सिद्धान्त पर नहीं बँटा है, तथापि किसी रूपमें वह उसके समकक्ष है। इसमें जर्मनीको विजिगीषु मान लेनेपर उसका मित्र रूस है और स्पेन तथा अन्य फ्रान्सको भी उसके उदासीन मित्र मान लेना पड़ता है। आयरलैंड और स्वीजरलैंड,

षाड्गुण्य क्या है?

मध्यम है तथा ब्रिटेन, नार्वे, बेलजियम, हालैंड, उत्तर आयरलैंड, पोलैंड आदि शत्रु हैं। यह एकदेशी उपमा है, सर्वदेशी नहीं।

अपने गुणोंसे युक्त तथा परस्परको सहायता और अपने अपने कर्मोंमें लगी हुई राज्यकी सातों प्रकृतियां 'राजसम्पत्ति' कहाती हैं। वाग्मी (अर्थपूर्ण भाषाणमें समर्थ), प्रगल्भ (निडर), स्मृति, मति तथा बलसे युक्त, उन्नतचित्त, संयमी, हाथी, घोड़े आदि चलानेमें चतुर, शत्रुकी विपत्तिमें चढ़ाई करनेवाला, किसीके अपकार वा उपकारका शास्त्रानुसार प्रतिकार करनेवाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्षमें धान्य आदिका ठीक ठीक विनियोग करनेवाला, दीर्घ और दूरदर्शी, अपनी सेनाके युद्धोचित देशकाल, उत्साहशक्ति तथा कार्यको प्रधान रूपसे देखनेवाला, सन्धिके प्रयोगको समझनेवाला, प्रकाश युद्ध आदिमें चतुर, सुपात्रको दान देनेवाला, प्रजाको कष्ट पहुँचाये बिना गुप्त वा अप्रत्यक्ष रूपसे कोषको बढ़ानेवाला, शत्रुमें मृगया, द्यूत, आदि व्यसन देखकर उसपर तीक्ष्ण रस आदिका प्रयोग करनेवाला, टेढ़ी भौंह न करके देखनेवाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप (डाह) और पिशुनतासे रहित, प्रियभाषी, हंसमुख, उदारतापूर्वक बोलनेवाला और वृद्धोंके उपदेश तथा आचार माननेवाला राजा होना चाहिये। ऐसा राजा 'आत्मसम्पन्न' कहाता है। आत्मसम्पन्न, अमात्य, द्रव्य प्रकृति सम्पन्न और नीतिका आश्रयभूत राजा विजिगीषु कहाता है।

आत्मसम्पन्न विजिगीषुके लक्षण

विजिगीषुके राज्यके चारो ओर लगे हुए राज्यके अधिपति 'अरि प्रकृति' कहाते हैं। इसी प्रकार एक एक राज्यके अन्तरपर जो राज्य होते हैं, वे 'मित्र प्रकृति' कहाते हैं। विजिगीषु राजाका अगला पड़ोसी उसका शत्रु और इसका पड़ोसी उसका मित्र होता है। पड़ोसी शत्रुका मित्र शत्रु और इसका पड़ोसी विजिगीषुके मित्रका मित्र और इसका पड़ोसी शत्रुके मित्रका मित्र होता है। फिर विजिगीषुके पिछले भाग (पार्ष्णि rear) में शत्रु पक्षका जो राजा चढ़ाई करने आता है, वह पार्ष्णिग्राह कहाता है। पार्ष्णिग्राहके पीछे विजिगीषुपक्षका जो राजा चढ़ाई करने आता है, वह आक्रन्द कहाता है। पार्ष्णिग्राहका पक्षपाती पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दका आक्रन्दासार कहाता है। विजिगीषु और शत्रुके बीचमें जो

द्वादशराजमण्डलमें मित्र, शत्रु, मध्यम और उदासीन

राजा रहता है और दोनोके मिल जानेपर अनुग्रह और विभिन्नता होनेपर निग्रह करनेमें समर्थ होता है, वह मध्यम कहाता है। शत्रु और विजिगीषुसे परे जो राजा होता है, उसकी संज्ञा उदासीन है।

बलको शक्ति और सुखको सिद्धि कहते हैं। शक्ति तीन प्रकारकी होती है मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति। ज्ञानका बल मंत्रशक्ति, कोश और दण्डका बल प्रभुशक्ति तथा विक्रमका बल उत्साहशक्ति है। इसी प्रकार सिद्धिके भी तीन भेद हैं मंत्रसिद्धि, प्रभुसिद्धि और उत्साहसिद्धि। मंत्र शक्तिसे होनेवाली सिद्धि मंत्रसिद्धि, प्रभु-शक्तिवाली प्रभुसिद्धि और उत्साहशक्तिवाली उत्साह-सिद्धि समझनी चाहिये। यदि विजिगीषु समझे कि शत्रुसे मैं निर्बल हूँ, तो इससे सन्धि करे और बलवान् समझे तो विग्रह करे। पर यदि देखे कि न मैं शत्रुको दबा सकता हूँ और न वही मुझे दबा सकता है, तो आसनका अवलम्बन करे। परन्तु शक्तिहीन हो, तो संश्रयका और यदि किसी कार्यमें सहायताकी अपेक्षा हो, तो द्वैधीभावका प्रयोग करे। जर्मनीने रूससे सन्धि और पोलैंडसे विग्रह करके द्वैधीभाव गुणका अवलम्बन किया है।

शक्ति और सिद्धि तथा गुणका अवलम्बन

सन्धिके चार धर्म हैं अकृतचिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण और अवशीर्ण क्रिया। किसी राजाके साथ पहले पहल प्रयुक्त सामादिके द्वारा सन्धि करना और अपनी शक्तिके अनुसार हीनशक्ति, समशक्ति और अधिकशक्ति राजाओंकी समादिके साथ व्यवस्था करना अकृतचिकीर्षा है। की हुई सन्धिको प्रिय तथा हित आचरणके द्वारा दोनो पक्षोंकी ओरसे बनाये रखना, नियमोंका ऐसे पालन करना कि शत्रु भेद न डाल सके यह कृतश्लेषण क्रिया है। 'इसने राजद्रोहीसे सन्धि की है' इस बहानेसे सन्धिभंगका दोष सिद्ध करके विजिगीषुका पहले की हुई सन्धि तोड़ देना कृतविदूषण क्रिया (denouncement) है। जर्मनीने इङ्गलैण्डसे नौबल सन्धि (naval agreement) की थी तथा पोलैंडके साथ अनाक्रमण सन्धि (non-aggression pact) की थी। पर दोनो कृतविदूषण कर दीं। सोवियट रूसने फिनलैंडसे जो अनाक्रमण सन्धि की थी, वह भी इसने कृतविदूषण कर दी। किसी दोषसे विजिगीषुको छोड़कर गये हुए किसी भृत्य वा मित्रके साथ फिर सन्धिका हो जाना अवशीर्णक्रिया है। संक्षेपमें सामादि द्वारा सन्धि और उसकी व्यवस्था रखना अकृत-

सन्धिके चार धर्म

चिकीर्षा, की हुई सन्धिका प्रामाणिकतासे पालन करना कराना कृतश्लेषण तथा किसी बहानेसे सन्धि तोड़ देना कृतविदूषण और टूटी हुई सन्धिको फिर जोड़ लेना अवशीर्ण क्रिया है।

प्रत्येक गुणका आश्रय हिताहितके विचारसे किया जाता है। सन्धि कर लेनेपर यदि राजा अपने दुर्ग आदि बनाकर शत्रुके दुर्ग आदि कार्योंका नाश कर सके अथवा अपने देशके उद्योग-धंधोंकी उन्नति वा शत्रुके उद्योग-धंधोंका नाश कर सके, तो उसे सन्धि ही करनी चाहिये। वर्तमान समयमें व्यापारकी प्रतियोगिता अथवा युद्धोपयोगी साधनों, यथा रणपोत, वायुयान प्रभृति की चढ़ाऊपरी रोकनेके लिये भी सन्धि की जाती है। गत महासमरके पूर्व जर्मनी और इङ्गलैण्डमें यह सन्धि थी कि जर्मनी अपनी नौसेना अथवा रणपोत न बढ़ावे, परन्तु जर्मनीने अपने मित्र आस्ट्रिया-हङ्गरीको नौसेना बढ़ानेके लिये प्रोत्साहित करके यह सन्धि व्यर्थ कर दी थी। इस युद्धके पहले भी जर्मनीने सन्धि की थी कि वह ब्रिटिश नौसेनाके १०० रणपोत होने पर अपनी नौसेनामें ३५ से अधिक रणपोत न रखेगा, पर इसे कृतविदूषण कर दिया। सन्धिसे दूसरा लाभ यह है कि अपने महाफलशाली कर्मोंकी भांति वह शत्रुके कर्मोंका भी उपभोग कर सकता है। इटलीने जर्मनी और आस्ट्रियासे गत महासमरके पहले सन्धि की थी, परन्तु समरारम्भके कुछ ही दिनों तक उसने उससे लाभ उठाया, अनन्तर शत्रु होकर अपना काम बनाया। सन्धि रहनेसे शत्रु राजा अपने ऊपर सन्देह नहीं कर सकता, इससे गूढ़ पुरुषों और तीक्ष्ण आदि प्रयोगों तथा जलदूषण आदिके द्वारा शत्रुके कार्यों का नाश किया जा सकता है। सन्धिके कारण सुभीतों, कर आदि न लेने तथा अन्य उपकारोंके लोभसे शत्रुके कार्यकुशल पुरुष आकर्पित होते हैं, जिससे शत्रु राज्यके लाभ तो कम होते, पर अपने बढ़ते हैं। अत्यधिक बलवान राजा भी सन्धि इसलिये कर लेता है कि दुर्बल शत्रुको बहुत धनादि देना पड़ेगा जिससे वह और भी दुर्बल हो जायगा तथा क्षीणकोश होनेसे काम न कर सकेगा अथवा जिस द्वैधीभावका आश्रय लेकर वह संधि करता है, उसका विग्रह दूसरे शत्रुसे बहुत कालतक बना रहेगा। सन्धि करनेका एक कारण यह भी होता है कि जिससे सन्धिकी जाती है, वह शत्रुके राष्ट्रको अवश्य पीड़ित करेगा अथवा उसका राष्ट्र दूसरेसे पीड़ित

सन्धि कब करनी चाहिये?

होनेके कारण मेरे ही पास आ जायगा। इसके उपरान्त मैं अपने दुर्ग आदि कर्मोंकी अत्यधिक वृद्धि कर सकूंगा। अथवा दुर्ग आदि कर्मोंके नष्ट होनेसे शत्रु मुझपर आक्रमण न कर सकेगा और दूसरे शत्रुकी सहायतासे यदि वह अपना कार्य आरम्भ कर भी देगा, तो दोनोंके साथ सन्धि होनेसे-मैं अपने कर्मोंकी उन्नति भली भाँति कर सकूंगा। अथवा शत्रुके साथ सन्धि करके उसके मण्डलमें मैं भेद डाल सकूंगा और जब वह मण्डलसे अलग हो जायगा, तब उसे अपने वशमें कर लूँगा। अथवा यदि समझे कि सैनिक सहायता देकर शत्रुको वशमें करके मण्डलमें मिलनेकी उसकी इच्छा मैं व्यर्थ कर दूंगा और उससे द्वेष करा दूंगा और द्वेष हो जानेपर मण्डलसे ही उसे मरवा दूंगा, तो सन्धि कर ले।

यदि विजिगीषु समझे कि मेरे राज्यमें आयुधजीवी क्षत्रिय और कृषिकर्म करनेवाले पुरुष ही विशेष रहते हैं और वन, पर्वत, नदी और दुर्ग अधिक हैं और राज्यसे बाहर जानेका मार्ग एक ही है, इसलिये शत्रुके किये आक्रमणका प्रतिकार मेरा राष्ट्र भली भाँति कर सकता है, तो उसके साथ विग्रह कर दे। अथवा देखे कि राज्यकी सीमाके अति दुर्भेद्य दुर्गका आश्रय लेकर मैं शत्रुके दुर्ग आदि कर्मोंका नाश कर सकूँगा, तो भी विग्रह करे। अथवा यदि जाने कि व्यसन और पीड़ाओंसे हतोत्साह शत्रुके कार्योंका विनाशकाल आ गया है तो भी विग्रह करे। अथवा समझे कि जिस शत्रुसे विग्रह किया है, उसके राष्ट्रको किसी दूसरे मार्गसे पार कर सकूँगा, तो भी विग्रह कर दे।

विग्रह कब करे?

परन्तु यदि विजिगीषुकी समझमें आ जाय कि न तो शत्रु मेरे दुर्ग आदि कर्मोंका नाश कर सकता है और न मैं ही उसके दुर्ग आदि कर्म नष्ट कर सकता हूँ। इस समय इसपर विपत्ति आयी है, इसलिये इस समय समान शक्तिवाले कुत्तों और सुअरोंकी तरह हमारा विग्रह हो जानेपर भी मैं अपने कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ अपनी वृद्धि कर सकूँगा, तो आसनका अवलम्बन करे।

समबलवालोंके लिये आसन ही उत्तम है।

परन्तु यदि विजिगीषु समझे कि शत्रु मेरा तो बाल बांका नहीं कर सकता, क्योंकि मैंने अपने कर्मोंकी रक्षाका सुप्रबन्ध कर दिया है और मेरे यानसे शत्रुके कर्मोंका नाश हो सकता है, तो यानके द्वारा ही उन्नति करे।

पोलैंड और फिनलैंडकी दृष्टिसे लड़ना बुरा था, परन्तु इङ्गलैंड और फ्रांसके लिये अच्छा ही था, क्योंकि इन युद्धोंसे उनके प्रत्यक्ष शत्रु जर्मनी और अप्रत्यक्ष शत्रु रूसकी शक्तिका ह्रास ही हुआ। अवश्य ही पोलैंड यदि डैंजिग और कोराइडर (परिक्रमा) जर्मनीको दे देता, तो युद्ध टल जाता और देशपर विपत्ति न आती। हां, यदि रूसका आश्रय पोलैंड ले सकता, तो कोई हानि न होती; पर इसकी सम्भावना जर्मनीने पहले ही नष्ट कर दी थी। ऐसे समय कौटिल्यका उपदेश है कि उसे शत्रु वा अभियोक्ताकी ही शरण लेनी चाहिये और सेना, भूमि आदि देकर उसके उपकारकी चेष्टा दूरसे ही करनी चाहिये। बलवान्के निकट रहना कभी कभी बंधन और वधका भी कारण होता है। परन्तु बलवान् राजासे शत्रुका विग्रह हुआ हो, तो उससे मिलनेमें कोई आपत्ति नहीं है। फिर यदि बलवान् राजाको बिना उसके पास गये प्रसन्न करना सम्भव न हो, तो उसे अपनी सेना देकर उसके पास रह जाय और जब अवसर पावे, अर्थात् राजा किसी प्राणान्तकारी व्याधिसे पीड़ित हो, उसके पुरोहित, मंत्री आदि कुपित हो गये हों, शत्रु बढ़ गये हों वा मित्र किसी विपत्तिमें फँसा हो और उसकी मुसीबतसे अपना हित समझे, तो किसी धर्मकार्य वा सम्भाव्य व्याधिका बहाना करके अपने देशको चला जाय अथवा वहीं रहकर उसकी निर्बलताओंपर बराबर आघात करता रहे। दो बलवान् राजाओंमें रहकर उसीका आश्रय ले जिसे अपनी रक्षा करनेमें समर्थ समझे। जो अपने समीप हो, उसीका आश्रय ले और यदि दोनों राजा समीप हों, तो जाकर दोनोंसे अलग अलग कहे कि यदि आप मेरी रक्षा न करेंगे, तो दूसरा राजा मेरी जड़ उखाड़ डालेगा। यह कपालसंश्रय कहाता है। इसके बाद दोनोंमें भेद बढ़ाकर गुप्त रीतिसे उन्हें मरवा डालना चाहिये।

यानका समय

जिस राजासे शीघ्र भयकी आशंका हो, उसके समीप रहकर भावी आपत्ति का प्रतिकार करना अथवा दुर्गका आश्रय लेकर द्वैधीभावका अवलम्बन करना चाहिये। दोनों प्रतिस्पर्द्धियोंके दूष्यों, शत्रुओं और आटविकोंको दान, सत्कार आदिसे वशमें कर ले। दोनोंमें किसी एकका सामना करता हुआ जिस विषयमें वह निर्बल हो, उसीमें दूष्य आदि द्वारा प्रहार करावे। यदि दोनों

द्वैधीभावका रहस्य

अपनेको पीड़ा पहुँचावें, तो मण्डलके मध्यम वा उदासीनका आश्रय ले और इनके साथ रहकर सम्भव हो, तो दोनोका उच्छेद कर दे, नहीं तो एक को दानादिसे वशमें कर ले और दूसरेका उच्छेद कर दे। यदि उनमें कोई न्यायशील राजा हो, तो जिसकी अमात्य आदि प्रकृतियां अपने अनुकूल वा प्रीति करने वाली हों, उसीका आश्रय ले। जिसके साथ रहकर अपना उद्धार कर सके, पूर्व पुरुषोंका सम्बन्ध हो अथवा जहाँ बहुतसे शक्तिशाली मित्र हों, उसीका आश्रय ले।

संश्रयके अवलम्बन और द्वैधीभाव के समय

परन्तु यदि विजिगीषुकी समझमें आवे कि न तो मैं शत्रुके कार्योंका नाश कर सकता हूँ और न अपने कार्योंकी रक्षा कर सकता हूँ, तो बलवान्का आश्रय ले अपने कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ क्षयसे स्थान और स्थानसे वृद्धिकी आकांक्षा करे। परन्तु यदि राजा समझे कि एक शत्रुके साथ सन्धि करके अपने दुर्ग आदि कार्योंका निर्माण यथावत् करता रहूँगा, तो द्वैधीभावका अवलम्बन करके उन्नति का सम्पादन करे।

मृदु और तीक्ष्ण उपायोंके एकसे फलमें मृदुका अवलम्बन करे।

इस सम्बन्धमें एक बात बड़े मार्केकी कौटिल्यने बतायी है, जो बुद्धिमत्ता और दूरदर्शितापूर्ण है और वह यह कि जब मृदु उपायसे वही फल होता है, जो तीक्ष्णसे होता हो, तो मृदुका ही अवलम्बन किया जाय। 'जो गुड़ दीन्हे ही मरै ताहि माहुर न दीजिये' यह सिद्धान्त राजनीतिके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उद्देश्य मारना है और वह गुड़ खिलानेसे ही मरता है। इसीसे कहा है कि सन्धि और विग्रहका समान फल हो, तो सन्धिका, आसन और यानका सम फल हो तो आसनका और संश्रय और द्वैधीभावका परिणाम एक ही हो, तो द्वैधीभावका अवलम्बन करे। इसके कारण हैं, क्योंकि विग्रहमें जननाश, धनधान्यनाश, दूसरेके देशमें जाना और शत्रुके द्वारा विष-प्रयोग आदि अनेक कष्टों और अनर्थोंकी सम्भावना रहती है। संश्रयसे दूसरोंके हाथका खिलौना बनना पड़ता है और अपने राजाका उपकार करते करते और उसकी त्योरियां देखते देखते दिन काटने पड़ते हैं।

संश्रयका अवलम्बन करते समय जिस बातका ध्यान रखनेकी बड़ी

आवश्यकता है, वह यह है कि जिसका आश्रय हम लेने जा रहे हैं, वह हमारे शत्रुसे प्रबल है या नहीं। और यदि वह प्रबल न हो, तो शत्रुकी ही शरण लेनी चाहिये; क्योंकि दुर्बल राजाका आश्रय लेनेसे कोई लाभ नहीं होता। यदि संश्रयदाता प्रबल भी हो, परन्तु शत्रुके दमनकी यथोचित व्यवस्था करनेमें असमर्थ हो, तो उसका आश्रय लेकर सर्वनाश करानेकी अपेक्षा शत्रुकी ही बातें मान लेना अधिक श्रेयस्कर है। पोलैण्ड इङ्गलैण्ड और फ्रांसकी सहायताके भरोसे जर्मनीसे झगड़ पड़ा यह मूर्खताका ही काम किया, क्योंकि ये पोलैण्डको किसी प्रकारकी सहायता पहुंचानेमें समर्थ न थे। इसी प्रकार फिनलैण्डकी पीठ ठोंककर रूसके सामने तथोक्त प्रजासत्ताके हिमायतियोंने उसे खड़ा कर दिया। पर उस बिचारेको बुरी तरह मार खाकर रूससे सन्धि करनी ही पड़ी। इससे लैटविया, एस्टोनिया और लिथुआनियाका कार्य बुद्धिमानीका था, जिन्हें मार नहीं खानी पड़ी।

संश्रयके विषयमें विचारणीय बातें

सन्धिके तीन मुख्य भेद हैं एक दण्डोपनत, दूसरा कोशोपनत और तीसरा देशोपनत। सेना और अपनी सेवा शत्रुको अर्पण करनेसे जो सन्धि होती है, वह दण्डोपनत है। इसके भी तीन प्रकार हैं आमिषसन्धि, पुरुषान्तर-सन्धि और अदृष्टपुरुष सन्धि है। जब विजित यथाशक्ति धन और विजेताकी मुँह माँगी सेना स्वयं ले जाकर उसकी सेवा करनेकी प्रतिज्ञा करता है, तब वह आमिषसन्धि कहाती है। परन्तु जब स्वयं न जाकर सेनापति वा कुमारको सेवाके लिये भेजता है, तब पुरुषान्तर सन्धि कहाती है। इसका दूसरा नाम आत्मरक्षणसन्धि है। परन्तु जब सन्धिमें यह प्रतिज्ञा की जाती है कि शत्रुके कार्यकी सिद्धिके लिये मैं दूसरे स्थानमें अकेला ही जाऊँगा वा अपनी सेना भेजूँगा, तब अदृष्टपुरुष सन्धि होती है। पहली दोनो सन्धियोंमें, कौटिल्यका परामर्श है कि, राजा मुख्य राज्य-व्यक्तिओं की कन्याओंसे विवाह करे। तीसरी अदृष्टपुरुष सन्धिमें शत्रुको विष आदि गूढ़ प्रयोगोंसे वशमें करे।

सन्धिके तीन मुख्यभेद और दण्डोपनत सन्धि-के प्रकार

कोशोपनत सन्धिमें शत्रुको धन देना पड़ता है। यह चार प्रकारकी कही गयी है परिक्रयसन्धि, उपग्रहसन्धि, सुवर्णसन्धि और कपालसन्धि। युद्धमें बन्दी मंत्री आदिको छुड़ानेके लिये जिसमें धन (ransom) दिया जाता है

कोशोपनत सन्धि और उसके भेद

वह परिक्रयसन्धि है अर्थात् इस सन्धिमें धनके बदले मंत्री आदि मिलता है । परन्तु जिसमें कई किस्तोंमें युद्धव्ययपूर्त्यर्थ धन (indemnity) दिया जाता है, जैसे वर्साई सन्धिके फलस्वरूप जर्मनीको देना पड़ा था, तो उसे उपग्राहसन्धि कहते हैं । परन्तु यदि इसमें यह शर्त वा पण रहे कि अमुक स्थानमें इतना धन अवश्य दिया जाय, तो यह उपग्राह सन्धि अत्यय सन्धि कहाती है । परन्तु सुखपूर्वक नियत समयमें धनराशि देनेके लिये जो सन्धि होती है, उसका नाम सुवर्ण सन्धि है, क्योंकि तपे हुए सुवर्णके समान यह सन्धि शत्रु और विजिगीषुको आपसमें मिलानेका भी साधन होती है । यह कन्यादानसे भी प्रशस्त है और भविष्यमें अच्छा फल देती है । परन्तु जिस सन्धिमें तुरत सब धन दे देना पड़े, वह कपालसन्धि है । यह सन्धि शास्त्रकार प्रशस्त नहीं मानते । परिक्रय आदि चार सन्धियोंको व्यर्थ करनेके उपाय भी कौटिल्यने बताये हैं । कहा है कि परिक्रय और उपग्राहमें कपड़े, कवच आदि तथा लोहे, तांबेकी असार वस्तुएँ शत्रुको दे दे अथवा शत्रुकी इच्छा होने पर बूढ़े हाथी घोड़े दे दे और उन्हें ऐसा विष खिला दे कि तीन चार महीने में वे मर जायं । इसमें 'मियांकी जूती मियांके सिर' कहावत चरितार्थ नहीं हो सकती । सुवर्ण सन्धिको व्यर्थ करना हो तो कुछ धन देकर कह दे कि आजकल हमारी अवस्था अच्छी नहीं है । और काम बिगड़ गये हैं, इसलिये इतनेसे ही सन्तोष कीजिये । जर्मनीने यही किया था । कपाल-सन्धिमें मध्यम और उदासीनका आश्रय लेकर 'आजकल, आजकल' करता हुआ टालता चला जाय ।

देशोपनत सन्धि और उसके भेद

देशोपनत सन्धिमें राज्यका भाग दिया जाता है । यह सन्धि चार प्रकार की बतायी गयी है । प्रकृतिकी रक्षाके लिये राज्यका कुछ भाग देकर जो सन्धि की जाती है, वह आदिष्ट सन्धि (dictated treaty) कहाती है । जर्मनीके साथ वर्साईमें मित्र राज्यों की जो सन्धि हुई थी, वह आदिष्ट सन्धि ही थी, क्योंकि इसमें जर्मनीको अपने साम्राज्यके बहुतसे अंश और उपनिवेश भी देने पड़े थे और क्षतिपूर्त्यर्थ उससे धन भी लिया गया था और सेना आदिके सम्बन्धके अनेक बन्धन लगाये गये थे । गूढ़ पुरुषों और चारों द्वारा अपघात करानेमें जो समर्थ हो, उस विजिगीषुके लिये यह सन्धि

बड़े कामकी कही गयी है। दुर्ग और नगर छोड़कर असार भूमि शत्रु को देकर जो सन्धि की जाती है, वह उच्छिन्न सन्धि है। भूमिमें उत्पन्न पदार्थ देकर जिस सन्धिमें शत्रुसे भूमि छुड़ायी जाती है, वह अवक्रय-सन्धि है। परन्तु जिसमें उत्पन्न पदार्थोंके अतिरिक्त और भी कुछ दिया जाता है, वह परदूषण-सन्धि कहाती है। पहली दो सन्धियोंमें शत्रुकी विपत्तिकी प्रतीक्षा करनेका उपदेश दिया गया है।

यहां तक सन्धिके जो भेद बताये गये हैं, वे शत्रुके जालसे निकलनेके लिये हैं। अब जो कहे जायँगे, वे पारस्परिक उन्नति वा लाभके लिये ही होंगे।

परिपणित और अपरिपणित सन्धियां

यह सन्धि तीन प्रकारकी होती है परिपणित, अपरिपणित और अपसृत। देश, काल वा कार्यका निर्देश करके जो सन्धि की जाती है, वह परिपणित सन्धि है। जैसे यह कहकर कि 'तुम अमुक देशको ले लो और हम अमुकको ले लें,' जो सन्धि की जाय, वह देश परिपणित सन्धि है। विश्वास है कि जर्मनीने पौलैण्डके विषयमें रूससे ऐसी ही सन्धि करके उसके दो भाग कर लिये हैं। इसी प्रकार यह कहना कि 'अमुक समय तक तुम कार्य करो और अमुक समय तक मैं करूँगा' काल परिपणित सन्धि है तथा 'अमुक कार्य तुम करो और अमुक मैं करूँ' कार्य परिपणित सन्धि है। गत यूरोपियन महासमरमें मित्रोंमें इसी प्रकारकी अनेक सन्धियां हुई थीं, जिनसे उन्होंने यूरोपका नया नक्शा बनाना चाहा था। जो सन्धि देश काल और कार्यकी व्यवस्था न करके केवल यह कहकर ही की जाती है कि 'हम दोनो आपसमें सन्धि करते हैं' सन्धिके बहाने उसपर अपना विश्वास जमाकर तथा उसके दोषोंका पता लगाकर उसपर आक्रमण कर दिया जाता है, तब वह अपरिपणित सन्धि कहाती है।

———

१४ नगर-निर्माण

दुर्ग, पुर वा नगर शब्द प्राचीन कालसे राजधानीके वाचक माने जाते हैं, इसलिये नगरनिर्माणका अर्थ राजधानी बनाना और बसाना है। राज्यमें राजधानीके अतिरिक्त प्रदेशोंके भी नगर रहते हैं, तथापि साधारणतः नगर शब्दसे राजधानीका ही बोध होता है। पांस वा खाद अथवा घूरेके टीलोंसे घिरी हुई बस्ती खेटक वा खेड़ा, छोटे टीलोंसे घिरी हुई बस्ती खर्वट तथा सग्गड़ गाड़ीसे जाने योग्य तथा नावसे उतरने के घाट जहां हों, वह पत्तन और जहां नावसे ही पहुंच हो सके, वह पट्टण कहाता है। द्रोणमुख वे हैं, जिनमें जल और स्थल मार्ग हो। निगम और वनियोंके वे स्थान भी नगर कहाते हैं, जिनमें कर न लगता हो।[1] जिस स्थानको एक बार राजधानी वा नगर बनाते हैं, उसे छोड़कर दूसरे स्थान में भी राजधानी ले जा सकते हैं। इससे पुरानी राजधानीमें केवल राज्यकार्य ही नहीं होता और किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आने पाती, क्योंकि गृहादि ज्योंके त्यों बने ही रहते हैं। परन्तु नयी राजधानी जहां बनायी जाती है, वहां उजाड़ जंगल नगरके रूपमें परिणत हो जाता है।

राजधानी, नगर, पुर, पत्तन, खेट आदि

प्रत्येक राजधानीमें एक दुर्ग हुआ करता था, क्योंकि आसपासके राजाओंसे शत्रुता वा युद्धके समय आत्म-रक्षाके लिये राजा दुर्गका आश्रय

---

१ नगरं राजधानी, पांसुप्राकारनिबद्धखेटकं, क्षुल्लक प्राकारवेष्टितं खर्वटं अर्धगव्यूततृतीयान्तग्रामान्तररहितं मण्टपम्।

पत्तनं शकटैर्गम्यं घाटिकैर्नौभिरेव च।

नौभिरेव तु यद्गम्यं पट्टणं तत्प्रचक्षते॥ इति रायपसेणी सूत्रव्याख्याने पृ० २०६

नगराणि करवर्जितानि निगमवणिजां स्थानानि। जनपदा देशाः पुरवराणि नगरैकदेशभूतानि द्रोणमुखानि जलस्थलपथोपेतानि। खेटकानि धूलीप्राकारोपेतानि। खर्वटानि कुनगराणि। मण्डपानि दूरस्थलसीमान्तराणि। संवाहाः स्थापिन्यः पत्तनानि जलस्थलपथयोरन्यतरयुक्तानि। इति प्रश्न व्याकरणसूत्र व्याख्याने पृ० ३०६

लेता था। दुर्गके आश्रयसे वह शत्रुपर आक्रमण भी करता था। शुक्राचार्य का कहना है कि एक धनुर्धर दुर्गके प्रगाल (बुर्ज) पर खड़ा हो जाय, तो सौ सैनिकोंसे और सौ सैनिक खड़े हो जायं, तो दस हजारसे मोर्चा ले सकते हैं। शूद्रकके दुर्ग मशगकी रक्षा सिकन्दरके आक्रमणके समय ३८ हजार पदातियोंने की थी।-पूर्व ओरसे ढालू किनारोंवाली तेज धार नगरका मार्ग रोके हुई थी, दक्षिण और पश्चिमकी ओर ऊँची चट्टानें थीं, जिनके किनारे चौड़े थे और बीचमें चौड़े झरने बह रहे थे। इसके सिवा बड़ी भारी खाई थी। नगरप्राचीर भी था। मल्लव लोगोंका दुर्ग तो एक बार घायल होनेके बाद ही सिकन्दर ले सका था। भारतके अनेक नगरोंमें आज भी दुर्ग हैं, पर न तो अब उनकी आवश्यकता है और न लाभ ही। कारण कि पड़ोसी राजाओंसे युद्ध नहीं होते। परन्तु प्राचीन कालमें यह बात न थी, इसलिये नगरनिर्माणका भी शास्त्र था। शुक्रनीतिसारके अनुसार राजाको ऐसी समभूमिपर राजधानी बनानी चाहिये, जहां नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ हों, पशु पक्षियोंके गण हों, प्रभूत अन्न और जल हो, काष्ठ और तृणका सुख हो, समुद्रपर्यन्त नाव जा सकती हो और पहाड़ भी पास हो। राजधानीकी भूमि अर्धचन्द्राकार गोल वा चौकोर हो तथा प्राकारों और परिखाओंसे युक्त हो और ग्रामादि भी उसके बीचमें हों।

दुर्ग बनानेके विषय-में शुक्रनीतिसार

परन्तु कौटिल्यने इस विषयका विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। इनका कहना है कि वास्तु विद्याके विद्वान् जिस प्रदेशको श्रेष्ठ बतावें अथवा जो प्रदेश किसी नदीके किनारे वा तालाब किंवा बड़े जलाशय-के किनारे हो, वहाँ भूमिके अनुसार गोलाकार दीर्घाकार वा चौकोर राजधानी बनानी चाहिये। इसके बाद ही वे दुर्गनिर्माणकी व्यवस्था बताते हैं कि भूमिके चारों ओर छोटी-छोटी नहरें होनी चाहिये, जिनमें जल सदा बहता रहे। आस-पास उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंके संग्रह तथा विक्रयका प्रबन्ध हो तथा जहाँ जल स्थल दोनो मार्गोंसे पहुंचनेका सुभीता हो। उसके चारो ओर एक एक दण्ड की दूरीपर तीन खाइयां खुदवायी जायं, जो क्रमशः १४, १२ और १० दण्ड चौड़ी हों और जितनी ये चौड़ी हों, उसी हिसाबसे चौथाई वा आधी इनकी गहराई हो। खाइयोंकी भूमिपर पत्थर जड़े हों और इनके किनारे भी

राजधानी कहाँ बनायी जाय?

पत्थरोंसे दृढ़ कर दिये जायं। कहीं कहीं खाइयाँ इतनी गहरी खोदी जायं कि इन्हींसे पानी निकलने लगे। यदि न निकले, तो किसी नदी आदिसे लाकर जल भर दिया जाय। जलके निकासकी भी व्यवस्था रक्खी जाय और इसमें कमल और मगर भी रहें। फिर इन परिखाओंसे चार दण्ड अर्थात् १६ हाथपर ६ दण्ड ऊँचा सुदृढ़ वप्र वा बुर्ज बनवावे। खाइयोंसे निकली हुई मिट्टीसे ही ये बनाये जायं।

वप्रोंके तीन भेद कहे गये हैं, (१) ऊर्ध्वचय जो नीचे बहुत मोटा और ऊपर पतला हो, (२) मञ्चपृष्ठ, जो ऊपर नीचे एक समान मोटा हो और कुम्भकुक्षिक, जो बीचमें मोटा और ऊपर नीचे पतला हो।

वप्र और प्राकार

इन वप्रोंको गाय बैलों और हाथियोंसे अच्छी तरह खुदाना चाहिये, जिससे मिट्टी बैठकर दृढ़ हो जाय। इसके इधर उधर कांटेदार झाड़ियाँ और विषैली लताएँ लगा देनी चाहिये। फिर भी यदि मिट्टी बच रहे तो उससे वे गड़े भर देने चाहिये जिनसे मकान बनानेको मिट्टी ली गयी हो। इस वप्रपर प्राकार वा दीवार खड़ी करवावे जो चौड़ाईसे दूनी ऊँची हो। यह १२ से लेकर १३ आदि विषम संख्याओंमें वा १४ आदि सम संख्याओंमें २४ हाथ तक ऊँची होनी चाहिये। अथवा प्राकार इतना चौड़ा बनाया जाय कि उसके ऊपरसे एक रथ सहजमें जा सके। ताड़के पेड़की जड़ वा मृदङ्ग अथवा बन्दरकी खोपड़ीके आकारके छोटे बड़े पत्थर, ईंटके चूरे वा बड़ी बड़ी शिलाओंसे बाहरका भाग बनाया गया हो, ऐसा प्राकार वप्रके ऊपर बनाना चाहिये। प्राकार काठका कभी न बनाना चाहिये, क्योंकि आग लगनेका भय रहता है। यह प्राकार ही नगर प्राचीर वा शहरपनाह है।

प्राकारके आगे चारों ओर ऐसे अट्टालक बनाने चाहिये जो प्राकारके विस्तार वा ऊँचाई के समान ही विस्तृत वा ऊँचा हो और जिसमें चढ़ने उतरनेके लिये सीढ़ियां हो।

अट्टालक, प्रतोली और इन्द्रकोश

ये अट्टालक ३०।३० दण्डकी दूरीपर होने चाहिये। यह अट्टालक मीनार (tower) है। दो अट्टालकोंके बीचमें चौड़ाईसे ड्योढ़ी लम्बी दो खंडोसे युक्त 'प्रतोली' बनवावे और प्रतोली और अट्टालकके बीचमें 'इन्द्रकोश' बनवावे। अर्थशास्त्रके टीकाकारने 'प्रतोली' और 'इन्द्रकोश' दोनोका अर्थ 'गृहविशेष' बताया

है। परन्तु विलसनके कोशमें 'प्रतोली' a high street, the principal road through a town or village और 'इन्द्रकोश' a plat-form or a projection of the roof of a house forming a kind of balcony or terrace लिखा है। इस हिसावसे प्रतोली तो सड़क और इन्द्रकोश वरंडा वा छज्जा ठहरता है। दो अट्टालकोंके वीचमें प्रतोली नामकी सड़क और अट्टालक और प्रतोलीके वीचमें इन्द्रकोश होना ठीक ही है। अभिप्राय यह जान पड़ता है कि अट्टालकोंके वीचसे नगरमें जानेका मार्ग रहे और फिर यदि इसका दुरुपयोग कहीं कोई करे, तो अट्टालकसे निकले हुए वरामदेपर वैठे धनुर्धर उसे समझ लें, क्योंकि इसके वाद ही कहा गया है कि इन्द्रकोश-में इतना स्थान हो कि तीन धनुर्धर वैठ सकें। वाहरसे इनपर कोई वार न कर सके, इस लिये इनके सामने तख्ते लगे रहें, पर इन तख्तोंमें छेद हों जिनसे इनके वाण वाहर जा सकें।

देवपथ, प्रधाविति-का और चार्या

प्राकारके साथ साथ एक देवपथ वा गुप्तमार्ग होना चाहिये, जो प्राकारके पास तो आठ हाथ और प्राकार और प्रतोलीके वीचमें दो ही हाथ चौड़ा रहे। एक वा दो दण्डकी दूरीपर प्राकारपर चढ़ने उतरनेके लिये 'चार्या' वा जीना वनाना चाहिये। प्राकारपर ही एक ऐसे स्थानपर जो दिखाई न दे, छिपनेके लिये 'प्रधावितिका' वनानी चाहिये। इस प्रधावितिकामें ऐसे छेद रहने चाहिये, जिनसे भीतर वैठा मनुष्य तो वाहर होनेवाली घटनाएँ देख सके, पर उसे कोई न देखने पावे। इन छेदोंको निष्कुहद्वार कहते हैं। यहां तक तो दुर्गके भीतरकी वनावटका वर्णन हुआ।

दुर्गके वाहरकी व्यवस्था

अव वाहरकी व्यवस्था वताते हैं। नहर और खाइयोंके मार्गकी जो भूमि है, वही शत्रुके आनेका मार्ग है। इनमें जानुभंजनी वा लकड़ीकी घुटनेतोड़ खूँटियां गाड़नी चाहिये। शत्रुके इस मार्गको त्रिशूलोंके ढेरों, अंधेरे गढ़ों, लोहेकी छड़ों तथा तिनकोंसे ढके गढ़ों, लोहेके कांटोंके ढेरों, सांपोंके अस्थिपंजरों, ताड़पत्तेके समान वने लोहजाल, तीन नोकोंवाले लोहेके कांटों, कुत्तेकी दाढ़की नाई लोहेकी तीक्ष्ण कीलों, वड़े वड़े लट्ठों, एक ही पैरके वरावर वनाये कीचड़के गढ़ों, अग्निके गढ़ों तथा दूषित जलके गढ़ोंसे मार्गको पाट

देना चाहिये। अवश्य ही शत्रुके आगमनके समय इन गड्ढोंको खोल देने की भी व्यवस्था होगी, जिसमें उसे बाधा पहुँचे।

भीतर और बाहरकी रक्षाका इस प्रकार प्रबन्ध हो चुकनेपर, अब नगर-द्वार वा फाटक बनानेकी बात कहते हैं। जहां फाटक लगानेका निश्चय हो,

द्वार वा फाटक

वहां प्राकारके नीचे दोनो ओर डेढ़ दण्ड वा ६ हाथ लम्बा और इतना ही चौड़ा चबूतरा बनाकर उसपर प्रतोलीके समान छ खम्भे खड़े कर द्वारका निर्माण किया जाय। द्वारका विस्तार पांचसे आठ दण्ड तक चौकोर होना चाहिये। नीचेके तलसे खम्भोंकी उँचाई १५ से १८ हाथ होनी चाहिये और परिधि वा मुटाई उँचाईका छठा भाग होनी चाहिये। मुटाईका दूना भाग तो गाड़ दिया जाय और चौथाई भाग खम्भेकी ऊपरकी चूलके लिये छोड़ देना चाहिये।

प्रतोलीके साथ हर्म्य भी है। यह कै तल्लोंका होना चाहिये यह स्पष्ट नहीं होता, पर अनेक तल्लोंका ही होगा। हर्म्यके तीन तल्ले बताये गये हैं

शाला, सीमागृह और उत्तमागार

और कहा गया है कि पहले तल्लेके पांच भाग किये जायं, जिनके बीचमें बावली, इधर उधर शालाएं और शालाओंके किनारे सीमागृह रखे जायं। शालाके किनारोंपर आमने सामने दो चौतरे और शाला तथा सीमागृहके बीच एक द्वार होना चाहिये। प्रतोलीके साथ जो हर्म्य बताया गया है, उसकी दूसरी मंजिलकी ऊँचाई पहलीसे आधी होनी चाहिये। उत्तमागार वा सबसे ऊपरके तल्लेकी उँचाई आधा वास्तुक वा डेढ़ दण्ड होनी चाहिये, जब नीचेके द्वारका परिमाण ५ दण्ड हो। न्यूनाधिक होनेसे अन्तर करना चाहिये। द्वारका तृतीयांश परिमाण द्वारके उत्तमागारका होना चाहिये। उत्तमागारके इधर उधरके भाग ईंटोंसे दृढ़ करने चाहिये। उसकी बायीं ओर चढ़ने उतरनेको चक्करदार सीढ़ियां और दाहनी ओर भीतमें गुप्त सीढ़ियां बनानी चाहिये।

तोरणशिर अर्थात् द्वारके ऊपरकी सजावट दो हाथकी करनी चाहिये। तीन वा पांच भागोंके दो किवांड़ वा फाटक होने चाहिये। किवांड़ोंके पीछे

तोरण और द्वार की बनावट

की ओर दो अर्गला वा परिघ होनी चाहिये। किवांड़ बन्द करनेको एक इन्द्रकील (चटखनी) होनी चाहिये। फाटकके बीचमें ५ हाथकी एक खिड़की होनी चाहिये। यह द्वार इतना बड़ा हो कि चार हाथी एक साथ इसमें घुस

सकें। द्वारकी ऊँचाईसे आधी ऊँचाईवाला हाथीके नखके समान, आवश्यकतानुसार उतार चढ़ाववाला द्वारके समान ही आकारवाला दुर्गसे यथावसर घूमने फिरनेका मजबूत लकड़ीका बना हुआ मार्ग होना चाहिये। जलरहित स्थानोंमें वह मिट्टीका भी हो सकता है। ऊँचाई आदिमें प्राकारके समान ही निकलनेका मार्ग बनवाकर उसका तृतीयांश गोहके मुँहके अनुरूप आकारका गोपुर अर्थात् नगरद्वार बनवाना चाहिये।

प्राकारके बीचमें ही बावली बनाकर उसके साथ एक द्वार रखना चाहिये। इसका नाम पुष्करणीद्वार है। इसी प्रकार जिस द्वारके आस पास चार शालाएँ बनायी गयी हों, उसके द्वारमें पहले कहे गोपुर, कुमारीपुर हुए छोटे द्वारसे ड्योढ़ा एक छोटा द्वार लगा होना और मुण्डकद्वार चाहिये। इसका नाम कुमारीपुरद्वार है। जो द्वार दो तला हो, पर उसपर कंगूरे आदि न हों, तो वह मुण्डक द्वार है। इसके सिवा माल लाने ले जानेके लिये नहरें बनानी चाहिये, जो साधारण नहरसे तिहाई अधिक चौड़ी हों। आनेवाले मालमें पत्थर, कुदाल कुठार, बाण, कल्पना (हाथियोंके उपकरण), मुशुण्डी (बन्दूक आदि शस्त्र); मुद्गर, लाठी, डंडे, चक्र, यंत्र, शतघ्नी, लुहारोंका वा लुहारोंका बनाया सामान, तीक्ष्ण नोकवाले भाले आदि, बांस, ऊँटकी गर्दनके आकार के हथियार, आग लगाकर चलाये जानेवाले आयुध तथा कुप्य वा लकड़ी, कन्द, मूल, फल आदि औषधवर्ग तथा जङ्गलकी और वस्तुएँ हैं।

अब नगरके भीतरके रूपका वर्णन करते हैं। तीन राजमार्ग पूर्वसे पश्चिम और तीन ही उत्तरसे दक्खिनको होने चाहिये। रथ्या वा छोटी गली ४ अरत्नि या हाथ चौड़ी बनानी चाहिये। इसके सिवा राजनगरके भीतरकी मार्ग, द्रोणमुख, स्थानीय, राष्ट्र, विवीत, व्यापारी मंडियों,

बनावट

सेना, श्मशान तथा अन्य गांवोंको जानेवाले मार्ग ८ दण्ड चौड़े बनाने चाहिये। परन्तु जंगलों और जलाशयोंको जाने वाला मार्ग ४ ही दण्ड होना चाहिये। पशुओंके आकार प्रकारके अनुसार उनके लिये मार्गकी व्यवस्था है। हाथियों तथा खेतोंमें जानेके लिये २ दण्ड चौड़ा मार्ग होना चाहिये। ५ हाथ चौड़ा रथोंका, ४ हाथ चौड़ा पशुओंका तथा २ हाथ चौड़ा मनुष्यों, भेड़ बकरियों तथा छोटे जानवरोंका होना चाहिये।

वास्तु वा नगरभूमिके मध्यभागसे उत्तरकी ओरके ९ वें भागमें अन्तःपुर बनाना चाहिये जिसका द्वार पूर्व वा पश्चिमकी ओर होना चाहिये।

अन्तःपुर और उसके पास गृहादि

अन्तःपुरके पूर्वोत्तर भागमें आचार्य, पुरोहितके स्थान, यज्ञस्थान, जलाशय और मंत्रियोंके निवासस्थान, पूर्व दक्षिण भागमें राजकीय महानस (पाकशाला), हस्तिशाला और कोष्ठागार बनवाना चाहिये। इसके आगे पूर्वमें गन्धमाल्य, धान्य और रसकी दूकानें, प्रधान कारीगरों और क्षत्रियोंके वासस्थान होने चाहिये। दक्षिण पूर्व भागमें भाण्डागार, अक्षपटल (आयव्ययकी गणनाका मुख्य स्थान) तथा सोने चांदी आदिकी बनी वस्तुएं रखनेका स्थान तथा दक्षिण पश्चिम भागमें कुप्य तथा सोने चांदीको छोड़ सब धातुएँ रखनेका स्थान तथा आयुधागार होना चाहिये। इसके आगे नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यावहारिकाध्यक्ष (व्यापारियोंका निरीक्षक अधिकारी), कार्मान्तिकाध्यक्ष (कारखानों तथा खानोंका निरीक्षक) सेनाध्यक्ष, पकाये अन्नकी दूकानें, मद्य मांसकी दूकानें हों। वेश्या, नट आदि तथा वैश्य दक्षिणकी ओर बसाये जायं।

पश्चिम दक्षिण भागमें गधों और ऊंटोंके तबेले, कर्मगृह (कारखाने) तथा पश्चिमोत्तर भागमें शिविका (पालकी) आदि सवारियों तथा रथादि यानोंके लिये स्थान बनाये जायं। इसके बाद ऊन, सूत, बांस, चमड़े, वर्म और शस्त्रावरणके कारीगरों तथा शूद्रोंको पश्चिम ओर बसावे। उत्तर पश्चिमकी ओर पण्यगृह—बिक्रीवाली वस्तुओंके गोदाम तथा औषधालय और उत्तर पूर्वके भागमें कोश तथा गाय बैलों और घोड़ोंके लिये स्थान बनवाना चाहिये। इसके आगे उत्तर दिशाकी ओर

नगरकी चारों दिशाओंमें चार देवताओंकी स्थापना

नगरके देवस्थान और राजकुलके देवस्थान, लुहारों, मणियारों और ब्राह्मणोंके निवासस्थान होने चाहिये। बीचमें जो जगह छूट गयी हो, उसमें धोबी, दर्जी, तांती आदि तथा विदेशोंसे आनेवाले व्यापारियोंको बसाना चाहिये। अपराजिता (दुर्गा), अप्रतिहत (विष्णु), जयन्त, वैजयन्त (इन्द्र) के शिव, वैश्रवण (वरुण), अश्विनीकुमार, लक्ष्मी और मदिरा इन देवताओंके मन्दिर नगरके मध्यमें बनवाने चाहिये। कोष्ठागारोंके वास्तु देवताकी भी स्थापना करे। नगरकी चारों दिशाओंके चार देवता

ये होते हैं—उत्तरके ब्रह्मा, पूर्वके इन्द्र, दक्षिणके यम और पश्चिमके सेनापति (कार्त्तिकेय)। नगरके चारो ओरकी परिखासे बाहर १०० दण्डकी दूरी पर चैत्य, पुण्यस्थान, जंगल तथा जलाशय बनवाये जायं और वहीं भिन्न भिन्न दिशाओंके देवताओंकी स्थापना की जाय। नगरके पूर्व वा उत्तर श्मशान होना चाहिये। दक्षिणमें शूद्रोंका श्मशान रहना चाहिये।

राजभवन और भूलभुलैया।

कौटिल्यने अन्तःपुर निर्माणके विषयमें जो कुछ लिखा है, उससे जाना जाता है कि उनका अभिप्राय किला दरकिला बनानेका है, क्योंकि 'निशान्त प्रणिधि' प्रकरणमें उन्होंने बताया है कि वास्तु विद्यामें प्रवीण मनुष्य जिस स्थानकी प्रशंसा करे, उसमें प्राकार, द्वार और अनेक कक्षाओं वा ड्योढ़ियोंसे युक्त अन्तःपुर बनाया जाय। इसके बीचमें अपने रहनेके लिये राजभवन बनवावे। इसके चारों ओर ऐसे मकान बनवाये जायं जिनकी दीवारों और रास्तेके सिलसिलेका पता न लगे अर्थात् मोहनगृह हों। मोहनगृहको ही भूलभुलैया कहते हैं। मोहनगृहके बीचमें भूमि खुदवाकर राजा अपना वासगृह बनवावे। यह वासगृह तहखानेके समान रहेगा। इस प्रकारकी भूलभुलैयामें रहनेका कारण शत्रुके आक्रमणसे बचना ही है। इसके द्वारके पास ही दुर्गा आदि किसी देवताकी मूर्त्ति अवश्य होनी चाहिये और उसमें जाने आनेके लिये सुरंग होनी चाहिये। अथवा ऐसा प्रासाद बने जिसकी दीवारोंमें जाने आनेका गुप्त मार्ग अथवा पोले खम्भोंके भीतरसे चढ़ने उतरने और बाहर जानेका मार्ग हो वा ऐसा महल बनावे जो यन्त्रों पर खड़ा रहे, जिसमें इच्छानुसार वह गिराया भी जा सके। ऐसा वासगृह विपत्तिके समय तो अवश्य ही बनवा लेना चाहिये। यदि राजाको सन्देह हो कि मेरे शत्रु राजाने भी ऐसा ही वासगृह बनवाया है, तो अपनी बुद्धि और कल्पनाके अनुसार वह अन्य प्रकार का वासगृह बनवा सकता है।

आग और सर्प आदिके विषसे रक्षाका उपाय

अन्तःपुरमें आग न लग सके इसलिये मनुष्यकी हड्डीमें बांसकी रगड़से उत्पन्न होनेवाली आगसे अन्तःपुरका स्पर्श कराते हुए साथ साथ इस विषय के अथर्व मंत्रोंका उच्चारण करते हुए बायीं ओरसे तीन परिक्रमाएं करा देनी चाहिये। इसी प्रकार बिजली गिरनेसे जले हुए पेड़की राख लेकर उसमें उतनी मिट्टी मिलाकर धतूरेके पानीके साथ गूँधकर यदि दीवारपर उसका लेप

कर दिया जाय, तो भी मकानमें आग नहीं लग सकती। गिलोय वा गुडुच, शंखपुष्पी, काली पांढरी और करौंदेके पेड़पर लगे बन्देकी माला आदिके लगानेसे अन्तःपुरमें सर्प तथा अन्य विषोंका कोई प्रभाव नहीं होता। बिल्लियां, नेवले, हिरन और मोर घरमें रहनेपर सांपको खा जाते हैं। तोता, मैना और बड़ा भौंरा सांपके विषकी आशंकासे चिल्लाने लगते हैं। क्रौंच पक्षीके पास विषके पहुँचते ही वह व्याकुल हो उठता है। जीवञ्जीव विषको देखते ही हर्षरहित खिन्न हो जाता है। कोयल विष देखते ही मर जाती है। चकोरकी आंखें विष देखते ही लाल हो जाती हैं। इन सब उपायों द्वारा आग और विषसे रक्षा करनी चाहिये।

रनिवास और राजा-का वासगृह

राजाके वासगृहके पीछेकी ओरके कक्ष्या विभागमें अन्तःपुर—रनिवास बनाया जाय। उसके पास ही प्रसूता स्त्री, रुग्ण तथा असाध्य रोगियोंके लिये पृथक् पृथक् तीन स्थान बनाये जायं। इनके साथ ही छोटे छोटे उद्यान तथा जलाशय रहें। इससे बाहरको ओर राजकन्याओं तथा बालक कुमारोंके घर रहें।

मंत्रसभागृह, उपस्थान और अध्यक्षों-के कार्यालय

राजाके निवास स्थानके आगेकी ओर पहले सुन्दर घास तथा फलोंसे युक्त उपवन अथवा सुन्दर शोभायुक्त महल होना चाहिये। इसके आगे मंत्रसभागृह (राज्य-कार्य सम्बन्धी मंत्रणा भवन), फिर उपस्थान वा दरबारका स्थान और इसके आगे युवा राजकुमारोंके स्थान तथा अध्यक्षोंके कार्यालय होने चाहिये। कक्ष्याओंके बीच बीचमें कंचुकी (खोजा) तथा अन्तःपुर रक्षक अन्य पुरुषोंका समूह रहे।

कोशगृह

कोशगृह आदि बनानेके विषयमें कौटिल्यका आदेश है कि जहां सीड़ (नमी) न हो और पानी न हो, ऐसे स्थान पर खोदकर भूमिगृह—तहखाना बनाया जाय, चारों ओरसे उसकी दीवारों और नीचेकी जमीनको बड़ी बड़ी शिलाओंसे दृढ़ कराके बीचमें मजबूत लकड़ोंसे एक तितल्ला पिंजरासा बनाया जाय। इसमें अनेक कोठरियां हों, निचले, बिचले तथा ऊपरके तल्लेमें बढ़िया फर्श लगे हों, दरवाजे और सीढ़ियां यंत्रयुक्त हों तथा किवाड़ोंपर देवताओंकी आकृतियां बनी हों। इसके ऊपर दोनों ओरसे बन्द होनेवाला सामने बरामदोंसे युक्त

पक्की ईंटोंसे मजबूत किया हुआ, चारो ओरसे विविध द्रव्योंसे भरे हुए मकानों से घिरा हुआ कोशगृह बनाना चाहिये। जनपदके मध्यमें विपत्तिमें काम आने के लिये वध्य पुरुषों द्वारा ध्रुवनिधि वा स्थायी कोशगृहका निर्माण कराया जाय। वध्य पुरुषोंसे बनवानेका हेतु यह है कि गृह निर्मित हो जानेपर इनका तो वध हो ही जायगा, इसलिये इसका भेद किसीको ज्ञात न होगा।

कोष्ठागार, कुप्यगृह और आयुधागार

कोष्ठागार और पण्यगृह पक्की ईंटोंसे बने चारों ओर चार मकानोंसे युक्त हों। द्वार तो उसमें एक ही हो, पर कोठरियां अनेक हों और तल्ले भी अनेक हों। चारो ओर खुले खम्भोंवाले चबूतरे हों, लम्बी लम्बी अनेक शालाओंसे युक्त चारो ओर कोठरियोंसे घिरी हुई दीवारोंवाला कुप्यगृह भीतरकी ओर बनाया जाय। भूमिगृहयुक्त उस कुप्यगृहको आयुधागार बनावे। धर्मस्थों वा महामात्रों द्वारा दण्ड पाये हुए स्त्री-पुरुषोंके लिये बन्धनागार वा कारागृहमें पृथक् पृथक् स्थान रखा जाय। बाहर निकलनेके मार्ग तथा चारो ओरके स्थानोंकी रक्षा की जाय। इन सब स्थानोंमें शाला, परिखा तथा कुएं की भांति स्नानागार बनाये जायं तथा अग्नि और विषसे पूर्वोक्त उपायों द्वारा इनकी रक्षा की जाय। रक्षकों द्वारा इनकी रक्षा भली भांति करायी जाय तथा देवताओंकी पूजा भी करायी जाय। कोशगृहके देवता कुबेर, कोष्ठागारकी अधिष्ठात्री श्री, कुप्यगृहके देवता विश्वकर्मा, आयुधागारके यम और बन्धनागारके वरुण हैं। कोष्ठागारमें वृष्टि मापनेके लिये एक कुण्ड बनाया जाय, जिसमें वर्षाका जल गिरनेसे वृष्टिकी इयत्ताका पता लगे। इसका मुँह एक अरत्नि वा २४ अंगुल होना चाहिये।

दुर्गमें कौन सामग्री सदा रहे?

रस, सार (चन्दनादि), फल्गु (वस्त्रादि) और कुप्य (लकड़ी, चमड़ा, बांस, छाल), घी, तेल, क्षार, नमक, औषध, सूखे साग, भूसा, सूखा मांस, घास, लकड़ी, कोयला, लोहा, स्नायु (तांत) विष, सींग, सरदारु (अच्छी लकड़ी), हथियार, कवच, पत्थर आदि वस्तुएं दुर्गमें इतनी अधिक मात्रामें रखी जायं कि वर्षों काम आवें। पुरानी हो जायं, तो उनके बदले नयी रखी जायं।

बाहरी लोगों वा परदेशियों को राजा किसी प्रकार नगरमें न बसने दे।

पुर और राष्ट्रके उपघातक होते हैं। यदि इन्हें बसाना ही हो, तो राजा इन्हें सीमाप्रान्तमें बसावे और वहां बसनेवाले अन्य परिवारोंकी भांति इनसे भी कर ले।

बाहरवालोंको सीमान्तमें बसावे

नगरके उत्तर वा पूर्वकी ओर श्मशान होना चाहिये। पापण्डों (कापालिक आदि) तथा चाण्डालोंके स्थान श्मशानके पास ही होने चाहिये।

श्मशान

फल फूलके बाग, कमल आदिके समूह तथा अन्य सागोंकी क्यारियां बनायी जायं और राजा तथा अधिकारी पुरुषोंकी सम्मतिसे अन्य विविध विक्रेय वस्तुएं भी उनमें उपजायी जायं। बीस हलोंसे जोती जानेवाली भूमि सींचनेको एक कुआं होना चाहिये।

बाग बगीचे

शुक्रनीतिसारमें नगर निर्माणके विषयमें जो बातें बतायी गयी हैं वे इतनी अपूर्ण हैं कि उनके वर्णनसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

हिन्दुओंकी सभ्यता और नगरनिर्माणकलाका पता तो इतनेसे ही लग जाता है कि यूनानी लेखकोंके अनुसार सिकन्दरने अकेले पंजाबमें २००० से अधिक नगर जीते थे। इसलिये कौटिल्यके नगर-निर्माणके सिद्धान्तोंसे इतिहासका कोई सम्बन्ध है वा नहीं यह जाननेको पाटलिपुत्र, उज्जयिनी और कान्यकुब्ज इन तीन नगरोंका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं।

हिन्दू सभ्यताके समयके नगर

एरियनके अनुसार 'भारतीय नगरोंकी संख्या इतनी अधिक है कि निश्चय पूर्वक बतायी ही नहीं जा सकती। परन्तु ऐसे नगर नदियोंके किनारे बसे हैं और काठके बने हैं, क्योंकि ईंटोंके बनाये जायं, तो भीपण वर्षामें टिक नहीं सकते। परन्तु जो नगर ऊँचे पर बसे होते हैं, वे ईंटों और मिट्टीके भी बने होते हैं। भारतका सबसे बड़ा नगर प्राच्योंके राज्यमें है और पालिमबोथरा (पाटलिपुत्र) कहाता है। वहां एरन्नबोआज (हिरण्यबाहु) और गंगाका संगम होता है।' मेगस्थनीज पाटलिपुत्रके विषयमें कहता है कि वह दोनों ओर १०।१० मीलतक बसा है और उसकी चौड़ाई दो मील है। उसके चारो ओर ६०० फुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी नहर है और उसके प्राकारपर ५७० अट्टालक हैं तथा उसके ६४ द्वार हैं। फाहियानने जब पाटलिपुत्र देखा था, तब वह ध्वस्त हो चुका था, पर प्राकारके वप्र खड़े थे।

पाटलिपुत्रका ऐश्वर्य

सातवीं ईसवी शताब्दीमें उज्जयिनी नगरी कैसी थी इस विषयमें कादम्बरी-कार वाण भट्टने लिखा है, 'त्रैलोक्यका सबसे जगमगाता रत्न उज्जयिनी नगर है। उसके चारों ओर नरकके समान गहरी खाई है और वह घेरों और प्राकारोंसे घिरा है और पलस्तरसे कैलासकी भांति श्वेत जान पड़ता है। उसके बड़े बड़े बाजार अगस्त्यसे सोखे हुए समुद्रकी भांति दूर लगे हुए हैं, जिनमें वालूकी जगह स्वर्णरज, शङ्ख, सीपके मोती, मूंगे और पुखराज पड़े हुए हैं। चित्रोंसे दूकानें चित्रित हैं और उनमें देवचित्र हैं। उनकी चौमुहानियां मन्दार जैसे मन्दिरोंसे चमक रही हैं, जो मथानीसे उठे हुए दूधके फेनके समान श्वेत हो रही हैं। हरे हरे मैदानोंमें केतकीके पेड़ हैं। वे हरे बागोंसे काले हो रहे हैं, जो बराबर उन कुओंके पुरोंसे सींचे जा रहे हैं, जिनपर बैठनेको ईंटें जड़ी हुई हैं। इनसे शोभा और भी बढ़ गयी है।'

उज्जयिनीका उत्कर्षकाल

चीनी पर्यटक हुएनत्स्यांगने कान्यकुब्जका वर्णन इस प्रकार किया है:—नगरके चारो ओर खाईं है जिसपर सुदृढ़ ऊंचे अट्टालक आमने सामने बने हुए हैं। चारो ओर फूल, जंगल, स्वच्छ जलाशय और चमकते तड़ाग दिखाई देते हैं। यहां चारो ओरसे बहुमूल्य पण्य एकत्र होता है। लोग सुखी और सन्तुष्ट हैं, घर अच्छे बने हुए हैं और सम्पन्न हैं। सर्वत्र फूल और फल दिखाई देते हैं।' हुएनत्स्यांगके समय कनौज नगर ३॥ मील लम्बा और पौन मील चौड़ा था। महमूदके आक्रमणके समय उसका ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया था। उस समय वह अपना सिर आकाशतक ऊंचा किये था और दृढ़ता और बनावटमें अद्वितीय होनेका अभिमान कर सकता था।

कान्यकुब्जकी ईश्वरता

१५ नगरव्यवस्था

नागरिक और उसके अधिकार

नगरमें सुव्यवस्था रखनेके लिये अर्थशास्त्रमें जिस अधिकारी पुरुषकी नियुक्ति आवश्यक बतायी गयी है, उसका नाम कौटिल्यने 'नागरिक' रखा है। इसे वे सब अधिकार प्राप्त होते थे, जो भारतमें लोकल सेल्फ गवर्नमेंटके आरम्भके पहले जिला अफसरोंको प्राप्त थे। नगरके भीतरकी शान्ति, सुव्यवस्था और स्वच्छता रखनेहीका भार इसपर न था, प्रत्युत लोगोंसे कर लेने और नियम विरुद्ध आचरण करनेवालोंको दण्ड देनेका भी इसे अधिकार था।

गोप और स्थानिक

नगरकी सुव्यवस्थाके लिये सबसे पहले नागरिकको उसके विभाग करने चाहिये। नगरका सबसे बड़ा अधिकारी नागरिक और सबसे छोटा गोप होता था। गोप मुहल्ले या वार्डका अधिकारी होता था। ये वार्ड दस, बीस और चालीस कुलोंके होते थे। गोपका कर्त्तव्य था कि अपने अधीन मुहल्लेके स्त्री-पुरुषोंके वर्ण, गोत्र, नाम, कार्यों या पेशोंके साथ साथ उनकी संख्या और आय-व्यय भी जाने। गोपोंके ऊपर स्थानिक वा लोकल आफिसर होता है। इसका अधिकार दुर्गके चौथे भागपर होता है। इसलिये चार स्थानिक होते थे। नागरिकके नीचे स्थानिक और इसके नीचे गोप होते थे।

धर्मशालाओंमें कौन ठहराये जायं ?

नगरमें जो धर्मशालाएं हों, उनके अधिकारी पाषण्डों (बौद्ध, जैन आदि) पथिकोंको गोपकी अनुमतिके बिना न ठहरायें, परन्तु जिन तपस्वियों वा श्रोत्रियोंको वे जानते हों, उनके लिये अनुमति लेनेका प्रयोजन नहीं है। कारुशिल्पी वा कारीगर अपने विश्वस्त यात्रियोंको अपने कर्मस्थान वा कारखानोंमें और व्यापारी अपनी दूकानोंमें ठहरा सकते थे। परन्तु देश कालके विपरीत वस्तु बेंचनेवाले वा परायी वस्तुका व्यवहार करनेवालेके विषयमें सूचना दे दें। मद्य, पकाया मांस तथा अन्न बेंचनेवाले—शराब बेंचनेवाले और होटलवाले और वेश्याएं अपने परिचितोंको ठहरा लें, परन्तु जो बहुत अधिक व्यय करता हो वा बहुत मद्यपान करता हो, उसकी सूचना गोप वा अधिकारीको दे दें।

जो लोग हथियार आदिके घावोंकी चिकित्सा गुप्त रूपसे कराते हों अथवा रोग वा मरी आदि फैलानेवाले द्रव्योंका उपयोग करते हों, उनकी चिकित्सा करनेवाला यदि अधिकारीको सूचना दे देता है, तब तो दण्डनीय कौन है? निर्दोष समझा जाता है। पर यदि नहीं देता, तो चिकित्सक के समान ही दण्डनीय होता है। जिस घरमें ऐसा कार्य होता हो, उसका स्वामी यदि सूचना न दे, तो अपराधीके समान ही दण्ड-भागी होता है। यदि किसी घरका स्वामी अपने यहां आये वा गये हुए मनुष्यके विषयमें सूचना न दे और वह रातको कोई चोरी आदि करे, तो सूचना न देनेके अपराधमें गृहस्वामीसे प्रति रात्रि ३ पण दण्ड लिया जाय।

खोजें

व्यापारी आदिके वेषमें बड़े बड़े मार्गोंमें तथा ग्वाले, लकड़िहारे आदिके वेषमें जंगलोंमें घूमनेवाले चार नगरके भीतर वा बाहरके देवालयों, तीर्थ-स्थानों, जंगलों अथवा श्मशानोंमें यदि हथियार आदिके चार अपराधियोंको घाववाले, निषिद्ध वस्तु पास रखनेवाले, शक्तिसे अधिक भार उठाये हुए, डरे वा घबराये हुए, घोर निद्रामें सोये हुए, लम्बी यात्राके कारण थके हुए मनुष्य वा अजनबीको देखें, तो पकड़ लें। परराष्ट्रके चार ऐसे वेषोंमें स्वराष्ट्रका किसी प्रकारका भेद न लेने पावें, इसीलिये उनको पकड़ा बनानेको कहा है। यही नहीं, नगरके अन्दर, शून्य स्थानों, आवेशनों वा शिल्पशालाओं, शौण्डिकों (सूँड़ियों), औदनिकों (होटलवालों) पक्कमांसिकों, द्यूत (जुआड़खानों) और पाषण्डोंके स्थानोंमें ऐसे लोगोंकी खोज की जाय।

नगरवासियोंके कर्त्तव्य

गर्मीकी ऋतुमें दिनके बीचके चार भागोंमें फूस आदिके घरोंमें कोई आग न जलाने पावे। जो इस निषेधाज्ञाका उल्लंघन करे अर्थात् दूसरे और तीसरे भागमें फूसके मकानोंमें आग जलावे, तो उससे अष्टभाग पण दण्ड लिया जाय। मकानके बाहर आग जलायी जा सकती है। जो कोई ५ घड़ीतक निषिद्ध समय में अग्निकार्य करे, तो वह चतुर्थ पण दण्डका भागी होता है। इसी दण्डका भागी वह मनुष्य भी होता है, जो गर्मीके ऋतुमें अपने घरके द्वारके सामने पानीभरे घड़े, पानीभरी द्रोणी (लकड़ीकी नांद) नसेनी, कुल्हाड़ा, सूप (छाजके सामने फैले हुए धुएंको रोकनेके लिये), भीतरसे कपड़े आदि निकालनेके लिये अंकुश, छप्परका फूस आदि उतारनेको कच-

गृहणी और दृती (मशक) न रखे। कौटिल्यकी इस व्यवस्थासे फायर-ब्रिगेडकी आवश्यकता नहीं रह गयी थी और लोगोंमें निश्चय ही स्वावलम्बन पूर्वक सहयोगकी प्रवृत्ति बढ़ी होगी। फिर भी उनका मत था कि गर्मीमें फूस और चटाईके मकान रखे ही न जायं। अग्निजीवियोंको कौटिल्यने एक ही मुहल्लेमें बसानेकी सम्मतिमें दी है। सुनार, लुहार, इत्यादि एक ही मुहल्लेमें रखनेसे दूसरे मुहल्लोंमें आगका उपद्रव नहीं हो सकता। गृहस्वामियोंको गर्मीमें रातको द्वारपर सोनेका उपदेश दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि कहीं आग लगे, तो सब एक साथ दौड़ पड़ें। गलियोंमें पानीके हजार घड़े रहें। ऐसी ही व्यवस्था चौराहों, नगरके प्रधान द्वार और राजपरिग्रहों अर्थात् कोशगृह, कुप्यगृह, कोष्ठागार, पण्यशाला, गजशाला, अश्वशाला आदिमें भी की जाय। यह तो घरवालों और राजकर्मचारियोंका कर्त्तव्य हुआ। इतनी व्यवस्थाके बाद भी यदि आग लग जाय और उसे देखकर भी जो न बुझावे, तो उसे १२ पण और उस घरमें भाड़ेपर रहनेवाला ऐसी ही उपेक्षा करे, तो उसे ६ पण दण्ड दिया जाय। यदि किसीकी असावधानीसे घरमें आग लग जाय, तो उसपर ५४ पण दण्ड दिया जाय। यदि कोई आग लगाता पकड़ लिया जाय, तो उसे प्राणदण्ड दिया जाय। अन्यत्र ऐसे मनुष्यको आगमें जलानेका आदेश दिया गया है। इसका कारण यह है कि वह राजा-पराधिक (सार्वजनिक शत्रु—public enemy) है। यह व्यवस्था धर्मा-चार्योंको सम्मत है, क्योंकि मनुस्मृतिमें [1] आततायीको बिना विचारे मार डालनेको कहा है।

नगरकी स्वच्छताके नियम

अब नगरकी स्वच्छताके विषयमें कौटिल्यका आदेश है कि जो सड़कपर कूड़ा कर्कट या मिट्टी डाले, उसे अष्टभाग पण और जो गारे कीचड़ या पानीसे सड़क रोके, उसे चौथाई पण दण्ड दिया जाय। परन्तु जो यही अपराध 'राजमार्ग' पर करे, तो उसे इससे दूना दंड दिया जाय। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य राज-मार्ग, पुण्यस्थान, उदकस्थान (नदी, कुएं, बावली वा तालाब), देवगृह वा राजपरिग्रह आदिमें विष्ठा डाले अथवा मलत्याग

---

१ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥३५०॥ अ० ८

करे, उसे उत्तरोत्तर १ पण अधिक दण्ड दिया जाय। अर्थात् राजमार्गपर मलत्याग करनेवालेको १ पण, पुण्यस्थानमें २ पण, उदकस्थानमें ३ पण, देवालयमें ४ पण और राजपरिग्रहमें मल त्यागनेवालेको ५ पण दण्ड होना चाहिये। मूत्रत्यागका दण्ड आधा है। जिसने विरेचनकी औषधि खायी हो, अथवा जो अतिसार, प्रमेह आदिका रोगी हो अथवा भयके कारण ऐसा कार्य करे, तो उसे दण्ड न दिया जाय। बिल्ली, कुत्ते, नेवले और सांपके मर जानेपर कोई इन्हें यदि नगरके बीचमें डाल दे, तो ३ पण, मरे गधे, ऊंट वा खच्चरको डाल दे, तो ६ पण और मृत मनुष्य को डाल दे, तो ५० पण दण्ड दिया जाय।

निश्चित मार्गसे मुर्दा ले जाना

मुर्दे ले जानेके लिये मार्ग और द्वार निश्चित हो जानेपर जो भिन्न मार्ग और भिन्न द्वारसे मुर्दा ले लिया जाय, तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाय और द्वारका जो रक्षक ले जानेवालोंको न रोके, तो उसे २०० पण दण्ड दिया जाय। नियत श्मशान-से अन्यत्र जो मुर्दा गाड़े वा जलावे तो उसे १२ पण दण्ड दिया जाय।

कौटिल्यका कर्फ्यू-आर्डर

चोरों और डाकुओंसे लोगोंकी रक्षाका उपाय भी कौटिल्यने बताया है। कहा है कि रातकी पहली ६ घड़ी अर्थात् दो घंटे ३६ मिनट और अन्तिम ६ घड़ीमें चाहे जो इच्छानुसार चल फिर सकता है। ६ घड़ी समय समाप्त होनेपर बाजेका ऊंचा शब्द किया जाय, जिससे लोग समझ जायं कि अब घूमने फिरने-का निषेध है। पर जब ६ घड़ी रात रहे ऐसा ही ऊंचा शब्द किया जाय, तब समझना चाहिये कि चलने फिरनेका निषेध नहीं रहा। इसे एक प्रकारका करफ्यू आर्डर समझना चाहिये जिसकी सूचना देनेका भार अधिकारियोंपर इस रात्रिघोषणाकी अवहेलना करके निषिद्ध समयके प्रथम भाग और अन्तिम भागमें राजभवनके पाससे जाता हुआ कोई मनुष्य देखा जाय, तो उसे १। पण और जो मध्य घड़ियोंमें आवे जाय, उसे २॥ पण दण्ड दिया जाय। नगरके बाहर चलने फिरनेवालेपर चौगुना दण्ड था। शंकनीय स्थानोंमें जो लोग ऐसे समयमें पाये जायं अथवा जिनके पास ऐसी शंकाके चिह्न दिखाई दें तथा जिनकी चोरी आदिकी बात पहले ही ज्ञात हो चुकी हो, उनसे पूछताछ

कर व्यवस्था की जाय और यदि वे राजपरिग्रहमें चले जायं वा नगरके वप्र आदिपर चढ़ जायं, तो उन्हें मध्यम साहस दण्ड दिया जाय। परन्तु यदि निषिद्ध समयमें भी कोई मनुष्य सूतिकाके लिये चिकित्सक बुलाने, मुर्दा उठाने, प्रदीपयान (लालटेन) लेकर नागरिक तूर्य (नगरके लोगोंको सूचना देनेके लिये बाजा बजाने), प्रेक्षा (राजासे अनुमत तमाशा देखने) अथवा आग लगनेके कारण इधर उधर जाय, अथवा जिसके पास नागरिक-की मुद्रा वा पर्मिट हो, तो वह न पकड़ा जाय।

छद्म वेषवाले पकड़े जायँ

जिन रात्रियोंमें महोत्सवके कारण लोगोंको घूमने फिरनेकी स्वच्छन्दता हो, उनमें भी कोई गुप्त भेसमें अथवा स्त्री पुरुषके वा पुरुष स्त्रीके भेसमें पाया जाय किंवा कोई संन्यासीके भेसमें हाथमें दण्ड अथवा कोई हथियार लिये पाया जाय, तो उसे अपराधके अनुसार दण्ड दिया जाय। जो नगररक्षक न रोकने योग्यको रोके और रोकने योग्यको न रोके, उसे दूना वा २॥ पण दण्ड दिया जाय।

नैतिक अपराधोंके लिये दण्ड

नैतिक अपराधोंके लिये भी कौटिल्यने दण्डकी व्यवस्था की है। जो मनुष्य दूसरेकी दासीके साथ गमन करे, तो उसे प्रथम साहस दण्ड, गणिकाके साथ गमन करे तो मध्यम साहस और भार्यारूपसे स्वीकृत किसीकी दासी वा अदासीके साथ गमन करे, उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाय। पर जो कुलीन स्त्रीके साथ बलात्कार करे, वह प्राणवधका दण्ड पावे।

नागरिक भी दण्डय है।

नागरिकके दण्डकी भी व्यवस्था है। चेतन अचेतन सम्बन्धी रात्रिको किये हुए अपराधका पता पानेपर भी यदि नागरिक व्यवस्था न करे, तो दोषानुरूप उसे दंड दिया जाय। मद्यपान करके नगर रक्षामें प्रमाद करनेका जो दंड हो, वही दिया जाय। नागरिकका कर्त्तव्य है कि सदा उदकस्थान, मार्ग, भूमि छन्नपथ (सुरङ्ग), वप्र, प्राकार, रक्षा आदि स्थानोंकी देखभाल भली भांति करे और खोये, भूले या कहीं छूटे हुए आभूषण, सामान तथा प्राणियोंको तबतक सुरक्षित रखे, जबतक उनके स्वामियोंका ठीक ठीक पता न लगे।

राजाके जन्मदिनके अतिरिक्त बालक, बूढ़े, रुग्ण और अनाथ बंदियोंको शुभ नक्षत्रों और पौर्णमासी पर्वपर छोड़नेका नियम कौटिल्यने बताया है।

बँधुओंको छोड़ने-की व्यवस्था

धर्मपूर्वक आचरण करनेकी प्रतिज्ञा करके (नेकचलनी-का मुचलका देकर) और निष्क्रय देकर भी लोग छूट सकते हैं। निष्क्रय तीन प्रकारका था, काम कराना, शारीरिक दंड देना (बेंत आदि मारकर) और हिरण्य आदि लेना। नया देश जीतने, युवराजके अभिषेक अथवा पुत्र जन्मपर भी बन्दी छोड़नेकी सम्मति कौटिल्यने दी है।

———

परिशिष्ट (अ)

१—भूमिकी मापका मान

शुक्रनीतिसारके अनुसार

अ० १ श्लो० १९६-२०८

बीचकी उंगलीकी बीचकी पोर ८ जौओंका मध्य भाग वा ५ लम्बे जौ	=	१ अंगुल
५ जौ	=	१ अंगुल (मानव)
२४ अंगुल	=	१ प्राजापत्य हस्त
४ हस्त वा ६०० जौ (मानव)	=	१ लघु दण्ड
५ हस्त वा ७६८ जौ (प्राजापत्य)	=	१ दीर्घ दण्ड
३००० अंगुल वा १५००० जौ वा १२५ मानव हस्त	=	१ निवर्त्तन
२४०० अंगुल वा १०० हस्त वा १९२०० जौ	=	१ निवर्त्तन (प्राजापत्य)
२५ दण्ड	=	१ निवर्त्तन भुज
६२५ दण्ड	=	१ निवर्त्तन (वर्ग)
७५००० अंगुल वा ३१२५ हस्त वा ३ लाख जौ	=	१ परिवर्त्तन
६०००० ,, वा २५०० हस्त वा ४८०००० जौ	=	१ परिवर्त्तन (मानव)
४००० हस्त वा ८०० दण्ड	=	३२ निवर्त्तन मानव
२५ दण्ड	=	१ परिवर्त्तन भुज
१०००० हस्त	=	परिवर्त्तन क्षेत्र

अर्थशास्त्रके अनुसार

८ परमाणु	=	१ धूलीकण (रथके पहियेसे उड़ी धूलका कण)
८ धूलीकण	=	१ लिक्षा (लीख)
८ लिक्षा	=	१ यूकामध्य (जुएका बीचका भाग)
८ यूकामध्य	=	१ यवमध्य (जौके बीचका भाग)
८ यवमध्य	=	१ अंगुल
४ अंगुल	=	१ धनुर्ग्रह
२ धनुर्ग्रह	=	१ धनुर्मुष्टि

१॥ धनुर्मुष्टि	=	१ वितस्ति (बित्ता वा बालिश्त)
२ वितस्ति	=	१ अरत्नि (हाथ) प्राजापत्य
४ अरत्नि	=	१ दण्ड, धनु, नालिका वा पौरुष
१० दण्ड	=	१ रज्जु
२ रज्जु	=	१ परिदेश
१॥ परिदेश	=	१ निवर्त्तन
६६$\frac{२}{३}$ निवर्त्तन वा २००० दण्ड	=	१ गोरुत
४ गोरुत	=	१ योजन

(२)

१४ अंगुल	=	१ शम वा शल वा परिरय वा पैर
२८ "	=	१ हाथ (विवीत वा गोचर वा लकड़ीकी तुला नापनेके काम आता है)।
३२ "	=	१ किष्कु वा कंस (छावनी आदिमें लकड़ी चीरनेको)
४२ "	=	१ हाथ (छावनी आदिमें बढ़ईके कामके लिये)
५४ "	=	१ हाथ (कुप्य द्रव्य और जंगल सम्बन्धी कामोंके लिये)
८४ "	=	१ व्याम (रस्सी तथा कुएँ खाई आदि नापनेके लिये)
१०८ "	=	१ गार्हपत्य धनु (सड़क और परकोटा आदि नापनेको)
	=	१ पौरुष (यज्ञ सम्बन्धी कार्योंके लिये)
६ कंस	=	१ दण्ड (ब्राह्मणादिको भूमि देनेके लिये)

शुक्रनीतिसार और अर्थशास्त्र दोनो अंगुलकी मापपर सहमत है, क्योंकि साधारणतः मनुष्यके हाथकी बीचकी उँगलीकी बीचका पोर ८ जौओंके मध्य भागकी मुटाईके बराबर होती है। २४ अंगुलका प्राजापत्य हस्त शुक्रनीतिसारमें बताया गया है। कौटिल्यके हिसाबसे भी २४ अंगुलका हाथ

होता है, क्योंकि २ वित्तेका हाथ अर्थशास्त्रमें बताया गया है। यह ३ धनुर्मुष्टिका होता है और १ धनुर्मुष्टि ८ अंगुलकी कही गयी है। रज्जु कदाचित् जरीव है जिससे खेत आदि मापे जाते हैं। इसका उल्लेख शुक्रनीतिसारमें नहीं मिलता। निवर्त्तनकी माप कौटिल्यके अनुसार १२० हाथ है, पर शुक्रनीतिसारमें प्राजापत्य निवर्त्तन तो १०० हाथका और मानव १२५ हाथका बताया गया है। गोरुत गायके रांभनेको कहते हैं और इस विश्वासपर कि एक कोसतक उसका शब्द सुन पड़ता है, गोरुतका अर्थ कोस हो गया है। ४ कोसका योजन तो प्रसिद्ध ही है। शुक्रनीतिसारमें परिवर्त्तनकी जो माप दी हुई है, उसकी चर्चा अर्थशास्त्रमें नहीं है।

२—कालमान

शुक्रनीतिसारमें कालमान नहीं दिया गया है, इस लिये अर्थशास्त्रके अनुसार यहां दिया जाता है। कौटिल्यने कालके १७ भाग इस प्रकार किये हैं:—तुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नालिका, मुहूर्त्त, पूर्व भाग (पूर्वाह्न), दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर और युग।

पलक मारनेको निमेष कहते हैं। जितनी देर एक बार पलक मारनेमें लगती है, उतनीमें ४ तुट होते हैं। इसलिये कालका सबसे छोटा भाग तुट है।

२ तुट	=	१ लव
२ लव	=	१ निमेष
५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
४० कला	=	१ नालिका
२ नालिका	=	१ मुहूर्त्त
१५ मुहूर्त्त	=	१ दिनरात
१५ दिनरात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ महीना
२ महीने	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ संवत्सर
५ संवत्सर	=	१ युग

सूर्य दिनका साठवां भाग अर्थात् १ घड़ी कम कर देता है, इसलिये ६० दिनमें वा १ ऋतुमें १ दिन अधिक बना देता है। इसलिये वर्षमें ६ दिन और २॥ वर्षमें १५ दिन बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी प्रत्येक ऋतु में एक एक दिन कम करता चलता है, जिससे २॥ वर्षमें १५ दिन कम हो जाते हैं। इस प्रकार सौर और चान्द्र गणनाओंके अनुसार ढाई वर्षमें दोनो में एक महीनेका अन्तर पड़ जाता है। उस समय ढाई वर्षके ३० महीने बाद जो एक महीना बढ़ जाता है, वही मलमास कहाता है।

आजकल घड़ी, पल, विपल आदिसे कालगणना पंचांगोंमें की जाती है। १५ मुहूर्त्त आजकी ६० घटिकाओं वा घड़ियोंके बराबर हैं। २ घड़ियां १ नाड़िकाके बराबर हैं। आजकल जो घड़ी कहाती है, वह २४ मिनिटों के बराबर होती है। ४० कलाएं १२० पलके बराबर हैं अर्थात् १ कला ३० पल वा आध घड़ीके बराबर है। अर्थात्

१ निमेष	=	१२ विपल
६० विपल वा १ काष्ठा	}	१ पल
६० पल	=	१ घटिका
२ घटिका	=	१ नाड़िका
२ नाड़िका	=	१ मुहूर्त्त

३—तोल और मापका मान

सोना तोलनेके लिये

१० दाने उर्दके वा ५ रत्ती	} =	१ सुवर्ण माषक (सोनेका माशा)
१६ सुवर्ण माषक	=	१ सुवर्ण वा कर्ष
४ कर्ष	=	१ पल

चांदी तोलनेके लिये

८८ श्वेत सरसों	=	१ रूप्यमाषक (चांदी-का माशा)

१६ रूप्य मापक वा २० शैम्ब्य (मूलीके बीज)	=	१ धरण

१४ प्रकारके बांट सोना तोलनेमें लगते थे, उनके नाम हैं :—(१) अर्धमापक, (२) मापक, (३) दो मापक, (४) चार मापक, (५) आठ मापक, (६) सुवर्ण, (७) दो सुवर्ण, (८) ४ सुवर्ण, (९) आठ सुवर्ण, (१०) दस सुवर्ण, (११) बीस सुवर्ण, (१२) ३० सुवर्ण, (१३) ४० सुवर्ण और (१४) सौ सुवर्ण।

इसी प्रकार चांदी तोलनेके लिये भी १४ बांट थे :—(१) अर्ध मापक, (२) मापक, (३) दो मापक, (४) चार मापक, (५) आठ मापक, (६) धरण, (७) दो धरण, (८) चार धरण, (९) आठ धरण, (१०) दस धरण, (११) २० धरण, (१२) ३० धरण, (१३) ४० धरण और (१४) सौ धरण। बांट लोहे या मेकल देशके पत्थरके बनाये जायं।

४—रत्नादिकी तोलका मान

(शुक्रनीतिसारके अनुसार)

२० दाने तीसी (अलसी)	=	१ रत्ती
३ रत्ती मोतीकी	=	१ कृष्ण लों
२४ ,,	=	१ टंक रत्नोंका
८ रत्ती	=	१ माशा
१० माशे	=	१ सुवर्ण

हीरा तोलनेके लिये

२० चावल	=	१ वज्रधरण

५—अन्नादिकी तोलका परिमाण

१० धरणिक	=	१ पल
१०० पल	=	१ तुला वा आयमानी
२० तुला	=	१ भार

आयमानी तुलीके सिवा ३ प्रकारकी तुला और हैं, यथा व्यावहारिकी, भाजनी और अन्तःपुरभाजनी। इनमें आयमानीसे व्यवहारिकी ५ पल कम,

भाजनी इससे ५ पल कम और अन्तःपुरभाजनी इससे ५ पल कम होती है अर्थात् व्यावहारिकी ९५ पलकी, भाजनी ९० पलकी और अन्तःपुरभाजनी ८५ पलकी होती है। व्यावहारिकी क्रयविक्रय व्यावहारमें, भाजनी नौकर-चाकरोंको बाँटनेमें तथा अन्तःपुरभाजनी रानियों और कुमारोंको द्रव्य देनेमें काम आती है।

---

२०० पल उर्द = १ आयमान द्रोण वा राजकीय आयका द्रोण
१८७॥ " " = १ व्यावहारिक द्रोण वा क्रय विक्रयका द्रोण
१७५ " " = १ भाजनीय द्रोण वा भृत्योंको द्रव्यादि देनेका द्रोण
१६२॥ " " = १ अन्तःपुर भाजनीय द्रोण (रनिवासमें चलने-वाला द्रोण)

१६ द्रोण = १ खारी
२० द्रोण वा १। खारी = १ कुम्भ
१० कुम्भ = १ वह

गुप्तकाल सन् ४८८ ईस्वीमें

४ प्रस्थ = १ आढक
४ आढक = १ द्रोण
८ द्रोण = १ कुल्य

जितनी भूमिमें एक कुल्य अन्न बोया जाता था, वह कुल्यवाय और जितनीमें एक द्रोण बोया जाता था, वह द्रोणवाय कहाता था। कुल्यको आज भी कहीं कहीं 'कुरा' कहते हैं। पूर्व बंगालमें और पंजाबकी चम्बा रियासतमें द्रोण माप प्रचलित है।

६—तरल पदार्थोंकी मापका मान

८४ कुडुव = १ वारक घी तोलनेका
६४ " = १ " तेल तोलनेका
२१ " = १ घृत घटिका
१६ " = १ तैल घटिका

(शुक्रनीतिसारके अनुसार)

१० गुंजा = १ माष

१० माष =१ कर्ष
१० कर्ष =१ पदार्थ
१० पदार्थ =१ प्रस्थ
५ प्रस्थ =१ आढक
८ आढक=१ अर्मण

७–नाणक वा सिक्के

चांदीके

२ अष्टभाग पण=१ पाद पण
२ पाद पण =१ अर्ध पण
२ अर्ध पण =१ पण

१ पणमें ११ माष चांदी, ४ माष तांबा और १ माष लोहा, सीसा, रांगा या अंजन अथवा antimoney होता था।

तांबेके

२ अष्ट भाग माषक=१ काकणी
१ काकणी =१ पाद माषक
२ पाद माषक =१ अर्ध माषक
२ अर्ध माषक =१ माषक

कार्षापण नामके सोने, चांदी और तांबेके सिक्कोंका उल्लेख स्मृत्यादि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। कहते हैं कि यह कर्षका पर्यायवाचक है।

सोनेके कार्षापणकी तोल १६ माषक वा १७६ ग्रेन थी।

चांदीके कार्षापणका मूल्य कौड़ियोंके १६ पण था।

तांबेके कार्षापणकी तोल भी ८० रत्ती वा १७६ ग्रेन थी।

ये मान अर्थशास्त्रके द्वितीय अधिकरणके १९वें और २०वें अध्यायोंके अनुसार दिये गये हैं।

परिशिष्ट (आ)

*रत्न और उनकी परीक्षा

शुक्रनीतिसारके अनुसार वज्र (हीरा), मोती, मूँगा, इन्द्रनील, वैडूर्य, पुखराज, पाची (पन्ना) और माणिक्य (लाल) ये नौ महारत्न हैं। किस देवताको कौनसा रत्न प्रिय है यह इस प्रकार बताया गया है:—लाल रङ्गका इन्द्रगोप सदृश कान्तिवाला माणिक्य सूर्यको प्रिय है। लाल, पीला, श्वेत और श्याम कान्तिवाला मोती चन्द्रमाको प्यारा है। पीलापन लिये हुए लाल मूँगा मङ्गलको प्रिय है। मोर वा नीलकण्ठके पंखके समान पाची बुधको, सोनेकी झलकवाला पुखराज बृहस्पतिको और तारोंके समान कान्ति-वाला वज्र शुक्रको, तथा जलवाले मेघकीसी कान्तिवाला काला इन्द्रनील शनिश्चरको, कुछ पीला लाल कान्तिवाला गोमेद राहुको तथा बिल्लीके नेत्रोंके समान कान्तिवाला और लकीरोंसे रहित वैडूर्य वा लहसुनिया केतुको प्यारा है। रत्नोंमें वज्र श्रेष्ठतर और गोमेद तथा मूँगा नीच बताये गये हैं। माणिक्य, पाची और मोती श्रेष्ठ हैं तथा इन्द्रनील, पुखराज और वैडूर्य मध्यम हैं। सर्पमणि रत्नोंमें श्रेष्ठ है, पर दुर्लभ है। जिस रत्नके गर्भमें जाल न हो, जो उत्तम वर्ण हो, जिसमें रेखा और विन्दु न हो, कोण अच्छे हों और जिसकी कान्ति भी अच्छी हो और चीनीकी आकृतिका वा कमलदल तुल्य हो, चिकना तथा गोल हो, ऐसा ही रत्न श्रेष्ठ कहा गया है।

कौटिल्यने रत्नोंका विस्तृत वर्णन किया है, और प्रत्येक रत्नके भेद, उत्पत्तिस्थान तथा गुणदोष बताये हैं। पहले मोतीके विषयमें लिखा है कि उसकी उत्पत्तिका सम्बन्ध सीप, शङ्ख और प्रकीर्णकसे है। प्रकीर्णकका अर्थ विविध वा विस्तृत है। सांप, हाथी आदिके मस्तकोंसे जो मोती प्राप्त होते हैं, उन्हें ही प्रकीर्णकमें समझना चाहिये। देशभेदसे मोतीके दस भेद ये हैं:—(१) ताम्रपर्णिक जो पाण्ड्य देशकी ताम्रपर्णी नदीके समुद्रसंगममें उत्पन्न होता है; (२) पाण्ड्यकवाटक, जो मलयकोटि नामक पर्वतपर उत्पन्न होता है; (३) पाशिक्य, जो पाटलिपुत्रकी पाशिका नदीसे निकलता है; (४) कौलेय जो सिंहलद्वीपकी कूला नामकी नदीसे निकलता है; (५) चौर्णेय,

---

*शुक्रनीतिसार अ० ४ और अर्थशास्त्र अधिकरण २ अध्याय ११ के अनुसार।

जो केरलके मुरुचि नामक नगरके समीप चूर्णी नदीसे निकलता है, (६) माहेन्द्र, जो महेन्द्र पर्वतके पास समुद्रसे निकलता है; (७) कार्दमिक, जो ईरानकी कर्दमा नदीसे उपजता है; (८) स्रौतसीय, जो बर्बर देशकी स्रोतसी नदीसे उत्पन्न होता है; (९) ह्रादीय, जो बर्बर देशके पासके समुद्रसे लगी हुई श्रीघंट नामक झीलसे निकलता है और (१०) हैमवत, जो हिमालय पहाड़पर होता है।

मोटा, गोल और झट लुढक जानेवाला, श्वेत, भारी, चिकना तथा ठीक स्थानपर विंधा मोती उत्तम होता है। मसूरके आकारवाला तिखुंटा वा छोटी इलायचीके वा कछुएके आकारवाला, अर्धचन्द्रक (आधे चन्द्रमाके समान), ऊपर मोटे छिलकेवाला, जुड़ा वा कटा हुआ, खरखरा, दागवाला, कमण्डलके आकारवाला, बन्दरके वा नीले रंगवाला तथा बेढंगा विंधा हुआ ये १३ प्रकारके मोती दूषित समझे जाते हैं।

मणियोंके तीन भेद उद्गमस्थानभेदसे कहे गये हैं :—(१) कौट, मलय समुद्रके पास कोटि नामक स्थानमें पैदा होता है, (२) मौलेयक, मलय देशकी कर्णीवन नामक पर्वतमालापर उत्पन्न होनेवाला, (३) पारसमुद्रक, समुद्रपार सिंहल आदि द्वीपोंमें उपजनेवाला। इनके सिवा माणिक्य, वैदूर्य, इन्द्रनील और स्फटिककी गिनती भी मणियोंमें होती है।

माणिक्य पांच प्रकारका होता है :—(१) सौगन्धिक जो इसी नामके सन्ध्याको खिलनेवाले कमलके समान रंगवाला, नीलापन लिये हुआ लाल होता है, (२) पद्मराग, जिसका रंग पद्मके समान होता है, (३) अनवद्यराग, केसरके रंगके समान रंगवाला, (४) पारिजातपुष्पक, पारिजातके फूलके समान रङ्गवाला और (५) बालसूर्यक जो उदय होते हुए सूर्यके समान अरुण रङ्गका होता है।

मणियोंमें दूसरी जाति वैदूर्यकी है। यह आठ प्रकारका होता है, (१) उत्पलवर्ण, लाल कमलके रङ्ग सदृश, (२) शिरीषपुष्पक, सिरीस फूलके रङ्गके समान, (३) उदकवर्ण, जलके रङ्ग जैसा, (४) वंशराग, बांसके पत्तेके रङ्गवाला, (५) शुकपत्रवर्ण, तोतेके पर जैसे हरे रङ्गका, (६) पुष्पराग, हल्दीकेसे पीले रङ्गवाला, (७) गोमूत्रक, गोमूत्रके रङ्गके समान और (८) गोमेदक, गोरोचनके सदृश रङ्गवाला।

मणियोंकी तीसरी जातिमें इन्द्रनील आठ प्रकारका होता है :—(१)

नीलावलीय जिसका सफेद रङ्ग हो और नीली धारियां हों, (२) इन्द्रनील, मोरके पंचकी तरह नीले रङ्गवाला, (३) कलापपुष्पक, मटरके फूलके समान रङ्गवाला, (४) महानील, गहरे काले रङ्गका, (५) जाम्बवान्, जामुनके रङ्गके से रङ्गवाला, (६) जीमूतप्रभ, मेघसदृश वर्णका, (७) नन्दक भीतरसे सफेद, पर बाहरसे नीला और (८) स्रवन्मध्य, जिससे जल प्रवाहके समान किरनें बहती हों।

मणियोंकी चौथी जाति स्फटिकके चार भेद हैं:—(१) शुद्ध स्फटिक, अत्यन्त शुक्ल वर्णका; (२) मूलाटवर्ण, मक्खन निकाले हुए मट्ठेके समान रङ्गवाला, (३) शीतवृष्टि वा चन्द्रकान्त, चन्द्रमाकी किरनोंसे पिघलनेवाला और (४) सूर्यकान्त (radium), सूर्यकी किरनोंसे पिघलनेवाला।

मणि छकोनिया, चौकोनिया, गोल, गहरे रङ्गका, बहुत चमकीला, निर्मल, चिकना, भारी, दीप्तिवाला, बीचमें ही चंचल प्रभाववाला, तथा जो अपनी प्रभासे पासकी वस्तुको प्रकाशित करे और जिसकी बनावट भूषण आदिमें लगाने योग्य हो, ये ११ गुण मणियोंके हैं। जो हल्के रङ्ग, हल्की कान्तिवाला, खरखरा, जिसके ऊपर छोटे छोटे दाने निकले हों, जिसमें छोटे छोटे छेद हों, जो कटा हो, जिसमें बेढंगा छेद हो और जो तरह तरहकी रेखाओंसे युक्त हो, ये सात प्रकारके दोष कहे गये हैं।

मणियोंके ये १८ आवान्तर भेद हैं:—(१) विमलक, (सफेद और हरे रंगोंसे युक्त), (२) सस्यक, (नीला), (३) अंजनमूलक (नीले काले रंग मिले हुए); (४) पित्तक (गायके पित्तेके रंगवाला), (५) सुलमक, (सफेद) (६) लोहिताक्ष (बीचमें काला और किनारोंपर लाल); (७) मृगाश्मक (सफेद और काला रंग मिले) (८) ज्योतीरसक (सफेद और लाल रंग मिले); (९) मैलेयक (शिंगरफ़के समान रंगवाला); (१०) आहिच्छत्रक (फीके रंगवाला); (११) कूर्प (खुरदरा जिसके ऊपर छोटी छोटी बूँदेंसी उठी हों;) (१२) प्रतिकूर्प (दागी, जिसपर धब्बे हों;) (१३) सुगन्धि कूर्प (मूँगके रंगवाला); (१४) क्षीरपरक (दूधके रंगवाला) (१५) शुक्ति-चूर्ण (जिसमें कई रंग मिले हों); (१६) शिला प्रवालक, (मूँगेके समान रंगवाला); (१७) पुलक (बीचमें काला) और (१८) शुक्रदलक (बीचमें सफेद)।

इनके अतिरिक्त सब काच मणि बताये गये हैं। उस समय न तो कलचर

किये हुए मोती थे और न छिन्थिटिक मणि, इसलिये इनके विषयमें कुछ नहीं कहा गया।

वज्र या हीरेके ६ भेद ये हैं:—(१) सभाराष्ट्रक (बरारमें निकलनेवाला) (२) मध्यमराष्ट्रक (महाकोशलमें निकलनेवाला) (३) कास्तीरराष्ट्रक (कास्तीरमें निकलनेवाला), (४) श्रीकटनक (श्रीकटन पर्वतसे निकलनेवाला); (५) मणिमन्तक नाम उत्तरी पर्वतसे निकलनेवाला और (६) इन्द्रवानक, (कलिंग देशमें निकलनेवाला)। खानों और जल प्रवाहके अतिरिक्त जहां कहीं हीरे मिलते हैं, उन्हें प्रकीर्णक या विविधमें समझना चाहिये।

हीरे कई रंगोंके होते हैं; जैसे (१) मार्जाराक्षक (बिल्लीकी आंखके समान) (२) शिरीषपुष्पक (सिरीस फूलके समान); (३) गोमूत्रक (गो मूत्रके रंगका), (४) गोमेदक (गोरोचनके समान); (५) शुद्ध स्फटिक (शुक्र वर्ण स्फटिकके समान); (६) मूलाटी पुष्पक वर्ण (मूलाटीके फूलके समान)। इनके अतिरिक्त मणियोंके जो वर्ण बताये गये हैं, उनमें किसी वर्णका हीरा हो सकता है। मोटा, चिकना, भारी, चोट सहनेवाला, बराबर कोनोंवाला, पानीसे भरे पीतल आदिके बर्तनमें डालकर हिलाये जानेपर उसमें लकीर कर देनेवाला, तकवेकी तरह घूमनेवाला और चमकीला हीरा प्रशस्त होता है। नष्टकोण अर्थात् शिखररहित, अश्रि या तीक्ष्ण कोनेसे रहित तथा एक ओरको अधिक कोनोंवाला हीरा दूषित या अप्रशस्त होता है। प्रवाल या मूँगा दो तरहका होता है। एक आलकन्दक, अलकन्द नामक म्लेच्छ देशमें समुद्रके किनारे उत्पन्न होता है और दूसरा वैवर्णिक यूनान देशके विवर्ण नामक समुद्र भागसे निकलता है। मूंगेका रंग लाल पद्मके समान होता है। यह न तो कीड़े खाया होना चाहिये और न बीचमें मोटा या उठा हुआ।

अर्थशास्त्रमें पुखराज और पाचीको महत्त्व नहीं दिया गया। पुखराज पुष्पराग रूपसे वैडूर्यकी श्रेणीमें चला गया है और पाची तथा गारुत्मतकी चर्चा ही नहीं हुई है। ज्ञात नहीं कि इसे काचमणि समझकर छोड़ दिया या कुछ और कारण है। शुक्रनीतिसारमें स्फटिक मणियोंका उल्लेख नहीं है। शुक्रनीतिसारमें इतना और लिखा है कि मूंगे और मोतीको छोड़ अन्य रत्न पुराने या बूढ़े नहीं होते। इन्हें छोड़ और सब रत्नोंपर लोहे या पत्थरकी लकीर नहीं होती यह रत्नोंके पारखियोंका मत है। उसमें मोतीके उद्गम

स्थानोंमें मछली, सांप, शंख, सुअर, बांस, मेघ और सीपका उल्लेख किया गया है। सिंहल द्वीपवाले कृत्रिम मोती भी बनाते हैं, इसलिये गर्म, नमकीन और तेलयुक्त जलमें रातभर मोतीको डाल रखे और सवेरे धानमें उसे मले। यदि मोतीका रंग मैला न हो, तो उसे अकृत्रिम मोती मानना चाहिये। सांपसे निकलनेवाले मोतीकी कान्ति श्रेष्ठ होती है। गोमेदकको छोड़ सब रत्नोंका मोल तोलके अनुसार होता है।



परिशिष्ट (इ)

सिकन्दरके आक्रमणके समयके कई राजाओं और राज्योंका परिचय

मसग वा मस्सग शब्द संस्कृतके माशक शब्दका अपभ्रंश जान पड़ता है। यूनानियों और मकदूनियोंने इसे मशक, मजग और मसोग लिखा है। स्ट्रैबोने इसे मस्सकनोस राज्यकी राजधानी बताया है। बाबरनामेमें लिखा है कि पंजकोर नदीके पश्चिम स्वात वा सेवद नदीके तटपर माशानगर नामका शहर था। कोर्ट साहबने यूसुफ़ज़ई देशका जो बहुतसा वर्णन संग्रह किया है, उससे जाना जाता है कि बाजोरसे २४ मीलपर मसलाइन और मासानगर नामोंसे एक उजड़े नगरका पता लगता है। पाणिनीय व्याकरणमें माश्कावती नाम आया है। पाणिनि गान्धारवासी थे और अस्सकन राज्य गान्धारके अन्तर्गत था। इससे कहा जाता है कि माश्कावती ही मसग हो गया है।

पोरसका संस्कृत नाम पौरुप वा पौरव था। यह पंजाबका प्रबलतम राजा था। इसने डटकर सिकन्दरसे मोर्चा लिया था और सिकन्दरने जब हराकर इससे पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय, तो इसने निर्भीकतासे उत्तर दिया कि जैसा राजा राजाके साथ करते हैं। इससे प्रसन्न हो सिकन्दरने इसका राज्य और बढ़ा दिया। कहा जाता है कि हिन्दू राज्य और राजा आपसका वैर विरोध त्यागकर यदि पोरसके नेतृत्वमें सिकन्दरसे लड़ते तो यह उन्हें न हरा सकता। सिकन्दरके मरने बाद पोरसने सिन्धपर भी अधिकार जमा लिया था।

अग्रमसको किसी किसीने जाति कहा है, पर मैक्रिंडेलने उसे जन्द्रमस मगधाधिप बताया है। प्रासिआइ वा प्राच्य देशके राजाका नाम अग्रमस तो मूल ग्रन्थमें ही आया है। परन्तु जन्द्रमस चन्द्रगुप्त नहीं है। यह अन्तिम नन्दवंशी है और नन्द्रस बताया गया है। सम्भवतः यह महापद्मनन्द होगा जिसका नाश चन्द्रगुप्तने किया था। इसे धनानन्द वा हिरण्यगुप्त भी कहते हैं।

सिबि राज्य झेलम और सिन्धु नदके बीचमें था। सम्भव है महाभारतका नरपुंगव शैव्य यहींका राजा हो अथवा शिबिके लोग ही पतञ्जलिके शैव्य हों।

मल्ली वा मल्लोई जाति कौटिल्यकी मल्ल जाति थी। यह कहना कठिन है कि पूर्वी अर्थात् कुशीनगर और पावाके मल्लोंसे इसका कोई सम्बन्ध था वा नहीं। पंजाबकी यह मल्ल जाति किसीके मतसे मुलतानमें और किसीके मतसे हड़प्पामें रहती थी।

सब्रकाई जातिको लासेनने सम्बष्टाई बताया है और एरियनने सम्बष्टाईको अबस्तनोई लिखा है। मैक्रिंडेलका मत है कि महाभारतादि ग्रंथोंमें जिस अम्बष्ट जातिका वर्णन है, वह यह सम्बष्टाई ही है। यहां गणतंत्र राज्य था; कोई राजा न था। यह राज्य असिकनी वा चेनाब नदीके निचले भागपर था।

अगलासियन जाति कदाचित् अग्रश्रेणी है। यह झेलम और चेनाब नदियोंके बीचके भूभागपर बसी थी।

अस्सकनोई प्राचीन समयकी अश्वक जाति बतायी जाती है। इसे आजकलकी चित्रालकी अस्पिन और गिलगिटकी अशकुन जाति समझना चाहिये।

गंगारिदाई देश निचले बंगालका भूभाग बताया जाता है और यहांके लोग कलिंग जातीय समझे जाते हैं। इसकी राजधानी पार्थलिस वा वर्दवान थी। यह देश बंगाल ही है और सम्भवतः कलिंगसे लगे रहनेके कारण कलिंग जातीय देश कहा गया है।

प्रासिआई प्राच्य शब्दका ही यवन रूप है। यवन लेखकोंने इसे मगध अर्थमें लिखा है। इसकी राजधानी पालिबोथरा लिखी है जो पाटलिपुत्रका रूपान्तर है।

आन्द्राई आन्ध्र है।

मोदुबाई, मोलिन्दाई और उबेराई ये तीनो अनार्य जातियां जान पड़ती हैं। मोदुबाई ऐतरेय ब्राह्मणकी मौतिबा जाति है। मोलिन्दाई मालदा जाति है जिसका पुराणोंमें वर्णन है। उबेराइ मध्यदेशमें आसामतक फैले हुए भर लोग बताये जाते हैं।

कलिंग और पाण्ड्यका परिचय अनावश्यक है। ये दक्षिणके देश हैं।

देशभक्तिके मंत्र

अथर्ववेदके १२ वें काण्डके पृथिवीसूक्तके इन पांच मंत्रोंकी ओर इस ग्रन्थके पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है :—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ॥
तवेमे पृथिवि पञ्चमानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्तसूर्योरश्मिभिरा-
तनोति ॥१५॥

हे पृथिवि वा मातृभूमि, जो हम लोग तुझसे उत्पन्न हो तेरे ही आधार से अपने सब काम करते हैं, जो तू सम्पूर्ण पशुपक्षियों, मनुष्यों और अन्य प्राणियोंको आधार देकर पालती पोसती है, हमारे जिस जीवनके लिये यह देदीप्यमान् सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारो ओर फैलाता रहता है, वे हम पांच प्रकारके मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा रखते हैं।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ॥
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःखनिवारणके लिये सब प्रकारके कष्ट सहनेको तैयार हूँ। वे कष्ट जिस ओरसे आवें और चाहे जिस समय हों, मुझे चिन्ता नहीं है।

ये ग्रामा यदरण्यः याः सभा अधिभूम्याम् ॥
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेमि ते ॥५६॥

देशमें जहां जहां ग्राम, वन, सभा, संग्राम, समितियां हों, वहां वहां हे मातृभूमि, हम तेरी प्रशंसा करें।

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ॥
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोहतः ॥५८॥

अपने देश वा मातृभूमिके सम्बन्धमें जो कहता हूँ, वह उसका हितकर है, जो देखता हूँ, वह उसकी सहायताके लिये है। प्रकाशमान्, तेजस्वी और बुद्धिमान् होकर मैं मातृभूमिका दोहन करनेवाले शत्रुओंका नाश करता हूँ।

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूम्याम् ॥६३॥

हे मातृभूमि, मुझे बुद्धिमान् कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले, सूक्ष्म विचारवाले तथा दूरदर्शी मनुष्योंको और मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त करा देनेवाली हो।

ॐ तत्सत्



शुद्धिपत्र

अनेक स्थानोंमें 'ठ' के बदले 'ढ' और 'द्ध' के बदले 'द्व' अथवा 'द्व' के बदले 'द्ध' छप गया है। इसी प्रकार २४०-४१ पृष्ठोंपर 'पृतना' के बदले 'प्रत्ना' छपा है। पाठक कृपा कर ये भूलें आप सुधार कर पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१६	इसासे	इसीसे
१२	५	वशिष्ठ	वशिष्ठ
१८	२८	वशिष्ट	वशिष्ठ
२१	१२	अद्ढावय	अष्टावय
३२	२२	पारिव्राजक	परिव्राजक
६०	१०	शसनकी	शासनकी
७४	१७	शुक्रचर्यने	शुक्राचार्यने
८१	६	द्रव्यका	द्रव्यको
८२	३	उत्तरदायित्वका	उत्तरदायित्वको
९१	१३	अवधिके	अवधिके
९३	१३	था	
१०१	१६	बाँटें	बाँटे
११३	३	औ	और
१२३	७	विजिगीषुवाजयकी	विजिगीषु या जयकी
१४३	१३	कृत्युग	कृतयुग
	१४	कृत्युगका	कृतयुगका
१४९	१४	प्रत्युत्त्	प्रत्युत
१५१	१०	"	"
६१	शीर्षक	इन्द्रजय	इन्द्रियजय
९२	४	वज्जियों	वज्जियो
६४	१५	इन्द्रिजय	इन्द्रियजय
९०	१०	हतप्रय	हतप्रभ

११६	२२	उदासीन	उदासीन न
१३८	११	विक्रमादित्यको	विक्रमादित्यको
१४५	५	राज्ञांस	राजसांश
१५५	४	ग्रौर	और
१५८	३	दायकम्	दापकम्
१६८	१८	श्रीकृष्णको	श्रीकृष्णको
१६९	१३	वसाढ़	वसाढ़
१७२	७	युद्धिष्ठिर	युधिष्ठिर
१७३	२	तैत्तिराय	तैत्तिरीय
	९	युद्धिष्ठिर	युधिष्ठिर
१८१	२१	प्रत्युत्	प्रत्युत
१८६	१९	विरूद्ध	विरुद्ध
१९१	१०	विप्टिदाता	विष्टिदाता
१९४	२४	कोटिल्य	कौटिल्य
२०२	१२	काकरों	करोंका
२०८	४	जाय	जायं
२१३	७	custudy	custody
२१५	१२	चुंगी	चोरी
२१७	६	ञ्जायं	जायं
२२७	४	।	,
२३२	२०	पष्ठाङ्ग	षड्ङ्ग
२४२	१५	पुष्यमित्र	पुष्यमित्र
२४५	२	पत्तिय	पत्तिय
२५५	१४	आकरमें	आकारमें
२५९	१९	नाम	काम
२६०	१७	स्पृक्कल	स्पृक्कला
२६४	२७	ये	
२७४	१४	मेजकर	
२७५	२६	उपर	ऊपर
२९७	१	ओर	और

२७९	११	शागिद	शागिर्द
२८३	२२	दोनी	दोनों
३०६	१	पाउड	पौंड
३१३	४	परिवाओंसे	परिखाओंसे
	८	और	और (३)
	२४	ऊंचाई	उंचाई
३१५	१९	,,	,,
३२३	२५	वेश्याए	वेश्याएं
३२५	५	सम्मतिमें	सम्मति
३२६	११	ले लिया जाय	ले जाय
	२४	अधिकारियोंपर	अधिकारियोंपर था।

———

पादटीकाका शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	४	अन्तर्राष्ट्रीय	अन्तरराष्ट्रीय
१०	३	धर्मा	धर्मांऽ
"	४	अनीश्वरे	अनीश्वरो
१६	९	इम	इमं
२०	३	कुटिलचणकात्मजः	कुटिलश्चणकात्मजः
२२	१	लाभयालनोपायाः	लाभपालनोपायः
	४	सुयुक्त्यर्थार्जन...॥९६	सुयुक्त्यार्थार्जनं...॥२९६
	१५	पृथिव्याः पालने लाभे	पृथिव्या लाभे पालने
२४	६	विद्याक्रिया	विधिक्रिया
	१२	५१	११
३१	९		हां, पूर्वे अध्यायमें कहा है।
३६	४	शास्त्रबुद्धया	शास्त्रबुद्ध्या
४२	५	नित्यो	नित्यं
४४	३	च्च	च
	९	प्राज्ञा	प्रज्ञा
४५	८	महद्भूते	महद्भूतं
४६	४	विटिर्नाविचराश्चैव	विटिर्नाविश्चराश्चैव
४७	३	देव्यासुरो	दैव्यासुरी
४९	१०	निर्हत्य	निर्हत्य
५२	८	विचारण	विचारणा
	१६	चासकृत	चासकृत्
	१८	स्ववशौ	स्ववशे
५४	१	पशूनामाधि	पशूनामधि
५५	१	राजनं	राजानं
५६	३	चरैः	चारैः
५७	४	चन्द्रवित्तेशयाश्चापि	चन्द्रवित्तेशयोश्चापि
५८	५	मात्स्यन्यायाभिभूता	मात्स्यन्यायाभिभूताः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६२	३	राज्ञामुपाध्यायाः	राज्ञामुपाध्यायाः
६७	४	यत्तन्याभिधानं	यत्तन्मानाभिधानं
६८	२३	प्रसादे न	प्रसादेन
६९	५	विद्यापदेशेन...वृत्तिः	विद्योपदेशेन...वृत्तिम्
	६	स्वप्नलौल्यमनृतमुद्धतवे-पत्वमनर्थमसंयुक्तं	स्वप्नलौल्यमनृतमुद्धतवेपत्वमनर्थसंयोगं च ॥४॥ अधर्मसंयुक्तमनर्थसंयुक्तं
७०	१	आपत्काले	आपत्काले
७२	५	राष्ट्रजातानां	राष्ट्रजातानां
७४	४	स्वामिनं	स्वामिनं
७६	२	वना	वा
	३	अपाद्यपसार	आपायप्रसारो
७८	२	वह्निर्ज्वलति	वह्निर्ज्वलति
	४	तदप्येकेन दुस्तरम्	तदप्येकेन दुष्करम्
	५	सहायेन किन्तु	सहायेन किन्तु
८०	१	स्नातकान्	स्नातकान्
८१	६	वाजतं	वर्जितं
	९	द्रष्टव्यास्ति	द्रष्टव्यास्ते
	१२	चिन्तयेन्नित्यं	चिन्तयेन्नित्यं
८३	७	पध्यमानस्तु	वध्यमानस्तु
८६	९	यन्त्यस्यामंत्रणामामंत्रणीयो	यन्त्यस्यामंत्रणामामंत्रणीयो
८८	६	सध्रीची ध्रुवाय	सध्राचीध्रुवाय
८९	३	सशमितेश्च	समितेश्च
९५	१	राजा...॥४१॥	राजा...॥२४१॥
	३	॥४९॥	॥२४९॥ अ० १
९६	१२ और १८		अ० १
९८	३	अमुमायुष्मायणमनुष्याः	अमुमायुष्मायणमनुष्याः
१०२	१	प्रत्यक्षमन्यादित्यथ	प्रत्यक्षमप्यादित्यथ
	४	अपरुद्धः	अपरुद्धः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०२	५	तत्त्वपि	तत्त्वयि
	६	प्रतिपीयः...पौसांयनो	प्रातिपीयः......पौंठायनो
१०५	६	धृतव्रताविक्तः	धृतव्रतावाविक्तः
१०७	१२	भैषज्येन।........	भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्च्चसा याभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन
१०८	६	गीवाश्च	ग्रीवाश्च
	१२	प्रतिष्ठाम्यात्मन्	प्रतितिष्ठाम्यात्मन्
११०	६	परामेष्ठ्यं	पारमेष्ठ्यं
	४	आन्तादापारार्द्धात्	आन्तादापरार्द्धात्
	९	भौर्ज्यं	भौज्यं
	११	श्नद्धया	श्रद्धया
१११	१	द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यम्ने भ्राजसासुर्यस्य वर्चसेन्द्रस्य-न्द्रियेया	द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा-सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण
	२	रेष्यगति विद्यून्याहि	रेध्यति विद्यून्याहि
११३	१४	तं	स
११४	८		॥२५॥
११६	७		उद्योगपर्व अ० १४९ श्लो० २५
११९	१	व्यवतिष्टते	व्यवतिष्ठते
	५	राजनमिच्छति	राजानमिच्छति
	९	चक्रिरे	प्रचक्रिरे
१२०	४	मान्धातारिति	मान्धातरिति
	१३	सत्यंच	सत्यस्य
१२१	१	त्रय्या	त्रय्यां
१२२	८	सन्तुष्टपुष्ट	सन्तुष्टः पुष्ट
	१०	अल्येनापि	अल्पेनापि
१२३	५	आस्वेदट्टुपचितान्	आस्वेदुपचितान्
१२५	३	चोरो	चोरो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२५	४		अ० २
	१९	स्पष्टमभ्यावगस्कृतं	स्पष्टमभ्यासागस्कृतं
१२७	३	प्रथमं	प्रथमं श्रेष्ठः
१२८	४	धर्मार्थौ	धर्मार्था
	६	सर्वदा	सर्वशः
१२९	१	पुरोहितमुदित	पुरोहितमुदितोदित
	७	कर्मसुकृते.....	कर्मनु कृते.....
१३०	१	परोत्तमामात्यैः	परोत्तममात्यैः
	४	तन्निष्फलनं	तन्निष्फलं
१३२	३	कर्त्तुं राज्ञः प्रतिनिधः	राज्ञः प्रतिनिधिः
	९	व्यूहाभ्यासशालिनां	व्यूहाभ्यसनशालिनां
१३४	७	भागस्तदा	भागस्ततः
१३५	३	भूपिष्ठाः	भूयिष्ठाः
	४		अधि० १ अ० ११
	६	तानेनैकशः	तानेकैकशः
	७	अवातार्थ	अवातार्थः
१३७	३	मंत्रं	मंत्रः
	७	इङ्गिताकारो	इङ्गितमाकारो
१३८	७	इन्द्रस्य	इन्द्रस्य हि
१४१	२	अ० ३०	अ० २२
१४२	२	महामनः	महामनाः
	८	पौराः	पौरा
	९	...	शां० अ० ५७
१४३	३	दण्डनीत्या	दण्डनीत्यां
	४	कृत्युगं	कृतयुगं
	५	कृत्युगे	कृतयुगे
	६	नाधर्मो	नाधर्मे
	७	योगक्षेमः	योगक्षेमाः
१४४	१	भवन्त्युत	भवन्त्यपि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४४	१०	दण्डोनीत्या यथा	दण्डनीत्यां यदा
	१४	नीतिधर्म	नीत्यर्थ
	२०	प्रवर्त्तत	प्रवर्त्तेत
	२१	वर्माणां	वर्णानां
	२२	ब्राह्मणाः	ब्राह्मणा
	२३	योगक्षेमश्च	योगक्षेमस्य
	२७	...	शां० प० अ० ६९
	२८	दुराराध्यो	दुराराध्यस्
१४५	९	ऽरिपूदनः	ऽरिनिपूदनः
१४६	५	विपरीतस्त	विपरीतस्
	१५	मित्र राष्ट्र	मित्र राष्ट्रो
१४७	१		॥५८॥
	३	सचिवान्नैव	सचिवान्न च
	४	राजा	राज्यं
१४८	८	भवेद्दण्ड्योः	भवेद्दण्ड्यो
१४९	६	भ्रष्यते	भ्रश्यते
	७	द्वेंषी	द्वेषी
१५२	६	भिन्नाप्रकृतिरेव	भिन्नप्रकृतिरेव
	१०	विमज्यमात्यविभवं	विभज्यामात्यविभवं
१५४	३	राजकृत्यकर्त्तुं क्षमे	राजकृत्यं कर्त्तुं क्षमं
	७	स्वस्त्रीयं	स्वस्रीयं
१५६	३	विलिखेत्	लिखेत्
१६३	५	वापुर	वा पुर
१६५	५	अन्योन्य	अन्योन्यं
१७४	५	तदूर्वन्तु	तदूर्ध्वन्तु
	१०	सताद्वीपा	सप्तद्वीपा
१७५	५		अ० १५
१७८	४	स्वराज्यमियाय	स्वराज्यामियाय
	५	परमास्ति	परमस्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८०	१	द्वैराज्यमन्यपक्षेद्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण	द्वैराज्यमन्योन्यपक्ष द्वेषानुरागाभ्यां परस्परसंघर्षेण
	५	क्षेममपात्यवग्रहं	क्षेममपात्यावग्रह
१८१	३		जिगाय समरे वीराघाविनैव: प्रतापवान् ॥१०॥ नमा० अ० ३१
१८३	१	धर्मम्	धर्मम्
१८६	८	p. 6	p. 61
१९४	३	शक्का भृत्यकर्म समुदाय	शक्त्या भृत्यकर्म समुदय
२०१	१४	करैरशास्त्रदर्प्पैर्हि	करैरथास्त्रदर्प्पैर्हि
२०२	५	अस्मापदि	अस्यामापदि
२०६	५	धर्मस्थस्त्रयस्त्रयो	धर्मस्थास्त्रयस्त्रयो
	१०	सविचक्षणाः	सुविचक्षणाः
२०७	३	यस्य मध्यस्थ	यस्यामध्यस्य
	७	५६२	५६३
२१२	३	क्षुत्तृपोपपीड़ितः	क्षुत्तृषोपपीडितः
२४८	४	अ० ७	अ० ६
२५१	५	पात्रचयश्च	पात्रचयैश्च
	८	भर्त्तृपिण्डस्य	भर्त्तृपिण्डस्य
२५३	१	अरति	अरत्नि
२५७	५	पञ्चथा	पञ्चधा
२६८	२	जघान् ॥२३॥ मातु-शय्यान्तगतश्च	जघान ॥२३॥ मातुरशय्यान्तर्गतश्च
	३	देवि	देवी
२६९	१	दग्घेन नुपुरेण	दिग्धेन नुपुरेण
२७८	५	Sinu	Sinn
	६	tion	lion

पुरुषानुक्रमणी

स्थानानुक्रमणी

